परामर्श Vol. 20 - 1999 No. 2-4

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड २०, अंक २
मार्च-एप्रिल-मे १९९९
भारतीय सौर फाल्गुन/चैत्र १९२०/२१
Vol. 2
1999
2-4

संस्थापक संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचन्द्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिंदी)

- पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका (नूतनमालि
(भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

- प्रकाशनार्थ लेखनसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

- **सदस्यता शुल्क :**

आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
एक प्रति का मूल्य		रु. २०/-

- सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जा
(धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)
- आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है ।
- अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महिने के भीतर मिलने प
अंक बचे हों तो, पुनः भेजा जाएगा ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)   खण्ड २० अंक २   मार्च ९९ - मई ९९

अविस्मरणीय राहुलजी वैयक्तिक, निर्वैयक्तिक क्षण	:	पृथ्वीनाथ शास्त्री	१
राहुल सांकृत्यायन की चिंतन दृष्टी	:	सोहन शर्मा	३७
महापण्डित राहुल साकृंत्यायन के उपन्यासों मे निरुपित जीवन दर्शन	:	आदित्य प्रचण्डिया	४३
राहुल के सृजन-चिंतन में "साइंस" या प्रयोगात्मक चिंतन की भूमिका	:	वीरेन्द्र सिंह	५१
राहुलजी के धर्मसंबंधी विचार	:	मनोज सोनकर	६१
भाषा का स्वरूप	:	राजेन्द्र प्रसाद	६५
मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में शांकर-वेदान्त की भूमिका	:	डॉ. निशी सदायत	८५
दर्शन-¯ के परिप्रेक्ष्यमें शरीर : एक वैज्ञानिक विवेचन	:	सुधीशचंद्र मिश्र	९१
ग्रंथ समीक्षा	:	डॉ. इन्दु पाण्डेय सुभाषचंद्र भेलके कलिका कोकाटे	१११
प्रतिक्रिया एवं परिचर्चा	:	डा. सुरेशकुमार थोरात	११९
डा. देवराज – एक श्रद्धाञ्जलि	:	डा. आलोक टण्डन	१२३

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २० अंक ३ जून ९९-ऑगस्ट ९९

राजेन्द्र प्रसाद : भाषा की सार्वजनिकता १

गौरांग चरण नायक : शून्यता दर्शन तथा ब्रह्मवाद : एक पूनर्मूल्यांकन १३

अनंत गणेश जावडेकर : भगवद्गीता में कामोपनिषद २५

शिवनारायण जोशी : बौद्ध तार्किकों के अनुसार प्रत्यक्ष का स्वरूप ३७

ममता भाटी : प्रमुख वैष्णवाचार्यों के दर्शन में भक्ति तत्त्व ४७

दुर्गादत्त पांडे : संत का लक्ष्यार्थ ५९

शोभा निगम : ईसाई धर्म में मुक्ति की अवधारणा ६७

औतार लाल मीणा : डॉ. भीमराव अम्बेडकर के व्यक्तित्त्व में दार्शनिक अभिव्यक्ति ७५

आलोक टण्डन : यशदेव शल्य का संस्कृति चिंतन : वर्तमान भारतीय परिप्रेक्ष्य में ८५

वेदप्रकाश वर्मा, ज. द. मनोहर : प्रतिक्रिया एवं परिचर्चा ९५

वैशाली खांडेकर, कलिका कोकाटे : ग्रंथ-समीक्षा १०३

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजे। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी) खण्ड २० अंक सितम्बर ९९-नवम्बर १९९९

राजेन्द्र प्रसाद	:	सामान्य और कृत्रिम भाषा	३
अनंत गणेश जावडेकर	:	शुद्धिपत्र	१६
डॉ. इन्दु पाण्डेय	:	नैतिक चिन्तन में 'परोपकार' की अवधारणा	१७
डॉ. रमारानी	:	'कोटि-भूल' गिल्बर्ट राइल के विशेष संदर्भ में	२५
डॉ. नीलिमा सिन्हा	:	भाव और निषेध का संबंध	३३
डॉ. कविता शुक्ला	:	वेदान्त दर्शन में जगत् का स्वरूप	४१
डा. राज कुमारी जैन	:	जैन दर्शन में द्रव्य गुण सम्बन्ध	५५
डा. प्रियम्वदा पाण्डेय	:	शक्य सम्बन्ध रूप लक्षण का विवेचन	७१
डा. रुद्र कान्त अमर	:	कला और नैतिकता का संबंध - एक मूल्यांकन	९३
रूपकमल चौधरी	:	बाउल सम्प्रदाय	१०१
डा. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर डॉ. कांचन मांडे	}	ग्रन्थ-समीक्षा	१०७

- पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्राय: ३००० शब्दों से अधिक न हो । लेख की स्वीकृति परीक्षक-संपादकों के निर्णय पर निर्धारित होगी । अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी । पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी ।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है । इस में विशुद्ध चिंतपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों ।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं । यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं ।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा ।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुन: प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें ।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक पौर्णिमा एन्टरप्राईझेस, धनकवडी, पुणे ४११ ०४३ में छपवाकर प्रसिद्ध किया ।

संपादकीय

पिछली बार एक विशेषांक को लेकर हम आपके सामने प्रस्तुत हुए थे । हमने अपनी भूमिका स्पष्ट करते हुए कहा था कि जिन की वैचारिक विरासत की बदलौत हम अभिमान से जी रहें हैं उन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना हमारा परम कर्तव्य है। हमारी संस्कृति को संपन्न बनानेवाले महानुभाव बहुत हैं । उन में से कुछ मनीषियें के प्रति हमें अपनी आदराञ्जलि अर्पित करनी है । इस दृष्टि से, कुछ साल पहले श्रद्धेय प्रो. बारलिंगे जी तथा प्रो. आनंद प्रकाश दीक्षित जी के मन में एक योजना आयी थी कि हमारी पत्रिका का एक अंक महामनीषि राहुल सांकृत्यायनजी पर निकाला जाए । इस दृष्टि से उन्होंने काफी कोशिशें भी की थीं । लेकिन तरह-तरह की कठीनाइयों के कारण उन की यह इच्छा पूरी नहीं हो पायी थी । हमने भी इस दृष्टि से प्रयत्न किये । परिणामत: हमारे पास कुछ लेख प्राप्त हुये जो राहुलजी पर लिखे गये हैं । वास्तव में इन लेखों की संख्या उतनी अधिक नहीं है जिस से यह पूरा अंक उन्हीं लेखों के लिए समर्पित किया जा सके । प्राप्त लेखों को लेकर यह अंक सजा है । इस में एक महत्त्वपूर्ण अपेक्षा है कि हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति सजग, सश्रद्ध तथा सक्रिय हों । परंपरा के विकास तथा समृद्धि से ही व्यक्ति का, समाज का जीवन संपन्न बनता है । इस परंपरा को अखंडरूप से प्रवाहित रखना हमारा आद्य कर्तव्य है । परंपरागत प्राप्त विचारों की धरोहर नयी पीढी तक पहुँचाना और उस धरोहर में हमारी उपलब्धियाँ मिला देना यह हमारा उद्देश्य हो । राहुलजी का जीवन तथा कार्य दोनों ही हमें स्तिमित करा देनेवाले हैं । क्या हम इस से प्रेरणा लेना नहीं चाहेंगे ?

आज लेखनी उठाते समय हमारे हाथ हमें शक्तिहीन प्रतीत हो रहे हैं । जिन चिंतनशील ऋषितुल्य व्यक्तित्वों के आशीर्वाद से हम अपना कार्य करने का संबल जुटा पाये हैं उन में से कुछ व्यक्तित्व हम से जुदा हो रहे हैं । पिछले साल का प्रो. बारलिंगेजी से जुदा होने का सदमा इतनां गहरा था कि उस से निकलने के पूर्व ही हम दूसरे सदमे के घेरे में आ पहुँचे हैं - प्रो. देवराजजी से जुदा होने की दु:खद घटना ।

प्रो. देवराज हिंदी साहित्य-विश्व के उन जगमगाते तारों में थे जिन के जाने से उस जगह अंधेरा छा गया है । दर्शन तथा साहित्य इन दोनों प्रेरणाओं को एक साथ लेकर पिछली अर्धशती से भी अधिक काल तक उन का प्रभाव साहित्य और दर्शन के प्रांगण में छाया रहा । कविता, कहानी, उपन्यास तथा लेख इन विधाओं के माध्यम से उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व हिंदी-साहित्य-जगत् में छाया रहा है । 'अजय की डायरी' तो साहित्यक्षेत्र में एक ऐसा मोड निर्माण करता है जिससे एक नये युग का निर्माण होता है । दर्शन के क्षेत्र में अपनी सहृदयता एवं बुद्धिमानी इन दोनों के मेल से वे सभी दर्शन-अभ्यासकों के प्रिय रह चुके हैं । भारतीय तथा पाश्चिमात्य इन दोनों दर्शनधाराओं के वे माहिर थे । वैचारिक विश्व को नवीनता से सजाने के उन के उत्कट प्रयत्न रहे । नवीन विचारों को वे अपनी तरल संवेदनाओं के आधार पर विकसित करते रहे । मनुष्य को अपनी रचना का केंद्रबिंदु माननेवाले देवराजजी सांस्कृतिक एवं मानववादी विचारधारा के अग्रणी दार्शनीक थे । उन के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए हम कामना करते हैं कि उन की विरासत को हमारी पीढी प्रेम तथा सम्मान से विकसित करे ।

- सुभाषचन्द्र भेलके

*

अविस्मरणीय राहुलजी वैयक्तिक, निर्वैयक्तिक क्षण

त्रिपिटकाचार्य पद्मभूषण महापंडित राहुल सांकृत्यायन की जन्मशती (१९९२) के अवसर पर इतनी विविध सामग्री प्रकाशित हो चुकी है कि शायद यह लेख भी पुनरुक्ति और चर्वित-चर्वण दोषों से अछूता न रहे। पहले भी, राहुल जी रवीन्द्रनाथ ठाकुर (विश्वकवि, गुरुदेव, बेजोड भारतीय आदि, आदि) की तरह निन्दा-स्तुति के विषय बने रहे। मुझे हमेशा यह लगा कि, ये दोनों सिर्फ हिन्दी और बाङ्ला में अद्वितीय स्रष्टा ही नहीं, भारतीय संस्कृति के दो ध्रुव हैं। चिरकाल तक अविस्मरणीय तो हैं ही।

पहले कुछ वैयक्तिक क्षण

राहुल जी का प्रथम दर्शन मुझे १९४७-४८ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के बृहत् भाषण-कक्ष में हुआ। रूस में अपने प्रवास तथा कार्यों के अनुभवों-वर्णनों से परिपूर्ण था यह हिन्दी में अभूत-पूर्व भाषण। प्रश्नोत्तर-वेला में कुछ घृष्ट प्रश्न उनपर गोलियों की तरह दागे गये। पर वे सब सह गये। सस्मित सबके उत्तर देते रहे। तात्कालिक राजपुरुषों पर भी उनका अभिमत पक्ष-विपक्ष-शून्य, विषय-निष्ठ रहा। गुस्सा और तुर्शी एकदम नहीं ! इनमें गान्धीजी, चर्चिल, स्तालिन, रूजवेल्ट सभी शामिल थे।

मैं उनका लिखा जो भी जहाँ मिला, १९६० तक, सब पढता गया। अचानक दुबारा साक्षात् व्यक्तिगत परिचिति का मौका मिला कलकत्ते में। 'विशाल भारत' में छपी, 'दिनकर' जी के सावित्री काव्य और कामाध्यात्मवाद की मेरी आलोचना उन्हें पसन्द आई थी, जब कि, 'दिनकर' जो स्वयं पटना से कलकत्ता आते वक्त रेल के डिब्बे में मिले तो काफी नाराज लगे थे।

तीसरी बार, कलकत्ता में ही राहुल जी के सामने मेरी पेशी हुई तो मैं बहुत सकपका रहा था। वे मेरे द्वारा की गयी 'संपादकीय हिमाकत' की परीक्षा करने में दत्त-चित्त थे; और मैं, उनके सामने बैठा, एक घंटे तक चुपचाप, सहमा-सहमा-सा उनकी डाँट खानेकी प्रतीक्षा कर रहा था। उनके पुरस्कृत ग्रन्थ 'मध्य एसिया का इतिहास' (दो खण्ड, (जिल्दें)) कुछ कम किए (डा. महादेव साहा द्वारा) शेष अंशों का मैंने सार-संक्षेप किया था, अंग्रेजी अनुवाद के लिए। ध्यान रहे कि 'एसिया' (ठीक से बोले गये) नाम में वे तालव्य 'श' लिखने के तीव्रतम विरोधी थे।

उनकी भाषा-रीति या अभिव्यक्ति शैली और तथ्यों की पूर्ण सुरक्षा देखकर वे मेरे काम से बहुत खुश हुए। व्यक्तिगत सारी जानकारी के बाद बोले :-

'आप मेरे साथ सहायक सम्पादक रूप में एक विश्वकोष (नीति और दर्शन-संबंधित) पर कार्य करेंगे?' — मैंने तुरंत 'हाँ' की, और उन्होंने नियुक्ति निश्चिति। बाद में, दिवंगत भदन्त आनन्द कौसल्यायन को लिखे अपने एक पत्र में (४-४-६१) इसका उल्लेख भी उन्होंने किया (देखिए 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', राहुल जन्मशती अंक, ३० अगस्त, १९९२, और 'राहुल परिक्रमा' (१९९४); अखिल भारतीय भोजपुरी परिषद, उ. प्र. लखनऊ; पृ.२१०, पै. ४) ...

अन्तिम बार उनके दर्शन मुझे अस्पताल के एक केबिन में हुए। मुझे देखते ही उनकी आँखें भर आयीं; न वे कुछ बोल सके और न मैं। स्मृति-भ्रंश के कारण वे मुझे तब पहचान भी पाये, या नहीं; कुछ पता नहीं। अशक्तता के उस करुण दृश्य की याद आने पर मैं आज भी अभिभूत हो उठता हूँ। इसके बाद की कुछ और भी अहम बातें प्रेस ट्रस्ट (इंडिया) द्वारा १९९३ में प्रसारित मेरे एक लेख में छपी हैं।...

मुझे बहुत अच्छा लगा है अब यह जानकर कि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली से राहुल जी का समस्त वाङ्मय — प्रकाशित और अप्रकाशित — ११ खण्ड और ५० जिल्दों में सामने आ रहा है। उसकी आठ जिल्दें देखकर सन्तोष हुआ। यदि यह योजना पूरी हो गई तो हिन्दी संसार राहुल जी से कुछ तो उऋण हो ही सकेगा!

अपने एक प्रश्न के उत्तर-स्वरूप राहुल जी का यह कथन मैं कभी नहीं भूल सकता :—

"हमें जो कुछ देना था, दिया और जबतक दे सकेंगे, देते रहना है। अब यह तो नई पीढी का दायित्व है कि उसे यथोचित साज-सँवार कर सँभाले, उससे यथेष्ट काम ले।"

राहुल जी के बारे में जितने अमत, कुमत, विमत और सही या गलत सवाल हैं उन सब का यही एक माकूल जवाब है, जो कितने ही लोगों को लाजवाब करने के लिए पर्याप्त है।

कुछ निर्वैयक्तिक क्षण

यहाँ कुछ निजी विचार राहुल जी के एक ग्रंथ 'दर्शन-दिग्दर्शन' (किताब महल, १९४४; प्रस्तुत संस्करण, १९८४, इलाहाबाद पृ.सं. ८५०/ड. १६-पेजी) पर संयोजित हैं। इसकी भूमिका के पहले पृष्ठ पर ही राहुलजी लिखते हैं: "मानव का अस्तित्व पृथ्वी पर यद्यपि लाखों वर्षों से है किन्तु उसके दिमाग की उड़ान का सब

से भव्य युग ५०००-३००० ई.पू. है जब कि उसने खेती, नहर, सौर पंचांग आदि कितने ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा समाज की कायापालट करनेवाले आविष्कार किए।

"इस तरह की मानव-मस्तिष्क की तीव्रता हम फिर १७६० ई. के बाद से पाते हैं, जब कि आधुनिक आविष्कारों का सिलसिला शुरू होता है। किन्तु दर्शन का अस्तित्व तो पहले युग में था ही नहीं, और दूसरे युग में वह एक बूढा बुजुर्ग है, जो अपने दिन बिता चुका है ; बूढा होने से उसकी इज्जत की जाती जरूर है किन्तु उसकी बात की ओर लोगों का ध्यान तभी खिंचता है, जब कि वह प्रयोग- आश्रित चिंतन-साइन्स — का पल्ला पकडता है। यद्यपि इस बात को सर राधाकृष्णन जैसे पुराने ढर्रे के "धर्म प्रचारक" मानने के लिए तैयार नहीं हैं, उनका कहना है :—

'प्राचीन भारत में 'दर्शन किसा' भी दूसरी साइन्स या कला का लग्गू-भग्गू न हो, सदा एक स्वतंत्र स्थान रखता रहा है। — (Hist. of Ind. philo. Vol. I P.22)

"भारतीय दर्शन साईन्स या कला का लग्गू-भग्गू न रहा हो किन्तु धर्म का लग्गू-भग्गू तो वह सदा से चला आता है और धर्म की गुलामी से बढतर गुलामी और क्या हो सकती है ?" (पृ. I)

यह उद्धरण तो लम्बा है पर यहाँ आवश्यक है — राहुल जी की इस मोटी किताब की ठीक-ठीक वकत झाँकने में। और भी ऐसे कई उद्धरण जरूरी हैं। जैसे:—

" ३०००-२५०० ई.पू. मानव - जाति के उत्कर्ष नहीं अपकर्ष का समय है; इन सदियों में मानव ने बहुत कम नए आविष्कार किए। पहिले की दो सहस्राब्दियों के कडे मानसिक श्रम के बाद १०००-७०० ई.पू. में, जान पडता है, मानव-मस्तिष्क पूर्ण विश्राम लेना चाहता था और इसी स्वप्नावस्था की उपज 'दर्शन' है ; और इस तरह का प्रारंभ निश्चय ही हमारे दिल में उसकी इज्जत को बढाता नहीं घटाता है।" (पृ. II) यहाँ इसकी आखिरी दो सतरें सचमुच चिन्त्य हैं।

राहुल जी दर्शन का सुवर्णयुग १०० ई.पू. से बाद की तीन-चार शताब्दियों को मानते हैं ; कारण, उनकी राय में, तभी बुद्ध, उपनिषद, थेलस, अरस्तू के दर्शन सामने आये। इसीलिए वे कहते हैं कि, ये "दोनों दर्शन-धाराएँ आपस में मिलकर विश्व की सारी दर्शन - धाराओं का उद्गम बनती हैं —" और इसका प्रतिनिधित्व वे 'नव अफलातूनी' दर्शन की प्रगति में बतलाते हैं। (वही, पृ. II)।

राहुल जी का विश्वास है कि, "इस समय का शक्तिशाली दर्शन अलग-अलग नहीं बल्कि एक बहुमुखीन प्रगति की उपज है।" और यह भी कि, "सभी देशों में इस प्रगति के, एक साथ होने का कोई नियम नहीं है।" इसीलिए, "दर्शन-क्षेत्र में

यूनानी ६००-३०० ई.पू. तक आगे बढते रहते हैं किन्तु हिन्दू ४०० ई.पू. के आसपास थक कर बैठ जाते हैं। युरोपीय दर्शनों में, "३०० ई.पू. में ही अँधेरा छा जाता है ; और, १६०० ई. में, १९ शताब्दियों के बाद नया प्रकाश (पुनर्जागरण) आने लगता है ; यद्यपि इसमें शक नहीं कि इस लंबे काल की तीन शताब्दियों — ९०० - १२०० ई. — में दर्शन की मशाल बुझती नहीं, बल्कि इस्लामिक दार्शनिकों के हाथ में वह बडे जोर से जलती रहती है ; और पीछे उसीसे आधुनिक यूरोप अपने दर्शन प्रदीप को जलाने में सफल होता है।" (वही, II, III)। क्या यही पूरी सचाई है ?

राहुल जी का अपना ख़याल है कि ४०० ई.पू. के बाद चार सौ वर्ष तक भारत में दार्शनिक चिन्तन कुम्भकर्णी नींद में सोया रहा लेकिन १०० से ६०० ई. तक वह जगा रहा और उसने ३०० से ६०० तक कमाल की उछल-कूद, भागदौड भी दिखाई। पश्चिम में उस वक्त दर्शन की हालत बिगडी रही। नवीं से बारहवीं तक भारतीय दर्शन इस्लामिक दर्शन का समकालिन ही नहीं समकक्ष रहा ; और — " उसके बाद वह ऐसी चिर समाधि लेता है, कि आज तक भी उसकी समाधि खुली नहीं है। इस्लामिक दर्शन के बाद यूरोपीय दर्शन की भी यही हालत हुई होती, यदि उसने सोलहवीं सदी में धर्म से अपने को मुक्त न किया होता।" (वही, III)

इसी तरह राहुल जी की स्पष्टत: विषयिगत (माने, नितांत अपनी) कुछ धारणाएँ ये हैं कि, दर्शन में धर्म-पोषकता नहीं आनी या रहनी चाहिए। भारत में दर्शन की सेहत इसीलिए बिगडी और यूरोप में सुधर गई तो उस का कारण था वहाँ "स्कॉलास्तिक" (scholastic) दार्शनिकता का खात्मा। वे साफ साफ लिखते हैं: "....भारत में एक के बाद एक स्कोलास्तिक दाकतर पैदा होते रहे हैं, और दर्शन की इस दासता को वह गर्व की बात समझते हैं। यह उनकी समझ में नहीं आता, कि साइंस और कला का सहयोगी बनने का मतलब है, जीवित प्रकृति—प्रयोग—का जबरदस्त आश्रय ग्रहण कर अपनी सृजनशक्ति को बढाना; जो दर्शन उससे आजादी चाहता है, वह बुद्धी, जीवन और खुद आजादि से भी आजादी चाहता है।" (वही, III)

राहुल जी का यह वैयक्तिक अभिमत है, कि समस्त दार्शनिक विचार-धारा "राष्ट्रीय की अपेक्षा आन्तर्राष्ट्रीय ज्यादा है।" — धर्म ज्यादातर राष्ट्रीय रहे हैं। उनका आर्थिक प्रश्नों से भी लगाव बना रहता है। दर्शन में एक देश (राष्ट्र) दूसरे देशों (राष्ट्रों) के विचारों को भी आत्मसात करता रहता है, जैसे कि परस्पर आर्थिक संबंध भी बढाता रहता है। धर्मों की तरह वह (दर्शन) एक राष्ट्र के स्वार्थ को दूसरों के शोषण से नहीं साधता जैसे कि साइंस में भी नहीं होता। (वही, iv) । यह सच

नहीं साइंस और तकनीकें लगातार इसी तरह शोषण के लिए काम आती हैं, आ रही हैं– आजतक ।...

राहुल जी की पक्की राय है कि दर्शन का परिप्रेक्ष्य ऐतिहासिक होना चाहिए । उसे ''विस्तृत भूगोल के मान चित्र पर एक पीढी के बाद दूसरी पीढी को सामने रखते हुए'' देखना चाहिए । ''दर्शन को समझने का यही ठीक तरीका है ।'' उन्हें यह अफसोस था कि ''अभी तक किसी भाषा में दर्शन को इस तरह अध्ययन करने का प्रयत्न नहीं किया गया है । – लेकिन इस तरीके की अपेक्षा ज्यादा समय तक नहीं की जा सकेगी, यह निश्चित है ।'' (वही iv)

वे यही चाहते थे, ''कि हिन्दी में दर्शन पर ऐसी पुस्तकें निकलने लगें, ''दर्शन-दिग्दर्शन'' को कोई याद भी न करे ।''—विद्वान होने के नाते वे सचमुच इतने विनयी भी थे कि, यह निःसंकोच लिख सके : ''प्रत्येक ग्रन्थकार को मैं समझता हूँ अपने ग्रंथ के प्रति यही भाव रखना चाहिए ।– अमरता ? बहुत भारी भ्रम के सिवा और कुछ नहीं है ।''

राहुल जी के अपने ''दर्शन-दिग्दर्शन'' ग्रंथ की यह भूमिका, जो यहाँ अंशतः ऊपर दी गयी है, उनके अपने दृष्टिकोण को स्पष्टतया दरसाती है । लेकिन ग्रंथ में वैसा ही किया क्यों नहीं गया ? जाहिर है कि, इसकी सामग्री समस्त मूल दार्शनिक ग्रंथों से नहीं, बल्कि उन अंग्रेजी में लिखी पुस्तकों से ज्यादा ली गई थी । इसीलिए पुस्तक में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दसूची में सारे शब्दों के साथ स्वतंत्र अंग्रेजी शब्द-प्रतिरूप भी दर्ज हैं । समूचे ग्रन्थ में ही अनुवाद अधिक है, चिन्तन बहुत कम। सूचीकरण की तो भरमार है । उपयोगिता की खातिर यह पुस्तक केवल हिन्दी पाठकों को विभिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं की सामान्य जानकारी ही दे सकती है। दर्शन जैसे गहन विषय में किसी की गहरी पैठ नहीं हो सकती इससे !... स्वय राहुलजी भी इस तथ्य से अवगत थे । इसोलिए भूमिका का वह ''अन्तिम अंश'' लिख सके । सच पूछिए तो उनकी महानता की कुंजी भी यही है । इसीलिए ग्रंथ का नामकरण 'दर्शन-दिग्दर्शन' बहुत सार्थक बन पडा है । स्पष्टतः उन्हें अपने काम की जल्दबाजी और कमी का अहसास था। परन्तु हिन्दी पाठकों के लिए अधिक से अधिक श्रम और कौशल से उन्होंने विविध जानकारियों की अच्छी प्रस्तुति की, ताकि सारे पाठकों में से कुछ तो इतने उद्‌बुद्ध और प्रेरित हों कि. गम्भीरता, धैर्य और निष्ठा के साथ विविध दर्शनोंपर और भी उत्कृष्ट लेखनकार्य कर सकें; और भारत-भारती को सचमुच अधिकतर समृद्ध करें।

राहुलजी की ऐतिहासिक कृतियों के बारे में भी यही सच है । यह मैं उनके ''मध्य एसिया के इतिहास'' (एसिया लिखने के ही पक्षपाती थे वे, प्रचलित रूप

एशिया नहीं) का सार-संक्षेप करते वक्त समझ पाया था । अभी उनका 'अकबर' ग्रंथ पढते वक्त भी मुझे ऐसा ही लग रहा है । एक तरह से कहानी-सी सुनाने अथवा मजेदार बातें करने जैसी उनकी अपनी विशेष शैली है, और जो राहुलीय सर्जनात्मक कृतित्व में भी पूर्णत: झलकती है । बौद्ध धर्म और दर्शन से संबंधित कृतियों में वे क्या-कुछ कर सके हैं, उसके लिए अलग अध्ययन अपेक्षित है । अन्येत्र, इसी अंक में शायद, वही किया भी गया है ।

दार्शनिक पारिभाषिक शब्दों और दार्शनिकों के काल-क्रम में भी (जो"द.दि." नें हैं)पर्याप्त परिवर्तन आवश्यक्र हैं । राहुल जी ने इस पुस्तक में दी गयी भूमिका २५ मार्च १९४२ को हजारीबाग जेल में लिखी थी । जाहिर है कि वे तब इस ग्रंथ को पुनर्वीक्षण करने की स्थिति में नहीं थे। अन्यथा,वे मोनाड = Monad को आत्मकणं; Intuition को आत्मानुभूति; व संबंध और 'कार्यकारण वाद' इन दोनों को ही Causality का प्रतिशब्द; 'कार्यक्षमता' को आदत; और Concentration को एकीकरण; 'तृष्णा' को will ; 'नाम' को Mind; 'नामवाद' को Nominalism यों ही न कह डालते ।

ऐसे ही और भी कितने ही पारिभाषिक शब्दों में जल्दबाजी कृत काफी-कुछ गोल-माल परिलक्षित है: जैसे, परमात्मतत्त्व = Absoluteself, Absolute; प्रतिवाद= Antithesis; या Pragmatism = प्रभाववाद और मनुष्यवाद भी; Discontinuous Continuity = विच्छिन्न प्रवाह, वि. संतति, विच्छेदयुक्त प्रवाह; आदि । इसी तरह एक ही 'विज्ञान' शब्द को वे Idea, Intelligence, Mind, nous, Science आदि अंग्रेजी शब्दों एवं अन्य कितने ही अरबी मिश्र शब्दों के प्रतिरूपों में इस्तेमाल करने के लिए प्राय: प्रस्तुत रहे हैं । बेचारा पाठक, खैर मनाए, यदि वह फिर भी किसी प्रकार के 'भ्रान्तिचक्र' से बच ही जाये ! प्रसंगत: ठीक अर्थ लगाकर यह हो सकेगा।

अपनी 'गढवाल' (१९५२) पुस्तक के प्राक्कथन में भी राहुलजी यही निर्देश करते हैं : " (किसी) ग्रंथ को पूर्ण कहना उपहासास्पद होगा । पूर्ण [illegible] वस्तुत: किसी को नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हरेक पीढी अपने अनुभव और ज्ञान के अनुसार ज्ञान-प्रासाद की एक ईंट ही रख सकती है, जिसपर आनेवाली पीढ़ियाँ अपने अ[illegible]क और गंभीर ज्ञान तथा अनुभव के अनुसार बडी ईंटे रख सकती हैं ।"

[illegible] इसी कारण देश की आजादी से पहले के राहुलजी बडे मजे से खण्डन-मण्डन कर पाते थे और हमेशा अपनी बातें सदा सप्रमाण उपस्थित नहीं करते थे । यह बेझिझक बेधडक रवैया न अपनाया होता तो उनके बहुत-से तर्क, मत, विचार आदि कभी व्यक्त ही न होते । उद्भावनाएँ काल्पनिक हों फिर भी अपनी सर्जकीय विशेषता तो रखती हैं । कारण, कभी-कभी वे सचमुच सही प्रातिभ ज्ञान

का जनदर्शन बन जाती हैं ।...

राहुलजी ने हजारी बाग जेल में १९४१-४२ के नौ और देवली कैम्प में ७ महीने - बन्दी जीवन के १६ महीनों में जो पढाई की उसी का नतीजा थी एक पुस्तक जो 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' नाम से ही छपती तो शायद २०००पृष्ठों की होती । उसमें कई विषय (अवान्तर) पखने-दर-पखने जैसे जुड गये होते! लेकिन फिर स्वत: ही पहले २९ दिन में ही 'विश्व की रूप रेखा' लिख दी; फिर ८ सितम्बर (१९४१)से १५ अक्टूबर तक 'मानव समाज' पूरा किया; और १६ अक्टूबर से 'दर्शन-दिग्दर्शन' शुरू की । वे अभी युनान और यूरोप में चिन्तित दर्शन ही ख़त्म कर पाये थे कि २६ अक्टूबर को भूख हडताल के चौथे दिन उसे रोकना पडा । फिर यह किताब हजारीबाग जेल में ११/३/४२ को पूरी की और उस पर १४ दिन बाद भूमिका लिखी । इससे पुनर्वीक्षण के लिए अपेक्षित समय-सुविधा और मन:स्थिति सब का अभाव था तब, लेकिन १९४४ में प्रथम संस्करण से पहले यह अवश्य होना चाहिए था; माने यदि किसी प्रकार भी हो जाता तो बहुत अच्छा होता । कारण, श्री. गुणाकर मुले के शब्दों में ''राहुलजी की रचनाओं की सब से बडी विशेषता यह है कि वे भारतीय चिन्तन और संस्कृति की वास्तविक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं ।''— (राहुल परिक्रमा, पृ. १३१)।

डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय के मतानुसार ''राहुल 'दर्शन-दिग्दर्शन' में बौद्ध दृष्टि का समर्थन करते हैं ।'' फलत: वे 'प्रतीत्य समुत्पाद' द्वारा जागतिक सृष्टि की व्याख्या केवल क्रिया-प्रतिक्रिया - शृंखला के आधार पर अधिक समीचीन समझते हैं, और यह सब वस्तुओं के मूल स्वभाव से स्वत: स्फूर्त हैं । इसके लिए आत्मा - परमात्मा आदि की अवधारणाएँ आवश्यक नहीं कि मानी ही जायें । कहना न होगा कि मानवीय करुणा समस्त शेष सृष्टि के प्रति स्वभाव-सृष्ट है क्योंकि सृष्टि या प्रकृति में सर्वदा-सर्वत्र-सर्वथा सहयोग और संघर्ष भी परिलक्षित हैं । पता नहीं, यह तथ्य डा. रामविलास शर्मा ने राहुलमत का विरोध करते वक्त क्यों नहीं याद रखा, डा. उपाध्याय का यह ख़याल वाजिब है कि, आखिर डा. शर्मा तो जैन दर्शन को इसीलिए तरजीह दे पाये थे कि उसमें विवेक तरक पर नहीं रख दिया जाता । (वही, पृ.१६३-१६४) ।

किन्तु जैसा कि डा. विमल ने अपने लेख ''महापंडित राहुल सांकृत्यायन का बुद्धिवाद : विकास के चरण'' ('वातायन'; वर्ष, ३१; अंक ४, अप्रेल-जून, १९८३, पृ.१११-१२) में बताया है कि पहले भले ही रहा हो पर बाद में,'वैज्ञानिक भौतिकवाद' के समक्ष बौद्धमत भी उन्हें स्वीकार्य नहीं था । बुद्ध की तरह वे इन्द्रिय-दमन नहीं, इन्द्रिय-शमन को ठीक मानते रहे । बुद्ध ने ''अपने दर्शन को समाज पर

लागू करने की कोशिश नहीं की । दूसरे समाज के अनेक शोषित तबकों के लिए अपने संघ का दरवाजा बन्द कर दिया । उन्हें प्रव्रज्याा तक देने से मना कर दिया।''— ''फिर तो जो होना था वही हुआ । दुख और दुखों के कारणों को दूर करनेवाला विचार-दर्शन मात्र सैद्धांन्तिक होकर रह गया ।''— ''---प्रभु वर्गों में भगवान बुद्ध की आवभगत बढ गयी ।'' इसी सिलसिले में, भदन्त आ. कौसल्यायन की यह बात भी विचारणीय है : '' राहुलजी को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके जन्म भर के विचारों की संगति मिलने का प्रयास न किया जाय । उन्होंने जब जो कुछ सोचा, जब जो कुछ माना, वही लिखा, निर्भय होकर लिखा । उन्हें किसी भी प्रकार का लोभ-लालच उनकी मान्यताओं से विमुख न कर सका ।''....

''राहुलजी के 'दर्शन-दिग्दर्शन' की पाण्डुलिपि मेरे पास थी । कलकत्ते की कोई संस्था पाण्डुलिपियों पर ही बीस-पच्चीस हजार का पुरस्कार देती थी । मैं ने पत्र लिखा, 'कहें तो पाण्डुलिपि भेज दूँ । बीस-पच्चीस हजार मिल जायेंगे ।' — लौटती डाक से कार्ड आया : 'रुपये-पैसों का मूल्य मैं भी जानता हूँ । मेरी पाण्डुलिपि कहीं न भेजना ।'' (राहुल सांकृत्यायन : व्यक्ति और वाङ्मय; कलकत्ता; १९९४; पृ.२३)।

फिर भी, राहुलजी ने बौद्ध मत, धर्म, दर्शन सम्प्रदायों के हितार्थ सर्वाधिक कार्य किया । यद्यपि उन्हें तन-मन के पुनर्भव में क़तई यक़ीन न था । वहीं भदन्तजी के शब्दों में :—

''श्रीलंका में रहते समय कभी-कभी मैं रात के बारह बजे भी उनके कमरे में जाता, तब भी उन्हें टाइप-राइटर खटखटाते देखता । कहता — अब सो जाइये न।'.... उत्तर मिलता : 'तुम जानते हो न कि मेरा तो पुनर्जन्म पर विश्वास नहीं । मुझे जो कुछ करना है, इसी जन्म में करना है ।''— सचमुच, राहुलजी में ''मन-कर्म-वचन'' का अद्भुत सामंजस्य था । एक ही जन्म में जो कर गये, बहुत से लोग कई जन्मों में भी नहीं क़र पाते ।...

जो भी हो, मैं यह विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि समग्र राहुल (ग्रंथावलि) में 'द.दि.' का जो भी संस्करण छपे, उसकी भूमिका में ग्रंथगत बहुत-सी असंगतियों भूलों का यथासाध्य निराकरण अवश्य हो जाना चाहिए । इसके लिए एक या कई (खण्डशः) अच्छी-सी भूमिकाएँ अधिकारी विद्वानों से लिखाई जायें; और, परिशिष्ट भी काफी-कुछ ठीक किए जायें । राहुलजी के अपने विचार भले ही ज्यों के त्यों जायें; परन्तु अन्य दर्शनों या उनके प्रणेताओं के बारे में सद्यतम शोधों का समावेश भी किया जाय । यही कार्य मध्य एसिया का इतिहास' (मूल और अंग्रेजी में कौलकृत) अनुवाद, जिसका प्रथम भाग १९६४ में छपा था, दूसरे भाग का क्या

हुआ पता नहीं) और 'अकबर', 'बौद्धदर्शन', 'बौद्धसंस्कृति' आदि के बारे में किया जाना चाहिए। सर्जनात्मक कृतियाँ 'जस की तस छपें, वह ठीक है; इसी प्रकार जीवन वृत्त एवं पत्र आदि भले ही अपरिशोधित रहें।

उदाहरणार्थ, 'द. दि.' के पृष्ठ ४ पर यूनान के युनिक (Ionic) दार्शनिकों की चर्चा करते वक्त वे अनक्सिमन (५८८ - ५२४ ई.पू.) को अपने पूर्वसूरी थेल (६२४-५३४ ई.पू.)की तरह जल को प्रथम आदि या मूलतत्त्व माननेवाला लिखते हैं। लेकिन पृ.४८०/१ पर रैक्व को "ठेउ भौतिकवादी दार्शनिक" मानकर कहते हैं कि वह "अनक्सिनमस (लगभग ५८८-५२४ ई.पू.) की भाँति वायु को " संसार का मूल उपादान मानता था।

अब यदि राहुलजी अपने भी "विज्ञानाश्रयी दर्शन की भौतिकी विवेचना भी करते कि जल और वायु में भी कुछ सामान्यतत्त्व है: दोनों ही संमिश्र द्रव्य हैं। तब तक शायद कहीं भी वैज्ञानिक तरीकोंसे सारे द्रव्यों और तत्त्वों का यथायथ विश्लेषण नहीं किया जा सका था। अत: भारत में और अन्यत्र भी, "एक ही को जानकर सब कुछ जान लिया जाता है"— दुहराते वक्त दार्शनिकगण कभी इसे तो कभी उसे परम-तत्त्व या पदार्थ मान लेते थे। यह एक सार्वभौम तथ्य है।

राहुल जी ने अपनी ही मान्यताओं के विपरीत 'द.दि.'में शामिल सारे दर्शनों का विभाजन राष्ट्रों अथवा भौगोलिक इकाइयों के आधार पर, या धार्मिक नामों के अनुसार ही ज्यादा किया है ; जैसे, यूनानी, युरोपीय, भारतीय, इस्लामी, बौद्ध आदि। 'जैन दर्शन' को तो एकदम आधाअधूरासा ही स्थान दिया है। समकालिक दार्शनिक विचार-धाराओं में से कुछ चुनी है तो कुछ का नामो-निशाँ भी नहीं है "द.दि." में।

अनेक जगह वे "वादों" का यथायथ नहीं आंशिक रूप से सतही तौर पर भावों अथवा विचारों में किंचित साम्य के आधारपर ही जगह-जगह पृथक् विकसित, भाषिक धारणाओं को प्राय: सीमित न करके यथार्थवाद, वस्तुवाद, बुद्धिवाद, विज्ञानवाद; अथवा, द्वैतवाद,अद्वैतवाद, सन्देहवाद, सोफीवाद, या एपीकुरीय भौतिकवाद, स्तोइकों का शारीरिक (ब्रह्म)वाद आदि कहते हैं, जो वस्तुत: भ्रामक हैं। अन्तस्तमवाद, विच्छिन्नविन्दुवाद, रहस्य-वस्तुवाद, धर्मवाद, पैगम्बरवाद, सूफीवाद, प्रयोगवाद, द्वन्द्ववाद, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, क्षणिकवाद, आत्मवाद एवं अनात्मवाद, अभौतिकवाद, शून्यवाद, परमाणुवाद, अनेकान्तवाद, शब्दवाद, (स्फोटवाद), नास्ति(क)वाद, शाश्वतवाद, ईश्वरादि-कर्तृत्ववाद, हिंसा-दार्गवाद, अनन्तानन्तिकवाद, अमराविक्षेपवाद, अहेतु(क)वाद, उच्छेदवाद, अग्रवाद, शुद्धिवाद, कौतुक-मंगल-वाद, कारण-समूह-वाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, आदि थरवाद को वे जहाँ ठीक संदर्भ में पेश करते हैं वहाँ तो ठीक हैं। लेकिन जब वे इनका सामान्यीकरणसा करते ही दीख

पडते हैं वहाँ बहुत-से अहम प्रश्न-चिह्न उभरने लगते हैं । जैसे, यह एक-वाक्यानुच्छेद : "एलियातिकों का दर्शन स्थिर-विज्ञान-अद्वैतवाद है ।" (पृ.९) इसके ऊपर के अनुच्छेद में जो एलियातिक दार्शनिक (क्सेनोफ़ेन, परमेनिद,जेनो) विचारों की व्याख्या दी है वह इस एक वाक्यानुच्छेद से पटरी नहीं खाती ! राहुलजी ऐसा कह सके हैं क्यों कि वे मनन को 'विज्ञान शब्द' से भी परिभाषित मानते हैं ।

संक्षेप में मुझे यही कहना है कि यदि राहुलजी अपने प्रत्येक दर्शन-जिज्ञासु पाठक को अपने विश्वकोषी ज्ञान के समकक्ष ही न मान बैठते ; या शुरू में ही सारे व्यवहृत और विशिष्ट शब्दों-नामों को, जिनके साथ "वाद" जुडा है, प्रयोग के पहलेसे ही व्याख्यायित करते चलते तो कहीं ज्यादा अध्ययन-सुविधा होती । इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के नये संस्करणों में यदि किसी भी तरह अब भी ऐसा किया जा सके तो अच्छा होगा । कारण, इसमें कोई शक नहीं कि केवल हिन्दी के माध्यम से लगभग वैश्विक स्तर पर संसार में प्रचलित, विवादित, स्वीकृत, परित्यक्त, जीवित, मृत दार्शनिक अवधारणाओं से सामान्यत: परिचित होने का यह एक अनुपम माध्यम है, बशर्ते इस के नये संस्करण सद्यतम दार्शनिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों के संदर्भ में परिमित, परिभाषित, परिवर्द्धित और संशोधित होते रहें । यह इस पीढी का पुनीत दायित्व है ।

लेख समाप्त करने से पहले यह जता देना भी जरूरी है कि अपने प्रयोजनानुसार राहुल जी ने जो अपने खास़ खयाल पेश किए हैं वे सभी सुचिन्त्य अवश्य हैं, पूर्णत: स्वीकार्य नहीं । जैसे यह कि बुद्ध-दर्शन का लक्ष्य क्षणिक भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक) ही था पर वह "मजहबी भूल-भुलैयों में इतना उलझ गया कि आगे विकसित न हो सका ।" (-पृ.१०) । "भारतीय दर्शन में परमाणुवाद का प्रवेश युनानियों के सम्पर्क से ही हुआ, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं ; " (पृ.११-१२) । "वेशेषिक दर्शन यूनानी दर्शन का भारतीय संस्करण है ।" (पृ. १२) "ज्ञान के समान पवित्रतम कोई चीज नहीं है ;" वाक्य में गीता ने सुक्रात की बात को ही दुहराया है ।" (पृ. १५) । क्या ये बातें सुप्रमाणित कही जायें ?

प्लातो के अरबीनाम अफलातूँ को तरजीह देकर राहुल जी उसे बुद्धिवादी, लोकोत्तरवादी, रहस्यवादी ऋषि-तुल्य बतलाते हैं । और यह भी कि "वैशेषिक सूत्रों के छ: पदार्थों में जो सामान्य, विशेष, चौथे-पाँचवें पदार्थ हैं और उनका उद्गम इसी दार्शनिक अफलातूँ से हुआ था ।" — जब कि उसने भी पिथागोर, हेराक्लितु और सुक्रात के विचारों का समन्वय ही किया है ! (पृ.१८-१९)। वे उसे विज्ञानवादी, बाह्यार्थवादी और ब्रह्मवादी भी कहते हैं । (पृ. २२) । "वह समाज में परिवर्तन चाहता था, किन्तु परिवर्तन ठोस मौजूदा समाज को लेकर नहीं , बल्कि मूल-स्वरूप

के आधार पर ।'' (वही)।

इसी तरह राहुल जी ने अरस्तू (आरिस्तातेल) को वस्तुवादी भी कहा है — (और द्वैतवादी तथा स्वप्नाचारी भी!)। वे बुद्ध को भी चक्रवर्तीवाद— सारे विश्व में एक धर्मराजा होने-का समर्थक मानते हैं और अरस्तू को भी - (पृ. २३) ; यद्यपि वे अरस्तू के विश्वकोषी ज्ञान और दार्शनिक प्रज्ञा-प्रतिभा के भी कायल हैं । उनकी राय में, ''सांख्य के विद्यमान संस्करण में इन्हीं (अरस्तूद्वारा बताये) मूलगुणों को तन्मात्रा कह कर उन्हें भूतों का कारण कहा गया, और यह अरस्तू के इसी खयाल से लिया गया मालूम होता है ।'' (पृ. २५) उनकी धारणा है कि भारतीय नैयायिकों ने अरस्तू - निर्णीत सार कारणों में से उपादान और - निमित्त अपना लिए थे। (पृ. २६) । यह सब कैसे किया जा सका, इसका वे कोई विचार नहीं करते ।

राहुल जी का यह मत अवश्य ही यथायथ विचारणीय है कि भारतीय दर्शनों पर यूनानी दर्शनों का पर्याप्त प्रभाव पडा था, विशेषतः सिकन्दर (अलेक्झान्डर. ३२३ ई.पू.) के बाद । शायद वे यह स्वीकारने को तैयार नहीं कि एक ही कालक्रम में कुछ-कुछ आगे या पीछे एक जैसे या समानान्तर प्रायः मिलती-जुलती विचारधाराएँ यत्रतत्र स्वतःस्फूर्त भी हो सकती हैं — अपनी ही जमीन और निज - समाज की देन-स्वरूप । किन्तु कभी कभी इस तथ्य को इच्छानुसार स्वीकारते भी नजर पडते हैं : '' नागार्जुन को पिरहो का ऋणी न मानकर यही मानना अच्छा होगा कि दोनों का ही उद्गम वही वैपुल्यवाद, हेतुवाद या उत्तरापथवाद था ।'' (पृ. ३५ अध्याय १)

अपने 'यूनानी दर्शन' का उपसंहार राहुलजी ने इसी तरह की कई धारणाओं के साथ किया है :

(१) प्लातो का ''लोकोत्तर विज्ञानवाद - धर्म और अध्यात्म-विद्या के सब से अधिक नजदीक था ।'' (-३७)

(२) ''यूनानी दर्शन को नवीन - अफलातूनीय दर्शन के रूप में परिणत करने का श्रेय भारतीय दर्शन को ही है ।''

(३) ''भारत ने निराशावाद - रहस्यवाद.को अपना कर उसके उपनिषद, जैन, बौद्ध, योग, वेदान्त, शैव, पाँचरात्र, महायान, तंत्रयान, भक्तिमार्ग, निर्गुणमार्ग, कबीरपन्थ, नानकपन्थ, सखी-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, आर्यसमाज, राधाबल्लभीय, राधास्वामी आदि नये संस्करणों को करके उसी बिल्ली-कबूतर-नीति का अनुसरण किया ।'' कारण, ''विषम परिस्थिति में बिल्ली के सामने कबूतर के आँख मूँडने या शुतुर्मुर्ग के बालू में मुँह छिपाने की आदमी को ज्यादा पसन्द आती है ।''(-३९)

(४) राहुल जी की राय में, साधारण मानव की यह पलायन- प्रवृत्ति ऐसे

सभी संगठित धर्म, मतवाद, संप्रदाय, दर्शन आदि अपनाते हैं, जो समाज की परिस्थितियों और समूचे परिवेश को बदलने के लिए कटिबद्ध नहीं हो पाते।

(५) अगस्तिन् (३५३-४३० ई.) ने दर्शन को ईसाईधर्म की इस ख़िदमत में लगाना चाहा कि "ईश्वर ने दुनिया को असत् से नहीं पैदा किया। अपने विकास के वास्ते यह उसके लिए जरूरी नहीं है। ईश्वर लगातार सृष्टि करता रहता है। ऐसा न हो तो संसार छिन्न-भिन्न हो जाय। संसार बिलकुल ही ईश्वर के अवलंबन पर है। ... जब ईश्वर ने संसार बनाया उससे पहले देश-काल नहीं थे। संसार को बनाते समय उसने देश-काल को बनाया ! तो भी ईश्वर की सृष्टि सदा रहनेवाली सृष्टि नहीं है। संसार का आदि है ; सृष्टि सांत, परिवर्तनशील और नाशमान है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, उसने भौतिक तत्त्वों को भी पैदा किया।" (-४३)

"दर्शन-दिग्दर्शन" में अध्याय २ से ९ तक इस्लामी दर्शन वर्णित-विवंचित है — राहुल जी की अपनी शैली में।...

इस्लाम (-शान्ति): लूट की आमदनी (-माले गनीमत), जीत से हुई आमदनी का पाँचवाँ हिस्सा हुकूमत का और बाकी सब विजेताओं में बराबर बाँटे जाने के कई उसूलों की व्याख्या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में करते हुए राहुल जी यह भलीभाँति दरसाते हैं कि पहले के बुत-परस्त कुल्से अरब कबीले एकजुट होकर एक अल्लाह, एक नबी, एक किताब के सहारे एक राष्ट्र से हुए : "इस्लाम ने विजित जाति के अधिकांश धनी और प्रभुवर्ग को जहाँ पायाल किया, वहाँ अपनी शरण में आनेवाले — खासकर पीडितवर्ग को विजयलाभ में साक्षीदार बनाने का रास्ता बिलकुल खुला रखा।"—.... "और सडाद फैलानेवाले बहुत से सामन्त परिवारों और उनके स्वार्थों को नष्ट कर हर जगह नई शक्तियों को सतह पर आने का मौका दिया।" (पृ५३)। दास-दासियों की शुमार मालिक की दौलत में की जाने से नजात तो उन्हें इस्लाम भी नहीं दिला सका। यह प्रथा ज्यौं की त्यों उन दिनों चीन, भारत, ईरान और रोम सभी देशों - राष्ट्रों में जायज मानी जाती थी।

धार्मिक संगठन के रूप में राहुल जी 'इस्लाम धर्म की रूपरेखा' (१९२३) और 'कुरान सार' में काफी-कुछ लिख चुके हैं। उनका कथन है कि हजरत मुहम्मद (पैगम्बर साहेब) की मृत्यु ६२२ ई. में हुई और उसके बाद सातवी सदी पुरी हुई थी, कि खलिकाओं की अथक कोशिशों के बावजूद इस्लाम पर अक्ल (बुद्धि, युक्ति, तर्क) और नक़्ल (शब्द, धर्मग्रंथ) के प्रभाव पडने लगे, तरह-तरह के सवाल उठने लगे। कुरान, सुन्नत और हदीस की इज्जत कम नहीं हुई। लेकिन फिका वाले फकी हों का जोर भी बढने लगा। ये एक तरह-के धर्म-मीमांसक जैसे थे। कुरान के आधार पर वे यह कहने लगे कि अल्लाह (प्रभू) एक है और सातवें

आसमान पर रहता है। वह दुनिया को 'कुन्' (हो) कहकर ही तुरंत बना डालता है। आग से फरिश्ते और मिट्टी से बने आदमी ही कुदरत में सब से बेहतर हैं। कुछ फरिश्ते गुमराह होकर अल्ला के दुश्मन या शैतान बन गये हैं। ये ही आदमी से पाप कराते हैं। जिसकी माकूल सजा दोजख है। कुरान में बताये काम (पुण्य) करके आदमी जन्नत (स्वर्ग) में रहते हैं, जहाँ वे महलों में हुऐं और गिल्मानों (सुन्दरियों और जवान नौकरों) के साथ अंगूरी बागों का मजा लेते हैं। चार तरह के मुख्य पुण्य कार्य हैं : नमाज, रोजा, यात (जकात) और हज (मक्कामदीना में काबा की यात्रा)। पाँच तरह के कर्म हैं :(१) नित्य या जो जरूर किया जाय—बिलानागा या कोताही किये बिना ही। इन्हीं में चारों पुण्यकार्य शामिल हैं। (२) नैमित्तिक (वाजिव), जिन्हें करने से पुण्य होता है लेकिन न करने से पाप नहीं होता। (३) अनुमोदित, जिन्हें करने पर विशेष जोर नहीं दिया जाता। (४) असम्मत. जिन्हें करने की मजहब (धर्म) इजाजत नहीं देता लेकिन किए जाने पर कर्ता को दंडनीय भी नहीं माना जाता। (५) निषिद्ध, जिन्हें नहीं करना चाहिए, करने पर दंड अनिवार्य है।

सन् ७०५ से १००० ई. तक इस्लामी शासक और समर्थ लोग यूनान व अन्य देशों के ज्ञान-विज्ञान का फायदा उठाने के लिए अरबी, पहलवी और फारसी में खास-खास जानी-मानी किताबों के उल्था कराने लगे। साथ ही अक्ल और नक्ल को भी तरजीहें दी गई। मतभेद कायम होने लगे। इस्लाम का विस्तार हुआ तो अन्य मतों के साथ हुए या होते घात-प्रतिघातों का भी असर पडने लगा। कुरान, सुन्नत और कयास (अनुमान) के साथ चौथा प्रमाण इज्माऐ (बहुमत) भी माना गया। भारत में भी क्या ऐसे अनुवाद हुए थे? - ईसापूर्व !

इसी प्रकार यह सिद्धान्त भी ईरानियों ने मानना शरू किया कि कुरान की आयतों को द्विरर्थक माना जाय। एक जाहिरी या बाहिरी, दूसरा वातिनी या आन्तरिक या अन्तस्तम। इसे माननेवाले जिन्दीफ, तालीमिया (शिक्षार्थी), मुलहिद, वातिनी, इस्माइली या आगाख़ानी मुसलमान हैं। (पृ. ८०)

"मोतजला इस्लाम का पहला सम्प्रदाय था" जिसने दार्शनिक धारणाओं का प्रवर्तन शुरू किया, जैसे जीव परतंत्र नहीं , स्वतंत्र है। परतंत्र है यदि तो उसे कर्मों का दण्ड क्यों मिले ? — अल्लाह सिर्फ भलाइयों का ही स्रोत है। वे तो सर्वोपरि प्रभु और सर्वशक्तिमान है। वे कभी किसी को नारकीय दण्ड नहीं देते। अल्लाह निर्गुण है। वे कोई मोजजा या चमत्कार (अतिप्राकृतिक घटना) नहीं घटाते। सारी सृष्टि उन्हीं की न्यामत है। वह अभाव से भाव में आती हैं। इसलिए उसके प्रारम्भ और अन्त भी हैं। इसीलिए कुरान भी अदि और सान्त है। सनातनी प्राचीन पन्थी

या सुन्नी मुसलमानों ने इसीलिए इन्हें 'काफिर' और 'दहरिया' कहा है क्योंकि वे धीरे-धीरे बुद्धि, युक्ति, और तर्क का समावेश करके कुरान की व्याख्या नये ढंग से करने लगे थे। उन्होंने इस्लामी इल्मे-कलाम (वादशास्त्र) की नींव डाली, जिसे "अशअरी, गजाली; जैसे 'पुराणवादी' तथाकथित आधुनिकों" ने स्वीकार नहीं किया। उनकी रूप में, यह सब तो इस्लाम के "सीधे सही रास्ते" (सरातल-मुस्तकीन) से भटकना मात्र था। (पृ. ८१-८३)। 'द.दि.' में राहुल जी ने भोतजलियों के अलावा और भी कई इस्लामी संप्रदायों के विभिन्न मतवाद प्रस्तुत किये हैं, जैसे, करामी अशअरी। (पृ. ८३-९०)।

पूर्वी इस्लामी दार्शनिकों में शजी और अख़वानुस्सफा (पवित्र संघ) एवं सूफियों को शामिल कर वे कहते हैं : "शंकर के ब्रह्म-अद्वैतवाद और सूफियों के अद्वैतवाद में कोई अन्तर नहीं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है जो कि भारत में मुसलमान सूफियों ने इतनी सफलता प्राप्त की।" (पृ. १०३)

आज के सुन्नी मुसलमानों के ईराक की राजधानी बगदाद लगभग हजार साल पहले अरबी खलीफाओं की निवास-स्थली थी। मगर वहाँ अरब, सुरियानी (सीरियाई), यहूदी (इजरायली), ईरानी (फारसी), यूनी लोगों का इतना मेल-जोल था, कि आपस में भाई-चारा जैसा कायम था। वहीं पर इस्लामी दार्शनिकों द्वारा जीव, जगत्, ईश्वर नफस (विज्ञान) आदि की विवेचना बढी। यूनान के नब-अफलातूनी (प्लातोई) मतवाद की जडें जमीं। जाराबी (८७०१ ई. तक) के मतवाद को विस्तार से स्पष्ट बखानते हुए राहुल जी बू अली सीना (९८०-१०३७) के विचार प्रस्तुत करते हैं। सीना कमोबेश मस्कविया (मृत्यु १०३०) फिर्दोसी (९४०-१०२०) और अलबेरूनी (९७३-१०४५) का समसामयिक था। वह "स्वतंत्र रूप से यूनानीदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन से अपनी निजी शैली को विकसित कर सका।" (पृ. १३२)

गजाली (१०५९-११११ ई) को राहुल जी ने लगभग ५० पृष्ठ दिए हैं। उसे धर्मवादी दार्शनिक कहकर वे उसकी सारी जिन्दगी और कृतियों की चर्चा करते हैं। इसके बाद समूचे एक अध्याय में स्पेन के इस्लामी दार्शनिकों का विवरण देते है, और यह लिखते भी हैं कि "इस्लामिक दर्शन या दार्शनिक से हमारा अभिप्राय यहाँ कुरानी-दर्शन से नहीं है बल्कि एक ऐसी विचार-धारा से है जो अरब से निकले उस क्षीण स्रोत में दूसरी नई-पुरानी विचारधाराओं के मिलने से बनी।"- और जिब्रोल के साथ शुरू हुई तो इब्न मैमून (यहूदी) के साथ ख़त्म। (पृ. २५०)।

तब तक इस्लाम में अवधारित ईश्वर (अल्लाह) और धर्म (मज़हब) सिर्फ़

कुरैश कबीले या अरबी बोलने-लिखने पढने वालों के लिए ही नहीं सारी दुनियाँ के लिए 'एकेश्वरवाद' और 'भाईचारे' का पुरजोर पैगाम अपने पैगम्बर हजरत मुहम्मद और उनके अनुयायियों द्वारा दे चुके थे । गुरू में इस प्रचार-प्रसार की मित्ति युक्ति (तर्क) और प्रेम से ही बनी लेकिन हजरत मुहम्मद को जब मक्का में हुए क्रूर अत्याचारों से जान बचाकर मदीना आना पडा तो उन्होंने जेहाद और गनीमत के उसूल भी मान लिए । उस वक्त के सामन्तों ने इस का भरपूर इस्तमाल किया और फिर इस्लाम अपने सुल्तानों, शहन्शाहों से जुडा तो सारी दुनियाँ में फैल गया ।...

इसके मुकाबले ईसाइयों को भी "धर्मयुद्ध" करने पडे और अन्य धर्मावलम्बियों को भी — आक्रमक और प्रतिरक्षार्थ भी । धार्मिक, दार्शनिक और उनके विचार (धर्म-दर्शन) जिस माहौल (परिस्थिति-परिवेश) में उदित, उद्भावित और सम्वीर्धित या विकसित होते हैं, उसके सारे प्रभावों से वे सर्वथा अछूते नहीं रह पाते । इसलिए राहुलजी ने सारे दर्शनों के बारे में कुछ भी कहने से पहले सविस्तार उनके इतिहास पेश किये हैं । इसीलिए वे यूरोप में इस्लाम के प्रभाव और संघर्ष की कहानी से अपना आठवाँ अध्याय समाप्त करने के साथ ही यह दिखाते हैं, कि धर्म और दर्शन के समन्वय की चेष्टा क्यों और कैसे शुरू हुई । शोध, वेध, प्रयोग और परीक्षण भी इसीलिए अनिवार्य होते हैं ताकि यथायथ ज्ञान और उसकी सच्चाई के जाँच के तरीके व सबूत जुटाये जा सकें । राहुल जी रोजर बेकन को भी इसी तरह पेश करते हैं। फ्रांसिस्कनों और दोयिमिकनों का संघर्ष आँकते हैं : सन्त टॉमस अक्विना (१२२पू-७४ ई.) के दर्शन को रोम के काथलिकों का सर्वमान्य दर्शन मानते हैं, यद्यपि उसमें अरस्तूई दर्शन की ही प्रधानता है । उसमें इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान या प्रत्यक्ष की महत्ता को भी नकारा नहीं जाता ।

योरोप के कई प्रमुख विश्व-विद्यालयों में पोपों के ख़िलाफ कोशिशों के बावजूद यूनानी और अरबी-इस्लामी दर्शन के अध्ययन, अध्यापन और पुस्तकों के अनूदित संस्करणों का प्रकाशन जैसे कार्य चलते रहे । (भारत में ऐसा हुआ था क्या?)

'द.दि.' के १० वेंसे १३ वें अध्यायों तक राहुल जी यूरोप के विभिन्न दर्शनों की रूपरेखाएँ खींचते हैं । उनकी मान्यता है कि, १५ वीं १६ वीं सदियाँ हमारे यहाँ सन्तों और सूफियों की बातों से आक्रान्त रहीं, जबकि योरोप में "बुद्धि को धर्म और रूढियों से स्वतंत्र करने का प्रयत्न बहुत जोखिम उठकर भी हो रहा था ।" (पृ.२९९) वहाँ साइन्स की स्वतंत्र संस्थाएँ खुलीं क्योंकि विश्वविद्यालयों को मजहबी तास्सुब से तब मुक्ति नहीं मिली थी । ये सब प्राय: पोथियें की दमघोट पकडे से अभी नहीं छूटे थे । विचार-स्वातंत्र्य और इतिहास, खगोल एवं भूगोल की नयी

खोजों और ईजाद्रों ने वहाँ का वैचारिक नक़्शा बदलना शुरू किया तो कट्टर-पंथियों से उन्हें बहुत-से अत्याचारों की भेंट दी गई। फिर भी प्रयोगवाद सुस्थापित हो ही गया। दर्शन क्रिया और गति का विज्ञान बन गया। ईश्वर, पाप, पुण्य आदिकी सारी धारणाएँ सापेक्ष तथ्यों की खुलीं बहरों के मुद्दे हो गये; निरपेक्ष सत्य की तरह ये स्वीकार्य, व्यवहार्य और परमार्थत: ज्ञेय नहीं रहे। राहुल जी ने हॉब्ज, लॉक, दकार्त, लाइबनित्स, स्पिनोजा, के बाद बर्कले, कान्ट ह्यूम, हर्टले, ला मेत्री, हक्वेशस, द 'अलेम्बेअर, द' होल्बाख़, दिद्देरो, प्रीस्टले और कबानी सभी को किसी न-किसी-तरह समेटा-सहेजा है। वे लिखते हैं कि योरोप के भौतिकवाद ने सिर्फ व्यक्ति नहीं, समूचे समाज के कल्याण के लिए सोचा था। (पृ.३२८)। कुछ विचारकों ने यथास्थिति को बदलने की हिमायत नहीं की लेकिन मार्क्स जैसे लोगों ने दर्शन को समाज- परिवर्तन का साधन बना दिया। कुछ ने ईश्वर की मनगढन्त कल्पनाओं द्वारा उसके अस्तित्व को भी बरकरार रखना चाहा पर ज्यादातर यह प्रयत्न असफल ही रहा। श्रद्धा-विश्वास का बोलबाला दर्शन में नहीं धर्म में हो रहना चाहिए, यह बात लोगों की पकड में आने लगी। (ऐसे समझदार लोग हमेशा हर जगह "मुष्टिमेय" नहीं रहे क्या?)फिर भी आधुनिक युग में जो अभौतिक वादी दर्शन का नया प्रवाह शुरू हुआ वह हेगेल के विचारों में वेगवती स्रोत नदी की तरह बहने लगा। उसमें सभी कुछ सप्रयोजन और बुद्धिपूर्वक हो रहा है, यह धारणा भी युक्तिसंगत करना नहीं। इसीके लिह वास्तविकता अपने में विरोधी तत्त्वों का समावेश रखती है। परम तत्त्व भी द्वन्द्वात्मकता से अछूता नहीं है। हर वस्तु एक द्वन्द्व है। उसके बिना गति, वृद्धि, विकास, जीवन कुछ भी परिकल्प्य नहीं है। पूर्वता विरोधों के परिहार नहीं समाहार से परिलक्षित होती है। इसी तरह वाद, प्रतिवाद संवाद बनते हैं। स्थिरता और परिवर्तन दोनों ही परिपूर्णता में समाहित हैं।

राहुल जी हेगेल और बर्कले दोनों को विज्ञानवादी ही कहते हैं। पर हेगेल पर वे एक प्रकार के नियतिवाद का आरोपण करते हैं। उनकी राय में यह भी बहुत ख़तरनाक विचार है कि सारी भ्राँतियाँ और बुराइयाँ सत्य और शिव में परिणति पायेंगी। बहुत ही मुश्किल होगा तब उनके निराकरण की वैयक्तिक और सामूहिक कोशिशें।... इसी तरह वे शोपनहर के 'तृष्णावाद' को उजागर करते हुए उसे बौद्ध-दर्शन से अत्यन्त प्रभावित मानते हैं। नीत्से भी है।.... उनकी राय में नीत्से की यह बात ध्यान देने योग्य है, कि दार्शनिक लोग सत्य की अनुसंधित्सा में नहीं, निर्मिति में लगे रहते हैं। वह वास्तविकतावादी तो है लेकिन, साथ ही बहुत ही खतरनाक विचारों का उद्गाता भी है। उसे प्रभुत्व - प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य लगता है। इसीलिए उसका आदर्श है : अतिमहान् व्यक्ति-निर्माण। हिटलर ने यही करना

चाहा था जिसका भयंकर परिणाम सामने है ।...

नीत्से तो प्रभुत्व-संस्थापनार्थ युद्ध, पीडा, आफत, निर्बलोंपर हमला सभी कुछ उचित ठहराता था । दयालु और दयित दोनों ही बुरे हैं । दया जीवन का उत्साह ख़त्म करती है । उसे नीरस बनाती है । उसके लिए तो हिटलर, गोयरिंग जैसे व्यक्तिही श्रेष्ठ जीवन के निदर्शन थे । (पृ.३४४)उसके अनुसार "जनतंत्रता, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद अन्य सभी मत फिजूल और असंभव" हैं । राहुल जी उद्धरण-चिन्हों में नीत्शे के बारे में यही देते हैं (पता नहीं यह उसकी अपनी भाषा का उल्था है या किसी अन्य की नीत्शे विषयक उक्तिका): "आज हमारे लिए सब से बडा ख़तरा है यही समानता की हवा — शान्ति, सुख, दया, आत्मत्याग, जगत् से घृणा, जनानापन, अविरोध, समाजवाद, साम्यवाद, समानता, धर्म, दर्शन और साइन्स सभी जीवन-सिद्धान्त के विरोधी हैं, इसलिए उनसे कोई संबंध नहीं रखना चाहिए ।" (वही) ।

हर्बर्ट स्पेन्सर को अज्ञेयतावाद का प्रवर्तक मानते हुए वे उसकी जीवन धारणा को इस तरह व्यक्त करते हैं : "जीवन है, बाहरी संबंध के साथ भीतरी संबंध का बराबर समन्वय स्थापित करते रहना । अत्यन्त पूर्ण जीवन वह है, जिसमें बाहरी संबंधों के साथ भीतरी संबंधों का पूर्ण समन्वय हो ।" (पृ.३४६) ।

राहुल जी कहते हैं कि यों तो उन्नीसवीं सदी में विज्ञानवादियों (Idealists)का ही जोर रहा लेकिन वैज्ञानिक खोजों के कारण भौतिकतावाद को भी पर्याप्त प्रोत्साहन मिलता रहा । मसलन, बुख़नेर (१८२४-९९ ई.) ने शक्ति और भौतिकतत्त्व को चर्चा में यही उपस्थापित किया है, कि : आत्मा या मन कोई चीज नहीं । जीवन विशेष परिस्थिति में भौतिकतत्त्वों से ही पैदा हो जाता है । मन की क्रिया "बाहर से आई उत्तेजना से मस्तिष्क की पीलीमज्जा के सेलों की गति है ।" राहुल जी का यह स्पष्ट मत है, कि १९ वीं सदी के सारे भौतिकवादी दार्शनिक साइन्स, मानवता और मानव-प्रगति तथा विकास के पक्षधर थे । (पृ.३४७) ।

"वैज्ञानिक भौतिकवाद" के प्रति राहुल जी की कृति में आत्यन्तिक पक्षपात यों तो प्रायः सर्वत्र ही झलकता है । किन्तु कान्ट के बारे में तो वे अपना विरोध ही नहीं, हाइनरिख हाइने-कृत मखौल भी (कांट के ख़िलाफ) समूचा उद्धृत करते हैं : "कांट ने भौतिकतत्त्वों की सचाई पर सन्देह पैदा कर उनके अस्तित्व को खतरे में डाल दिया, और ईश्वर-आत्मा मन के चूं-चूं-के मुरब्बे — वस्तु-अपने- भीतर, या वस्तुसार— को इन्द्रियों से परे —सीमा-पारी— बना, ईश्वर-आत्मा-धर्म-आचार (और समाज के वर्तमान ढाँचे) को शुद्ध बुद्धि से 'सिद्ध' करने की कोशिश की ।"—(पृ. ३२०) । और हाइने की यह उक्ति : "...कान्ट सैद्धान्तिक और

व्यावहारिक बुद्धि की सहायता से उसी देवता (-ईश्वर) को फिर जिला देता है, जिसे कि सैद्धान्तिक बुद्धि ने लाश बना दिया था ।''– (Gor./H. Heene ; Works Vol V P-(?))। हाइने की धारणा थी , कि कान्ट ने ऐसा इसलिए किया कि वह महान् दार्शनिक ही नहीं एक भलामानस भी बना रहना चाहता था ।....(पृ.३२१)

राहुल जी ने कान्ट की तरह हेगेल के बारे में भी ऐसा ही मत लिख रखा है। ''कान्ट ने अपनी 'शुद्ध बुद्धि' (Pure Reason) या सैद्धान्तिक तर्क से ... धर्म, रूढी, ईश्वर के चीथडे-चीथडे उडा दिये...।'' ''हेगेल ने शुद्धबुद्धि, भौतिक तजुर्बे (-प्रयोग) के सहारे अपने दर्शन—द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद (Dialectical Idealism) का विकास किया, यद्यपि भौतिक तत्त्वों को विज्ञान (Idea) बतलाकर वह उल्टे स्थान पर, उल्टे परिणाम पर, पहुँचा ।'' (पृ.३४७)

'द.दि.' के प्रणयन से पहले ही राहुल जी कम्यूनिज़्म की ओर ही झुक चुके थे । ''वैज्ञानिक भौतिकवाद'', उनकी राय में, श्रेष्ठ दर्शन था । इसीलिए वे बेझिझक यह अर्ध-सत्य दुहरा सके : ''सत्ताधारी– धनिक और धर्मानुयायी – भौतिकवाद को अपना परम शत्रु समझते हैं ।.... परलोक की आशा और ईश्वर के न्याय पर से विश्वास यदि हट जाय, तो मेहनत करते-करते भूखों मरनेवाली जनता उन्हें खा जायेगी, और भौतिकवादी विचारकों के मतानुसार भूतलपर स्वर्ग और मानव-न्याय स्थापित करने लगेगी ।'' (पृ.३४७-३४८) ।

पता नहीं यह वाक्य राहुल जी का नितांत अपना है, या अन्य किसी का भी। लेकिन यदि केवल उन्हीं का है यह तो दर्शन के प्रति क्या उनके यही रूख को सही सही व्यक्त करता है? : " कलाकी भाँति दर्शन भी बैठेठाले संपत्तिशालियों के मनोरंजन का विषय है ।''

जो भी हो वे आधुनिक युग (उनके समय तक उन्नीसवीं-बीसवीं सदियों का वह अंश जब यह ग्रंथ पूरा हुआ) के अभौतिकवादी (माने आदर्शवादी, विचार-विज्ञानवादी) यूरोपीय दर्शनों का चरम विकास माने हेगेलीय और वस्तुवादी (यथार्थवादी) दर्शनों का चरम विकास मार्क्सीस विचार-सरणियों में ही हुआ है, ऐसा प्रतिपादित करने को कमर कसे हुए मालूम पडते हैं । अपनी बृहत् पाण्डुलिपि (ल. २००० पृष्ठव्याप्त) ''वैज्ञानिक भौतिकवाद'', जिसका एक बृहदंश यह 'द.दि.' है, और बाकी दो अन्य ग्रंथ - ''मानव समाज'' एवं ''विश्व की रूप रेखा'' हैं, वे उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही लिख सके थे ।

इसी सिलसिले में, वे The Esence of Christianity (फ़्वेर बारव) और Systems de la Nature (दोलबाश १७७०) की भी तारीफ करते हैं । लेकिन मार्क्स की मुख्यत: वे इसीलिए प्रशंसा करते हैं कि उसने " हेगेल की द्वन्द्वात्मक

प्रक्रिया से मिलाकर भौतिकवादी दर्शन का पूर्णरूप'' पेश किया, और ''साथ ही दर्शन को कल्पना क्षेत्र'' का व्यायामी न बना कर उसका उपयोग अपने समाजपरिवर्तक विचारों में किया । (पृ.३५४)

राहुलजी तथाकथित 'विज्ञानवादी धारा' की अवशंसा में 'खड्गहस्त' और भौतिकवाद की प्रशंसा में 'पंचमुख' होकर लिखते हैं : ''विज्ञानवादी धारा --- धुंधा और रहस्यवाद छोड और कुछ नहीं पैदा करती । वह समाज की व्यवस्था में किसी भी तरह का दखल देने की जगह ईश्वर, परमतत्त्व, अज्ञेय पर विश्वास, श्रद्धा रखने की मात्र दे सकती है ।'' लेकिन मार्क्सीय दर्शन के विचारानुसार ''मानव-जाति की भाँति ही मानव-समाज– उसकी आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था-प्रकृति की उपज है । वह प्रकृति के अधीन है, और तभी तक अपना अस्तित्व कायम रख सकता है जब तक प्रकृति उसकी आवश्यकताओं को पूरा करती है । भौतिक उपज–खाना, कपडा आदि– तथा उस उपज के साधनों पर ही मानव-समाज कायम है ।''.... ''महान् मानसिक संस्कृति'', ''भव्य विचार'', ''दिव्य चिन्तन''– ये सब भारी-भरकम बातें प्रकृति ही की देन है । उनकी राय में, परिश्रम से मुक्त हुए बैठे-ढाले लोग ही तर्क-वितर्क करते और योजनाएँ बनाते हैं । लोग ''भव्य संस्कृति'' और ''ब्रह्म ज्ञान'' के मसले उठाकर उनके समाधान भी ढूँढते और यह सब कुछ अपने मन-मस्तिष्क की उपज साबित करते हैं,। किन्तु सच यह है कि अन्य सब कुछ की भाँति प्रकृति ही मन की 'मा' जननी, है, मन प्रकृति का ''पिता-जनक'' नहीं । (पृ. ३५४-५५) ।

द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में और भी एक दो पते की बातें हैं : ''बूढे ईश्वर ने एक साथ बाबा आदम, बीबी हौआ, अथवा ऋषि-मुनी, वेश्याएँ, हत्यारे, कोढी पैदा किये; साथ ही भूख और दरिद्रता,आतशक और ताडी को पापियों के दण्ड के लिए पैदा किया''.... ताकि वे (पापी) उन पापों को करें और फिर न्याय को नाट्य किया और उन्हें दंड दिया जाय । ''क्या मजाक !!''– और वह भी एक दिन का नहीं अनन्त काल तक यह प्रहसन- लीला चलती रहेगी । यह है ईश्वर, जिसे कि विज्ञानवादी (आदर्शवादी, विचार-प्रधान) दार्शनिक फाटक से नहीं खिडकी के रास्ते द्रविड प्राणायाम द्वारा हमारे सामने रखना चाहते हैं ।'' (वही)

इस तीखे, कटु व्यंगबाणों के बाद यह मरहम भी : '' निरन्तर गतिशील भौतिकतत्त्व इस विश्व के मूल उपादान हैं। किसी बाह्य दृश्य को देखते वक्त हमको बाहरी दिखावटी स्थिरता को नहीं लेना चाहिए, हमें उसके भीतर की अवस्था में देखना (समझना-सोचना) चाहिए । फिर हमें पता लग जायेगा, कि गतिवाद विश्व का अपना दर्शन है । गतिवाद को ही द्वन्द्ववाद भी कहते हैं ।'' राहुलजी इसके

आचार्यों के एक ही साथ तीन नाम देते हैं : बुद्ध, हेराक्लितुस और हेगेल । इसीको राहुलजी अनित्यवाद, क्षणिकवाद भी कहते हैं । (पृ. ३५७) ।

द्वन्द्ववाद की पहली स्थिति है वाद । दूसरी प्रतिवाद, और तीसरी संवाद । या भाव, प्रतिबंध-निषेध (अभाव), और सामंजस्य— जो चाहें कह लें । इन्हीं से वे 'द्वन्द्वात्मक परिवर्तन', 'प्रतिषेध का प्रतिषेध', 'विरोधि-समागम', 'गुणात्मक परिवर्तन' — जैसे शब्द-समुच्चय से व्याख्यायित मानते हैं । उनका यही कथन है, कि कोई भी ज्ञान देश-काल-परिमित एवं ज्ञातृ-दृष्टिकोण और प्रयोजन की सापेक्षता से विरहित नहीं है; और वह एक प्रत्यय की पृष्ठ भूमि तैयार करता है । परन्तु वह यही है क्या, कि पूर्ण ज्ञान वस्तुत: ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान का विलय है? ....मार्क्सवाद की विशद विवेचना ख़ास तौर पर उनके "वैज्ञानिक भौतिकवाद' ग्रंथ में है, अत 'द.दि.' में उसे दुहराया नहीं गया । (पृ.३५३) । लगे हाथ यहाँ वे कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं : जैसे,

१. "यह ठीक है कि हम विषय को पूर्णतया नहीं जानते, उनके बारे में सब कुछ नहीं जानते; लेकिन उसके अस्तित्व को अच्छी तरह जानते हैं, इसमें तो शक़ की गुंजाइश नहीं । इंद्रिय साक्षात्कार हमें थोडा-सा वास्तु के बारे में बतलाता है, और जो बतलाता है वह सापेक्ष होता है । विज्ञान वाद में यदि कोई सच्चाई हो सकती है तो यह सापेक्षता है, जो कि सभी ज्ञानों पर लागू है ।" — (इस बात में कौन — दर्शन या साइंस— किसका पीछे लग्गू हुआ ? - राहुलजी यह सवाल नहीं उठाते !

२ 'प्रकृति बाह्य पदार्थ के तौर पर मौजूद है, यह निश्चित है। लेकिन वह पूर्णरूपेण क्या है, यह उसका रहस्य है जिसका खोलना उसके स्वभाव में नहीं है । हमें वह परिस्थितियों को बतलाती है, उन परिस्थितियों के रूप में हम प्रकृति को देखते हैं । सभी प्रत्यक्ष विशेष या वैयक्तिक प्रत्यक्ष है जो कि ख़ास परिस्थितियों में होता है शुद्ध प्रत्यक्ष— विशेष विषय और परिस्थिति से रहित कभी नहीं होता । हम सदा वस्तुओं के विशेष रूप को ही प्रत्यक्ष करते हैं ।" (तो क्या वस्तुओं का सामान्य स्वरूप है ही नहीं? राहुलजी यह सवाल भी अनजाना कर देते हैं !)

३. "अतएव ज्ञान वास्तविकता का आभास है किन्तु आभासमात्र नहीं है ।... मार्क्सवाद सापेक्ष ज्ञान को बिलकुल संभव मानता है, जिससे साइंस की गवेषणाओं का समर्थन होता है; विज्ञानवाद वस्तु की सत्ता से ही इन्कार करके ज्ञान को असंभव बना देता है जिससे साइंस को भी वह त्याज्य ठहराता है ।" (पृ.३६१— तीनों उद्धरण)

महापंडितजी यदि आज सक्रिय जीवित होते तो वे यह देखते और समझ लेते, कि भौतिकी अब चेतनापरक रहस्यवाद और शून्यवाद के समानान्तर चल रही है ।

वास्तविक सत्ता का कामचलाऊ वर्णन मात्र करती है वह, स्पष्ट निर्देश नहीं। वह देश काल से अनवच्छिन्न सत्ता की कल्पना भी करने लगी है। वहाँ भी अब ऊर्जा और पदार्थ दोनों 'परम व्योम' में पर्यवसित-से होने लगे हैं।....

"द.दि." में बींसवीं सदी के अपने समय तक विख्यात व्हाइटहेड का संक्षिप्त परिचय दे कर वे एक और सवाल करते हैं : "अपने सारे "साइंस-सम्मत" दर्शन का अन्त व्हाइटहेड ईश्वर, धर्म और आचार के समर्थन में करता हैं। यह क्यों ?" –(पृ.१६७)। मेरी भी समस्या यही है : राहुलजी क्या सचमुच यह नहीं समझते थे कि दर्शन अपने प्रकृत स्वरूप में धर्म या साइंस किसी का पिछलग्गू (उनकी भाषा में "लग्गू-भग्गू") नहीं है, वह जीवन के रहस्य-भेद में स्वतंत्र-सामग्रिक चिन्तन का पक्षधर है और इसीलिए किसी भी अन्य ज्ञान-सरणी से अधिक महत्त्व नहीं रखता है।...

युकेन, जर्मन दार्शनिक (१८४६-१९२६) के बारे में उन्होंने परिचय कराते हुए भी अपना पूर्वाग्रह नहीं छोडा। खूब अच्छी तरह यहाँ युकेन की अति-संक्षिप्त परिचिति देकर वे दो उद्धरण लिखते हैं : "**आत्मिक जीवन** का ज्ञान साइंस या बौद्धिक तर्क-वितर्क से नहीं हो सकता, इसके लिए **आत्मिक** अनुभव – उस **आत्मिक जीवन** की अपने भीतर सर्वत्र उपस्थिति के अनुभव – की जरूरत है।

"यही **आत्मिक जीवन** ईश्वर है। धर्म मानव जीवन को आत्मिक जीवन के उच्च शिखर पर ले जाता है, उसके विना मनुष्य का अस्तित्व **खोखला** सारहीन है।" (पृ. ३६८)।– और अन्तिम पंक्ति में यहाँ भी अपना वही पुराना राग अलापते हैं : " यूकेन ने इस प्रकार भौतिकवाद के प्रभाव को हटाकर दम तोडते ईश्वर और धर्म को हस्तावलंब देना चाहा।" – (वही)। इस पर और कुछ न कहना ही ज्यादा ठीक है।

बर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई.) को राहुलजी "अन-उभयवादी" तत्त्ववादी कहकर लिखते हैं कि "बर्गसाँ के दर्शन को आम तौर से "परिवर्तन का दर्शन" या 'सृजनात्मक विकास" कहते हैं।" (पृ. ३६८)। यहाँ भी वे (शायद असम्मति-पूर्वक ही?) बर्गसाँ के दर्शन का अवसान आत्मदर्शन और ईश्वर के समर्थन के साथ देखकर "खुश" नहीं हैं।

बर्ट्रांड रसेल की कुछ बातें लिखकर वे उसका एक विख्यात वाक्य उद्धत करते हैं : "दर्शन जीवन के लक्ष्य को निश्चित नहीं कर सकता, किन्तु यह दुराग्रहों, संकीर्ण दृष्टि के अर्थों से हमें बचा सकता है।" (पृ. ३७२)।

बीसवीं सदी के भौतिकवाद को मुख्यत: मार्क्सीय मानकर ही रेखांकित करके यह और जोड देते हैं कि "मार्क्सवाद स्थिर या "अचल एकरस" नहीं, "विकासवाद"

उसका "मूलमंत्र है ।" लेकिन वे मार्क्सवादीय भौतिक दर्शन के बारे में यहाँ कुछ नहीं बतलाते । पाठक जानना चाहे तो उनका "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पुस्तक पढे । (पृ.३७२) । वे आधुनिक मानवतावाद, नव-मार्क्सवाद, प्रकृतिवाद, प्राकृत घटनावाद, अस्तित्ववाद की भी कोई चर्चा नहीं करते । ये सभी पश्चिम के विख्यात दार्शनिक मतवाद हैं ।

अमरीकी दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, शिक्षाशास्त्री विलियम जेम्स (१८४२-१९१०) को यहाँ शामिल कर के वे उसे "द्वैतवादी" करारते हैं । जेम्स के इस कथन को पुष्टि नहीं करते, कि " यदि सभी चीजें– मनुष्य भी– आदिम नीहारिकाओं या अति-सूक्ष्म तत्त्वों की ही उपज मात्र है तो मनुष्य की आचारिक (माने, नैतिक!) जिम्मेदारी (दायित्व), कर्म-स्वातंत्र्य, वैयक्तिक प्रयत्न और महत्त्वाकांक्षाएँ बेकार हैं ।"– इस पर राहुलजी का अभिमत है, कि जेम्स सिर्फ "यांत्रिक (वैज्ञानिक नहीं) भौतिकवाद" को समझ पाया था । इसीलिए उसने वै. भौ. के गुणात्मक परिवर्तन सिद्धान्त पर ध्यान नहीं दिया । यह तो उसकी मृत्यु के बाद की अनुचिन्तना है इसीलिए । अन्यथा, उसे "यदि पिछला महायुद्ध – और खास कर वर्तमान युद्ध (राहुलजी की यह रचना इसी के दौरान प्रणांत और प्रकाशित हुई थी)– देखने का मौका मिला होता तो वह अच्छी तरह समझ लेता कि सामाजिक स्वार्थ की अवहेलना करती अन्धी वैयक्तिक लिप्सा (माने, महत्त्वाकांक्षा !) – जिसे कर्म-स्वातंत्र्य, प्रयत्न, महत्त्वाकांक्षा आदि जो भी नाम दिया जावे– मानव को कितना नीचे ले जा सकती है । (पृ.३७३) । राहुलजी ने क्या सचमुच जीते जी कभी मार्क्सवादी स्तालिन के कुकर्मों के बारे में भी कुछ सोचा-लिखा था; पता नहीं !...

'दर्शन-दिग्दर्शन' का तीसरा खण्ड ख़त्म करते हुए राहुलजी जेम्स की ईश्वर-विषयक बातों के साथ क्या खुद न्याय कर सके हैं ?... पहले तो वे लिखते हैं, कि : "जेम्स भी उन्नीसवीं सदी के कितने ही उन दब्बू, अधिकारारूढ वर्ग से भयभीत दार्शनिकों में है, जो वक्त के सत्य से प्रेरित होकर बहुत आगे बढ जाते हैं, फिर पीछे छूट गये अपने सहकर्मियों की उठती उंगलियाँ देखकर "किन्तु-परन्तु" करने लगते हैं । जेम्स ने कांट के 'वस्तु अपने भीतर' स्पेन्सर के 'अज्ञेय', हेगेल के परमतत्त्व को इन्कार करने में" पहले तो साहस दिखलाया; किन्तु फिर भय सा लगा कि कहीं "सभ्य" समाज उसे नास्तिक, अनीश्वरवादी न समझ लें । इसीलिए उसने कहना शुरू किया– ईश्वर विश्व का एक अंग है, वह सहानुभूति रखनेवाला शक्तिशाली मददगार है, तथा महान् सहचर है । वह हमारे स्वभाव की एक चेतन, आचार-परायण व्यक्तित्व-युक्त सत्ता है, उसके साथ हमारा समागम हो सकता है, जैसा कि कुछ अनुभव (यकायक भगवान् से वार्तालाप या श्रद्धा से रोगमुक्त) सिद्ध करते

है।''—(पृ.३७५-७६) लेकिन, बाद में, राहुलजी जेम्स की यह बात भी पाठक को जानने देते हैं : ''— तो भी ईश्वरवादी मान्यताएँ पूर्णतया सिद्ध नहीं की जा सकतीं, लेकिन यही बात किसी दर्शन के बारे में भी कही जा सकती हैं ।— किसी दर्शन को पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सकता, प्रत्येक दर्शन श्रद्धा करने की चाह पर निर्भर है । श्रद्धा का सार या समझ महसूस करना नहीं है, बल्कि वह है चाह -उस बात को विश्वास करने की चाह, जिसे हम साइंस के प्रयोगों द्वारा (जो) सिद्ध कर सकते (हैं),न खंडित कर सकते हैं ।'' (पृ.३७६) । शायद यह एक ऐसा सार्वभौम तथ्य है, कि इसे नकारना संभव नहीं है !

'द.दि.' का उत्तरार्ध—१५वें अध्याय से १८वें तक— पृ.३७९से ८२० तक, माने लगभग ४४२ पृष्ठ, केवल 'भारतीय दर्शन' से संबंधित हैं । इसमें ''प्राचीन ब्राह्मण दर्शन'' (वेद-उपनिषद्), उपनिषदों के प्रमुख दार्शनिक: प्रवाहण जैवलि, उद्दालक आरुणि, गौतम, याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल, सयुग्वा रैक्व आदि की संक्षिप्त विचार-परिचिति कराने के बाद राहुलजी ने लोकातविचारक चार्वाक और अजित केश-कँबल को क्रमश: स्वतंत्र विचारक और भौतिकवादी संज्ञाएँ दी हैं; मकरवलि गोथाशाल को अकर्मण्यतावादी और काश्यप को 'अक्रियावादी', प्रक्रुध कात्यावन को 'नित्यपदार्थवादी' और संजय वेलष्ठिपुत्र को 'अनेकान्तवादी' बताया है । वर्धमान महावीर को वे 'सर्वज्ञतावादी' कहते हैं । और गौतम बुद्ध को 'क्षणिक अनात्मवादी।' वे 'दश अकथनीय'— से संबंधित सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के विचारों को ''लीपापोती'' मानते हैं ।...

जैनदर्शन की अपेक्षा बुद्ध (बौद्ध) दर्शन की परिचिति इस ग्रंथ में कहीं अधिक विकृति पाती है, जो कि राहुलजी के लिए स्वाभाविक था । वे बुद्ध के विचारों की समीक्षा उस वक्त की समाज-व्यवस्था के संदर्भ में करने के बाद बुद्धोत्तर दार्शनिक कपिल, नागसेन, तात्कालिक सामाजिक परिस्थिति, यूनानी और भारतीय दर्शनों के समागम पर भी लिखते हैं । 'अनीश्वरवादी' दर्शन को वह नये युग का प्रतीक मान कर पुन: 'अनात्म-अभौतिकवादी' चार्वाक और बौद्ध धार्मिक संप्रदायों के संबंध में भी बहुत कुछ बतला देते हैं । फिर नागार्जुन और उसके 'शून्यवाद' की अच्छी-खासी चर्चा करते हैं । (सच पूछिए तो यह उत्तरार्ध ही राहुलजी को ''दर्शनाचार्य'' की तरह स्थापित करने में पर्याप्त है) ।

'आत्मवादी' दर्शन में कणाद को पर्याप्त महत्त्व मिलता है; और, फिर वे यहाँ 'अनेकान्तवादी' जैनदर्शन की कुछ विवृति देते हैं । 'शब्दवादी' जैमिनि भी १० पृष्ठ पाते हैं । १७वाँ अध्याय ''ईश्वरवादी दर्शन'' है : इसमें बुद्धिवादी 'न्यायकार' (नैयायिक) अक्षपाद, और उनके विचारों पर युनानी दर्शन के प्रभाव भी, राहुल जी

की नजर से ओझल नहीं होते । वे यहाँ बौद्धों का खण्डन करनेसे भी नहीं कतराते । पतंजालि के 'योगदर्शन' और अष्टांगिक योग-साधनाओं के बारे में संक्षेप बताकर वे शब्दप्रमाणक 'ब्रह्मवादी' बादरायण के समय और दार्शनिकदृष्टि वेदान्त-साहिंत्य की जानकारियाँ देते हैं । वेदान्त का प्रयोजन वे उपनिषदों का ऐसा समन्वय मानते हैं जिसमें विरोधों का यथासाध्य परिहार मिलता है ।

उनकी स्पष्ट धारणा यही है, कि 'उपनिषदों में न तो प्रकृति को मूल कारण माना जाता है न जीव को । जीव एवं जड जगत् दोनों ही 'ब्रह्म-काय' हैं ।' उपनिषदों में जीव-वाचक स्पष्ट-अस्पष्ट शब्द ब्रह्म के लिए भी प्रयुक्त होकर घपला बढाते हैं । इसीलिए बादरायण के दार्शनिक विचार यहाँ पुनः आलोचित होते हैं !.. राहुलजी की एक मान्यता यह भी है, कि शूद्रों पर अत्याचार बादरायणी दुनिया की देन है क्योंकि बादरायणी प्रतिक्रियावादी का समर्थन नहीं छोड सके । बादरायणियों ने सभी मतों या दर्शनों के खण्डन में महारत हासिल कर ली थी ।

'भारतीय दर्शन का चरम विकास' - शीर्षक– २८वाँ अध्याय– असंग, असंग के ग्रंथ योगाचार-भूमि (विषय-सूची) और दार्शनिक विचारों को सहेजता है । इसी में दिङ्नाग (दिग्नाग) और धर्मकीर्ति भी विभागशः शामिल हैं । इनके द्वारा उपस्थापित एवं अन्य दार्शनिक मतवादों के खण्डन भी यथास्थान उपलब्ध हैं। अन्तिम (१६वें) अध्याय में गौडपाद और आदि -शंकराचार्य ही तात्कालिक सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भसहित प्रस्तुत हुए हैं । (रामानुज, माधव, वल्लभ, चैतन्य आदि को शायद वे दार्शनिक नहीं मानते ।)

कितने ही संक्षेप में कहें इस ग्रंथ को लिखने में व्यस्त राहुलजी के परिश्रम और सूझ-बूझ का आकलन आसान नहीं है । इसकी पूर्ण उपयोगिता भी नकारी नहीं जा सकती । इसके संशोधित-संबंधित-सम्पादित रूप निश्चय ही हिन्दी में दर्शन के अध्येताओं के बहुत काम आयेंगे । विभिन्न भारतीय दर्शनों और मतवादों, धर्मों और संप्रदायों पर राहुल जी की वैज्ञानिक भौतिकवादी धारणाओं का प्रतिफलन भी यत्र-तत्र खूब ही पढनीय और विचारणीय है ; विवादास्पद तो है ही । जैसे, यह, कि वेदों में प्रारम्भिक नहीं, परवर्त्री 'एकेश्वर' या 'सर्वेश्वरवाद' है । ऐसी भीति(भगवान् से डर) भोगों को त्याग से समन्वित रखने का उपदेश, और वैयक्तिक संपत्ति और प्रभुत्व तथा बौद्धिक उत्कर्ष के आधार पर व्यवस्थित सामाजिक संगठन की स्वीकृतियाँ उपनिषदकाल की देन है; अवश्य ही, वेदों में भी इनके बीज या सूत्र भरे पडे हैं । 'पुरुष-सूक्त' में ऊँच-नीच की भावना भी निहित है !... आदि । आदि ।

राहुल जी भाग्य अथवा कर्मफल तथा नियति की धारणाओं की शुरुआत भी [illegible] से मानते हैं । सौ वर्ष जीने की कामना के साथ कर्मकाण्ड के प्रति बढती

उदासीनता, 'नासदीय सूक्त'वाली दार्शनिक असमर्थता भी अन्तिम सत्य, तत्त्व अथवा याथातथ्य की खोजों एवं चिन्तनों के समानान्तर पनपती रहीं हैं ।....

और यह भी, कि ब्रह्मविद्या के पारंगत क्षत्रिय 'राजा' "भूदेव" हो गये ; और क्रमश: राजपुरुषों की प्रभुसत्ता सर्वोपरि हो उठी, जिसे तात्कालिक दार्शनिकों ने भी प्रत्यय दिया । फिर भी विचार-स्वातंत्र्य का उदय हुआ । वे ऐसा भी मानते हैं कि ब्रह्म में भावात्मक गुणों दया, कृपा का आरोप भक्ति और आत्म-समर्पण (प्रपत्ति) का प्रयोजन था केवल सामान्य ज़नों के लिए । लेकिन बुद्धि, युक्ति, तर्क की बढोत्तरी के साथ ही 'ब्रह्म' की अभावात्मक निर्गुणताएँ भी सोची गयी ताकि आम लोगों के लिए अवधारणा दुरूह बनी रहे । परिणामत: या तो आम जनता दर्शनों के प्रति कर्मकाण्ड की तरह उदासीन हो उठी; या गुरूओं की खूब खातिर होने लगी । मुंडका एवं परिव्राजकों ने इसे "तीर्थंकर" आदि की पदवियाँ देकर बढाय़ा । महावीर, बुद्ध ऐसे ही "गुरुणां गुरु:" थे जिन्हें बाद में अवतारों की तरह पूज्यातम माना जाने लगा । (वस्तुत: यह "गुरुऽमे" की पूरी विवेचना नहीं, आभास मात्र है ।

राहुल जी मानते हैं कि "मुण्डक उपनिषद" और पाली सूत्रों में "विमुक्त" जीवो की ब्रह्म से 'अभिन्नता' की जगह 'परम समानता' ने हथिया ली । 'वेदान्त' का प्रचलन तभी से हुआ । 'अ-क्षर' ब्रह्म को जगती या सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण बताया जाने लगा, और यह भी कि, 'आत्मा तो मृत्यु के बाद ही आरोग्य, एकान्त और सुख पा सकता है, जीते-जी नहीं ।....

'माण्डूक्य' उपनिषद में ओम् (ॐ) को खामख्वाह दार्शनिक तल पर उठाने की कोशिश की गयी है ।" ... "चेतना की चार अस्थाएँ — जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय का विवेचन है ।".... "प्रच्छन्न बौद्ध" शंकर के परमगुरू तथा बौद्ध गौडपाद ने माण्डूक्य कारिका पर लिखकर पहिले-पहल बौद्ध विज्ञानवाद से कितनी ही बातों को लें — और कुछ को स्पष्ट स्वीकार करके भी — आगे आनेवाले शंकर के अद्वैत वेदान्त का बीजारोपण किया ।" — (पृ. ४३१) ।

राहुल जी की राय उस वक्त तक तो यही थी कि, औपनिषदिक ग्रंथों का अनाम प्रणयन ग्रंथकारों की निरहंकारता नहीं यह चातुर्य है, कि, ऐसी कृतियों को वे आर्ष, अपौरुषेय मनवा दें; कारण, प्रातिन्य या स्वत:प्रसूत ज्ञान की बातें रहस्योद्घाटन का मुलम्मा चढाए तभी सामने आती हैं । 'माण्डूक्य' की भाषा में दार्शनिकता का पुट पर्याप्त है तो 'श्वेताश्वतर' का, एक ओर, "गीता" पर ऋण है, और दूसरी ओर, उसमे शैवों का स्वीकार भी है । साथ ही, इसमें मुण्डक उपनिषद की तरह 'त्रैतवाद' का भी प्रतिपादन है । माने, ब्रह्म त्रिविध है : जीव, ईश्वर, प्रकृति । बुद्ध की तरह

'श्वेताश्वेतर' का प्रणेता भी ''योग'' के प्रति खूब सजग रहा है । उसमें शरणागति की बात भी है, जो ''भागवतों (वैष्णवों) के पंत्ररात्र आगम की भाँति शायद तत्कालीन शैव आगमो में भी रही है ।'' (पृ.४४०) । गुरु द्वारा 'परमार्थ-तत्त्व' का प्रकाश भी यहीं से चला है ।– (पृ. ४४२) । (यहाँ 'गुरुवाद' की विशद आलोचना होती तो अच्छा होता!)...

बुद्ध के सारे-दर्शन का केन्द्रबिन्दु वे (राहुल जी) मात्र 'दु:खनिरोध' को मानते हैं । किन्तु इसके उपायों से वे पूरी तरह सहमत नहीं, कारण तृष्णा-त्याग तो वैयक्तिक स्तर पर भले ही कभी कारगर हो, वह सामाजिक स्तर पर असफल ही रहता आया है । इसी तरह बुद्धने जो सात बातें राष्ट्र को अपराजेय रखने के लिए बताई हैं वे भी पूर्णत: संगत नहीं हैं । वे इस तथ्य के भी कटु आलोचक हैं कि बुद्ध ने अपने वक्त की समाज-व्यवस्था से कमोबेश समझौता करके राजाओं और सेठों के आसरे ही अपने मत का प्रचार-प्रसार किया । (पृ.५११-१२) राहुल जी लिखते हैं, कि यह सब तो बुद्ध के ''क्षणिक वाद'' से मेल नहीं खाता । जब सभी कुछ अनित्य है नैरन्तर्य हो ही नहीं सकता - कार्य-कारण-शृंखला में भी नहीं तब- तो संघारामों और - विहारों की स्थापना भी बेमानी ही थी । राहुल जी का मत है, कि बुद्धदर्शन समूचा इस एक सूत्र में समाया है : ''अनित्य, दु;ख, अनात्म ।'' इसे अपने आनन्द से उल्टे अनुभवों के आलोक में समझाने के लिए उन्हें आत्मा के लिए 'सत्काय' और कार्य-कारण-भाव के लिए 'प्रतोन्यसमुत्पाद' । अवश्य ही इन्हों ने इनकी नई परिभाषाएँ भी दीं । 'धर्म' (धम्म) को भी बुद्ध ने एक नये अर्थ में लिया, जिसे आज की विज्ञान-भाषा में वस्तु घटना (या phenomenon) कह सकते हैं । इसी तरह ईश्वर (इस्सर) को नित्य-चेतन व्यक्ति की तरह वे कर्ता, भर्त्ता, हर्त्ता और स्रष्टा नहीं मानते । हाँ, चेतना की क्षण-भंगुरता को अवश्य स्वीकारते हैं । पृष्ठ ५३० से ५३२ तक, राहुल जी ने सर्वपल्ली राधाकृष्णन जी की कई बुद्ध-मत-व्याख्याओं की अच्छी खासी खबर ली है । उनके लिए धर्मकीर्ति का यह वाक्य ''धिग व्यापक तम:'' भी दुहराया है; और यह भी, कि ''आप दर्शन का इतिहास लिखने के लिए बिलकुल अयोग्य हैं । '' बुद्ध मत की नितांत निजी, भूल-भरी तोडी- मरोडी व्याख्या के लिए सर सर्वपल्ली दोषी हैं । किन्तु अपना आक्रोश व्यक्त करने में राहुलजी और भी कुछ अधिक संयम बरतते तो और भी अधिक अच्छा होता । क्योंकि वे कभी इतने क्रुद्ध तो नहीं देखे गये थे ।....

'बुद्ध का दर्शन और तत्कालीन समाज व्यवस्था' उपशीर्षक देकर राहुल जी पृ.५३५ से ५४२ तक अत्यन्त पठनीय विचार व्यक्त करते हैं । इसे हम बुद्ध के दर्शन का सुविचारित, संक्षिप्त सही मूल्यांकन मानें तो भी हर्ज नहीं । और यह भी कि

दर्शन जैसे कठिन विषय पर राहुल जी का ज्ञान सचमुच अत्यन्त प्रशंस्य है। इन्हें तो यही दुख रहा कि क्रान्तिकारी बौद्ध दर्शन अपने भीतर से उन तत्त्वों को कतई नहीं हटाया जो सदा ही समाज की सही प्रगति के प्रतिगामी रहे हैं।... जैसे, 'पुनर्जन्म' की स्वीकृति, कर्म-सिद्धान्त की पुष्टि, प्रतिसंधि-सिद्धान्त को मान लेना, वर्ण व्यवस्था की निन्दा किन्तु आर्थिक वैषम्य के बारे में चुप्पी। (आज के चीन और रूसी के बारे में क्या कहते राहुलजी ?), ऋणी और दास और सैनिकों को प्रव्रज्याा लेकर भिक्षुसंघ में आने से रोकना, आदि।... (पृ. ५४३)।

राहुल जी इस बात से भी बडे नाखुश थे, कि बौद्धों ने सामन्तों और राजाओं का साथ दिया-अपनी सुरक्षार्थ और सतही राजनीतिक शान्ति कायम रखने की प्रचेष्टा में; 'अराजकता' से बचने की खातिर भी।... लेकिन वे यह भी मानते हैं कि बौद्धधर्म "छले दार्शनिक प्रवाह का चरम रूप" था। अत: "बुद्ध के समय और उसके बाद बौद्धधर्म-युगधर्म-जनपद एकीकरण— में सब से अधिक सहायक बना।"

पंजाब में सिकन्दर के हमले का एक नतीजा यह हुआ था कि – "भारत में यूनानी सिपाही, व्यापारी, शिल्पी लाखों की संख्या में बसने लगे थे। इन अभिमानी "म्लेंच्छ" जातियों को भारतीय बनाने में सब से आगे बढे थे बौद्ध। यवन मिनान्दर और शक कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओं का बौद्ध होना आकस्मिक घटंना नहीं है। बल्कि वह यह बतलाता है, कि जनपद और जनपद आर्य और म्लेंच्छ के बीच के भेद को मिटाने में बौद्धधर्म ने खूब हाथ बढाया था।" (पृ.५४६-७)।

इसिलिए, मिनान्दर (मिलिन्द) और नागसेन तथा 'मिलिन्दप्रश्‍न' (मिलिन्द पणहो) का बहुत अच्छा विवेचन किया है राहुलजी ने यह दिखाते हुए कि ईसा पूर्व ५७० से १/१५० ईसा तक, या उससे और भी आगे तक अखंड हिन्द और यूनान की 'प्रतिभाएँ मिलकर भारत में नई विचार-धाराओं का आरम्भ कर रही थीं।' (पृ. ५५८)।

'अनीश्वरवादी दर्शन' (१६ वें अध्याय में वे भारतीय दर्शन का नया युग (२०० से ४०० ई. तक) आकलित करते हैं कि चन्द्रगुप्त ने भले ही भारत से यूनानी शासन हटा दिया। किन्तु यूनानी बने रहे। वे भारतीय जन-जीवन में खूब घुल-मिल गये। उनके मध्य एसियाई साम्राज्या से शक, जट्ट (जाट), गुज्जर, अमीर आदि भी यहाँ आये और बस गये। शकों ने तो यूनानी सत्रप (उपराज) बनकर मथुरा और उज्जैन में राज भी किया। कनिष्क सारे उत्तरी भारत और मध्य एसिया तक शासक बना रहा। तीसरी सदी तक शकों ने गुजरात पर काबू रखा। डा. का. प्र. जायसवाल तो गुप्त राजवंश को भी जट्ट ही मानते थे। राहुल जी भी मा. दर्शनों पर यूनान के

दार्शनिकों के प्रभाव स्वरूप आकृतिवाद्द, परमाणुवाद, विज्ञान-विशेषवाद, उपादान एवं निमित्त कारण, द्रव्यगुण-परिणाम-देशकाल-वाद की बातें करते हैं ।

वे एक सच्चे किन्तु "भोले" मार्क्सवादी की तरह राजाओं, दरबारियों, धर्माचार्यों, भाण्डों और धूर्तों तथा व्यापारियों को कामचोर जमातें कहते हैं । "संसार त्यागी" वर्ग की भी कोई "सराहना" नहीं करते । उनका कथन है कि इन सब ने कस कर (कर्मी, मेहनतकश, कामगार) वर्गों का जमकर शोषण किया । उन्हें चीजों या दास-दासियों की तरह इस्तेमाल किया । दार्शनिकों ने ब्रह्म-निर्वाण तक उडानें भरीं । आत्मा-परमात्मा के बारे में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम ऊहापोह की किन्तु नब्बे प्रतिशत पीडित जनता का कोई खास उपकार नहीं किया । बल्कि यही कहा कि ये दुःख आदि उनके "प्रारब्ध" और "संचित" कर्मों के फल हैं । वे चाहें तो ज्ञान जैसे "करणीय" कर्म से "मुक्ति" पा सकते हैं । किन्तु उन्हें शांति और व्यवस्था भंग करने का कोई अधिकार नहीं । उनका कर्तव्य है यह कि अपने-अपने पुश्तैनी काम करते रहे, प्रथाओं और पतम्पराओं को निबाहें । परिवर्तन करें तो सर्व सम्मती से ही ।

इस समूचे अध्याय को ही हम दर्शन के अध्ययन में राहुल जी का बहुमूल्य अवदान कहें तो ठीक होगा । दर्शन के नये युग को सुन्दर ढंग से श्रेणीबद्ध कर के वे तात्कालिक ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, आत्मवादी, अनात्मवादी, भौतिकवादी, अभौतिकवादी आदि आदि सारे सामान्य और विशेष मतवादों की यथायथ किन्तु संक्षिप्त परिचिति पेश करते हैं । वे अपने अन्य ग्रंथों को पढने की बात अनावश्यक दुहराने के दोष का परिहार करते चलते हैं । वे चाहते हैं कि दर्शन - जिज्ञासु चीनी-तिब्बती, गोबी मरुभूमि में प्राप्त स्रोत-सामग्रों का विधिरत अध्ययन कर प्राचीन बौद्ध निकायों के बारे में जानें । अश्वघोष, नागार्जुन की सराहना करके वे यह ठीक ही कहते हैं कि नागार्जुन ने जो दर्शन-चक्र-प्रवर्तन किया, उसने भारतीय दर्शनों को एक अभिनव सुव्यवस्थित रूप दिया । (पृ.५६९) ।

नागार्जुन, योगोपचार और दूसरे बौद्ध दर्शनों की चर्चा करके वे 'परमाणुवादी' कणाद (१५० ई) की अच्छी, सारमयी उपस्थापना करते हैं, उसे आत्मवादियों में ही शुमारते हैं । न्याय वैशेषिक से उबर कर वे फिर अनेकान्तवादी जैनदर्शन और शब्दवादी जैमिनि (३०० ई) की विचार-धारा बहाते हैं । उनका विचार है कि, " 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्त और इससे संबंधित विचारों को छोड देने पर मीमांसा और बुद्धिवादी न्याय-वैशेषिक दर्शनों में कोई भेद नहीं रहता ।" मीमांसकों के जबर्दस्त विरोधी थे बौद्ध दार्शनिक । प्रायः दोनों ही एक दूसरे के प्रतिगामी रहे । (पृ. ६१०) ।

उनकी यह टिप्पणी भी क़ाबिले-ग़ौर है : ''जैमिनि को वेद की स्वत: प्रमाणता सिद्ध कर यज्ञ कर्मकाण्ड का रास्ता साफ करना था । उसने ईश्वर-सिद्धि के बखेडे में पडने से वेद को नित्य अनादि सिद्ध करना आसान समझा, और इतिहास के संबन्ध में उस वक्त जितना अज्ञान था, उससे यह बात आसान भी थी ।'' (पृ.६२४) । इसीलिए वे मीमांसा सूत्र को और पाँचों ब्राह्मण दर्शनों से कलेवर में बडा मानते हैं, दार्शनिकता में नहीं । (वही) राहुल जी का यह मंतव्य भी ठीक ही है कि अन्य मीमांसकगण, कुमारिल, प्रभाकर आदि ने कर्मकाण्ड को जीवित रखने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु उसका ह्रास रोका नहीं जा सका । (पृ. ६२६) ।

१७ वें अध्याय को वे 'ईश्वरवादी दर्शन' का शीर्षक देकर गौतम अक्षपाद (२५०ई) के बुद्धिवादी न्यायशास्त्र, पातंजल योगशास्त्र या योग-दर्शन (''योग-युक्ति-गुटका'') और बादरायण के शब्दकारी वेदान्त का परिचय देते हैं । अक्षपाद को राहुल जी नागार्जुन का परवर्त्री स्वीकारते हैं कारण नागार्जुन ने 'विग्रहव्यावर्तनी' में प्रमाणों की पारमार्थिक के खण्डन में जो बातें कही हैं, अक्षपाद ने उन्हीं के खण्डन की पारमार्थिकता की कोशिश की है । न्यायभाष्यकार वात्स्यायन (३००) ने भी उन्हें ''आँख का काम देते हैं जिनके पैर''— इस सामासिक अर्थ से जताया है । 'न्यायसूत्र' —उनके ग्रंथ ५३३ सूत्र हैं— विषयानुसार ।...राहुल जी स्वयं न्यायदर्शन में आदृत प्रमाण की पारमार्थिकता नहीं स्वीकारते ।.... ''सापेक्ष प्रमाण ऐसा सिक्का है'' जिसे प्रकृति स्वीकारती है, और ''(व्यवहार) अर्थक्रिया में बाधा नहीं होती ।'' (पृ.६२५) । उनकी राय में, अक्षयवाद ने मन और आत्मा की जो धारणाएँ इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्य ज्ञान की पृष्ठभूमि पर खडी हैं वे सुलझी हुई नहीं हैं । आत्मा और मन का पृथकत्व भी वे ठीक-ठीक प्रमाणित नहीं कर पाते । ईश्वर को भी, अक्षपाद, अष्टा भर्त्रा, हर्त्ता नहीं बना पाये हैं ।'' कर्म यदि फल का कर्ता है तो ईश्वर उसका ''कारयिता'' ही बन पाता है । राहुल जी अक्षपाद की इस धारणा का कि आत्मा मुक्तावस्था में शुद्धचैतन्य-स्वरूप मन-बुद्धि-क्रिया से परे ही अवबोध्य है, श्रीहर्ष (११९०) के 'नैषधीय-चरित' की इस उक्ति से किया है, कि ''मुक्ति के लिए जिसने चेतन को अचेतन बना दिया वह गौतम वस्तुत: 'गोतम' (भारी बैल) ही होगा ।''.....

जो हो, राहुल जी अक्षपाद की रचना के उद्देश्य-तत्त्वज्ञान द्वारा नि:श्रेयस (परम-कल्याण, मुक्ति, अपवर्ग, जो भी अर्थ करें) की प्राप्ति को सही न समझने की भूल नहीं की लेकिन वे इस अक्षपादी उपस्थापना से सहमत नहीं लगते कि तत्त्वोपलब्धि में जल्प और वितंडा-भी जायज हैं । उनका मत है कि अक्षपाद ने अपनी इस बात के पक्ष में '' अंकुरों की रूथार्थ काँटों की बाढ'' की उपमा यूनानी

स्तोइक दार्शनिक जेनो से ली है । (पृ.६३७-८) ।

यूनानी दार्शनिक अवयवों से संगठित अवयवी को एक जोड परन्तु स्वतंत्रसत्ताक वस्तु मानते हैं, अक्षपाद ने इसी को अपना लिया और कहा— ''सभी पदार्थो का ग्रहण नहीं होगा यदि हम अवयवी (संपूर्ण) सत्ता को अवयवों से अतिक्रान्त नहीं मानते हैं तो । किसी भी ''संपूर्ण'' वास्तु को थामते और खींचते वक्त हम केवल उसके कुछ अवयवों से जुडते हैं लेकिन समूची वस्तू ही आहत होती है । ऐसी ही और भी कई अक्षपादीय युक्तियों की चर्चा करके राहुल जी कहते हैं कि, अक्षपाद यदि सापेक्ष ज्ञान से सन्तुष्ट हो व्यवहार (अर्थकिया) के लिए उन्हें ऐसी क्लिष्ट कल्पनाएँ नहीं करनी पडती। यह सब उन्होंने परमार्थ ज्ञान के फेर में पडकर किया है । लेकिन यह अच्छा हुआ कि अक्षपाद ने काल की स्वतंत्र पदार्थ सत्ता नहीं मानी, यद्यपि, उनके अनुयायी उद्योतकर ने यही कोशिश की है । वर्तमान काल के बारे में नैयायिक अक्षपाद पांच सूत्र रचते हैं ।

अक्षपाद के सामने सांख्य का ''सर्व-नित्यवाद'' और बौद्धों का ''सर्व-अनित्यवाद'' और ''क्षणिकवाद'' मौजूद थे जैसे अरस्तू के सामने हेरक्लितु की ''सर्व-अनित्य'' और एलियातिकों द्वारा इस के पूर्ण निषेध की बातें थीं । लेकिन दोनोंने ही अपने-अपने तरीकों से विश्व की नित्यता साबित करने जैसा पंच फैसला देना चाहा । बौद्धों ने उसे नहीं थामा और नागार्जुन आदि निरन्तर इस ''मल्लयुद्ध''में साक्षी बन गये । नित्यानित्य के अतिक्रान्त है उनकी शून्य-धारणा भी अक्षपाद ने अस्वीकारी : ''सब अभाव है, यह बात ग़लत है क्योंकि भाव (सत्पदार्थ) अपने - भाव (सत्ता) से विद्यमान रहते हैं । सारी वस्तुओं का अभाव ही सच है यदि, वो ऐसी वस्तुओं को सापेक्षता के लिए उपस्थापित करना स्वविरोधी है । वस्तुतः बौद्ध अनात्मवादी और अनीश्वरवादी होने के नाते सिर्फ दो ही प्रमाण प्रत्यक्ष एवं अनुमान स्वीकारते हैं और प्रमाण की परमार्थ के बजाय सापेक्षता स्वीकारते हैं — बहस का मूल मुद्दा यही है । अक्षपाद ने प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त का खण्डन ''अभाव से भाव की उत्पत्ति'' असंगत मान कर किया है । बौद्धों के प्रतीत्य समुत्पाद सिद्धान्त में प्रवाह और क्रम दोनों ही समाहित हैं, अक्षपाद यह नहीं समझ पाते । वे नागार्जुन के सापेक्षतावाद की शून्य़वाद में परिणति को भी ठीक से नहीं पकड पाते । नागार्जुन की शून्य धारणा कठिन अवश्य है लेकिन वह क्षणिकत्व हर्गिज नहीं। वह तो शून्यता से भी शून्य है, जैसा कि आज की भौतिकी द्वारा परिकल्पित हो रहा है ।... वे समझ रहे हैं कि अयथार्थ की स्मृति और संकल्प से भी यथार्थ व्यवहार को चलाया जा सकता है । भारतीय ज्योतिषी यूनानी तालेमी की तरह अभी तक सूर्य की पृथ्वी के चारों ओर घूमने की बात को ''यथार्थ'' मानकर ग्रहण और अयन-

परिवर्तन आदि की सही गणना कर लेते हैं । उनका चान्द्रवर्ष से भी अधिक मास की कल्पना द्वारा काम चला देता है । सापेक्षता - प्रतिसन्धि का यही तो मजा है । सत्ता के तीनों पहलुओं— प्रति-मासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक का लीला खेल ही तो यह जगत् ।'' अव्यक्ताद्व्क्तिमापन्न: प्रतीत्य समुत्पाद । जो चाहें कह लें । तर्कों द्वारा बाल की खाल खींचना शायद कुछ विचारों का खण्डन-खण्ड-खाद्य जो है ।.... पातंजल योगदर्शन की बात करते हुए राहुल जी ने ठीक ही लिखा है कि बुद्ध के समय तक योग-क्रिया खूब विकसित हो चुकी था । शायद अपनी पराकाष्ठा तक । अब सिद्धि और ''महातम'' को बढा-चढा कर पेश करने की व्यावसायिकता में जरूर चार चाँद लग चुके हैं । सात पट्ठान जैसे प्राचीनतम बौद्धसूत्र, कठ, श्वेताश्वेतर आदि इसके संवाहक हैं । योग का उद्गम भारत ही है यद्यपि नव-प्रतोई-मतवाद ने इसे पच्छिमी दुनिया को दिया । ईसाई, और मुस्लिम सूफियों ने भी इसे अपनाया । पतंजलि ने इसी आधारपर राहुलजी के मत से २५० ई.में १९४ सूत्र संगृहीत किए । यद्यपि डा. दासगुप्त अपने दार्शनिक इतिहास में इसे १५० ई. के आस-पास प्रणीत मानते हैं । वैयाकरण पतंजलि और योगदर्शनकार को एक मानकर किन्तु राहुल जी इसे नागार्जुन का पूर्ववर्त्री किसी भी तरह नहीं मानते । क्यों कि पतंजलि ने अंतिम-पद में जिस बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन किया है वह आचार्य असंग से पहले भी मौजूद था ।

योगदर्शन षट्दर्शनों में सब से छोटा परन्तु सब से ज्यादा समाहत है आज तक । राहुल जी की तरह आज का कोई भी बुद्धिजीवी पातंजल यो.द. के विभूति पाद की सारी बातें शायद ही स्वीकारेगा । चित्त-चेतन जगत् और तत्त्वज्ञान से संबंधित बातें राहुल जी ने भलीभाँति सहेजी हैं । पतंजलि का ''ईश्वर'' भी न तो स्त्रष्टा है, न कर्मफल प्रदाता । समाधि-सिद्धि में वे अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर-भक्ति को साधन मानते हैं । प्रणव या ओंकार जप का भी विधान करते हैं । पातंजल ईश्वर नित्यमुक्त है और सर्वज्ञता की सामर्थ्य रखता है । ओंम (प्रणव) उसी का वाचक है । राहुल जी कहते : अनीश्वरवादी सांख्य २४ प्राकृतिक तत्त्वों तथा जीव या पुरुष को लेकर २५ तत्त्व गिनता हैं और ईश्वरवादी योग उसमें ''पुरूषविशेष (ईश्वर) जोडकर २६ तत्त्व शुमारता है । कैवल्य-प्राप्त पुरुषों के बाद भी जगत् वर्तमान है कारण उसमें बद्ध पुरुष भी तो साझेदार हैं । उनकी संख्या तो हमेशा ही घटती-बढती रहती है । पतंजलि नाना कारणों (गुणों) से एक और अनेक कार्यों की उत्पत्ति भी मानते हैं ।... यह बात एक ही कारण से जागतिक वैविध्य की सृष्टि माननेवाले विचारकों के गले नहीं उतरेगी । चांहे वे चेतना का रहस्य न समझें ।

राहुल जी के अनुसार पतंजलि बौद्ध विचारों से भी प्रभावित थे । दोनों की

पारिभाषिक शब्दावली पर्याप्त समान है । (पृ. ६५९) ।

शब्दप्रमाणक ब्रह्मवादी बादरायण को वे पतंजलि का पूर्ववर्त्री नहीं (३०० इ.) मानकर उन्हें पीछे ही लेते हैं यद्यपि वे जैमिनि के समसामयिक हैं। बादरायण को वे व्यास नहीं मानते । यह मात्र पौराणिक परम्परा है । वेदान्तसूत्रों में तो बौद्धों के सारे मतवादों का खण्डन है लेकिन ३५० से पहले के दर्शन - समालोचकों के ग्रंथों में यह पता नहीं लगता कि उन दिनों वेदान्त और मीमांसा के सूत्र थे । बादरायणी वेदान्त सूत्रों पर शारीरक द्वैतवादी बोधायन और अद्वैतवादी उपवर्ष की वृत्तियों (छोटी टीकाओं) का उल्लेख यत्र-तत्र उपलब्ध है लेकिन वे अभी तक समूची नहीं मिलीं । वेदान्तसूत्रों के शैव शांकरभाष्य का समय यथा संभव (७८८ - ८२० ई) है । इस पर भी वाचस्पति मिश्र (८५९ ई.) की भामती टीका और श्रीहर्ष (११९० ई.) खण्डनखण्डखाद्य नामकी विवेचना मौजूद हैं । वेदान्त सूत्रों पर लिखनेवाले अन्य भाष्य भी सब दाक्षिणात्य हैं, यद्यपि वे अलग-अलग वैष्णव उप-सम्प्रदायों के हैं जैसे रामानुजीय निम्बार्कीय, माध्व और राधावल्लभी । ये सभी ११वीं सदी से १४ वीं तक पूरे हुए । वेदान्त-सूत्र ही शारीरक सूत्र कहलाते हैं कारण जगत् ब्रह्म का शरीर माना गया है । शंकर यह नहीं मानते अत: वे इन्हें ब्रह्म-मीमांसा मानते थे । राहुल जी ने वेदान्त का प्रयोजन औपनिषदिक समन्वय माना है । औपनिषदिक आन्तर्विरोधों का परिहार इनमें सर्वत्र उपलक्षित हैं । एक ही ब्रह्म लक्ष्य है । वही सारी सृष्टि का मूल कारण है, जीव या प्रकृति नहीं । ये कार्यकारण-शृंखला में भले ही कारणता हासिल कर लें । समस्त जगत् और जीव आदि ब्रह्मकाय हैं ।... मजे की बात है कि बादरायण के सूत्र भी द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत विशिष्टाद्वैत और त्रैत आदि वादों के प्रवर्तन में काम आये । नाना भुति नाना मत, मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना ही सच हो गया । राहुल जी ने बादरायणी वेदान्त की विवृति देकर 'बादरायण की दुनिया' और 'प्रतिक्रियावादी समर्थन' शीर्षक उपविभागों में अपनी राय जाहीर की है । छुआछुती पक्षपात और वर्णश्रमी जोर को वे अन्तर्यामी ब्रह्म से समन्वित नहीं मान सकते थे । वे वर्ग और वर्ण व्यवस्था के विरोधी थे । उनका स्पष्ट मत है कि बादरायण ब्रह्मज्ञान का फलसफा वर्गस्वार्थ पर आधारित वर्ण व्यवस्था के ही काम आया । इसी में सब शामिल रहे— शंकर, रामानुज आदि आदि । बादरायण ने दूसरे सभी मतों का खण्डन जिन युक्तियों के बल पर किया है उनमें से कुछ तो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रकाश में बचकानी लगती हैं, शेष का भी अधिक महत्त्व नहीं चूंकि खण्डित किये सभी धर्म और उन के धार्मिक आज भी उसी तरह फलते-फूलते हैं, जैसे कि स्वयं वेदान्त के । सारे सम्प्रदाय केवल शब्द प्रमाण केवल अन्ध-श्रद्धालुओं को ही भरमाते हैं । सच पूछिए तो मात्र शस्त्रों द्वारा

वासुदेव को ब्रह्म, संकर्षण को जीव, प्रद्युम्न को मन और अनिरुद्ध को अहंकार भी शाब्दिकता पर ही निर्भर करते हैं जितने कि बादरायणी सैद्धांन्तिक उपस्थापन। राहुल जी के अनुसार वे सभी लीपापोती से बढकर और कुछ नहीं है। बादरायण स्वयं भी यह जानते थे इसीलिए उन्हें इस तरह की लचर बात कहनी पडी (परमाणुवाद के बारे में) : "चूँकि आस्तिक लोग वैशेषिक् को नहीं स्वीकारते, इसीलिए उसका अत्यन्त त्याग ही ठीक है।" (वे. सूत्र, २/२/१६)। – (पृ. ६९८ पर उद्धृत)।

जैन और बौद्ध दर्शनों में जैनियों के स्याद्वाद, जीव का मध्यम परिणामित्व बौद्धों के भाषिक (सर्वस्तिवाद) सौत्रांतिक योगाचार और माध्यमिक का खण्डन भी ऐसा ही है। राहुल जी ने इन खण्डनों को यथाकृत रूप में देकर अच्छा किया है। उनपर अधिक सोचना अनावश्यक ही है।...

'भारतीय दर्शन का चरम विकास (६००ई.) शीर्षक अठारहवाँ अध्याय असंग (३५०ई), धर्मकीर्ति (६००ई.)– श्चेर्बास्की के अनुसार भारत के कान्ट– को पर्याप्त विकृत रूप में दिया है। सब से ज्यादा उनकी यह बात है :–

"...इस दर्शन, कला साहित्य के महान् युग की सारी भाग्यता मनुष्य की पशुवत् परतंत्रता और हृदय-हीन गुलामी पर आधारित थी। यह हमें नहीं भूलना चाहिए।" राहुल जी इन दार्शनिक उडानों को मतलबी बुद्धिजीवियों द्वारा अपने निहित स्वार्थों की रक्षा और पोषण के साथ गरीबों की शाब्दिक भुलावों से निरंतर छलना करना ही समझते हैं, अन्यथा इनमें से कोई भी उस वक्त की दो तिहाई (लगभग आज की तरह) जनता के दु:ख-दर्द को मिटाने की कोशिश उन्हें जागृत और सुसंगठित करने का प्रयत्न न करते। इस बारे में ७५१ से ७५६ पृष्ठों पर दिये उनके विचार सचमुच ध्येय्य हैं। राहुल जी इसीलिए 'द.दि.' में सर्वत्र राजाश्रयी और सेठाश्रयी दार्शनिकों की बुद्धि-प्रदीप्त परन्तु कोरी, खोखली शाब्दिक उपस्थापनाओं का पर्दाफाश करते नजर आते हैं। वे इसके क़तई हामी नहीं, कि 'दार्शनिकों का काम केवल व्याख्या करना है व्याख्येय को बदलना नहीं।' वे यह जानते है, वक्ता शब्दों के प्रयोग में सदा-सर्वत्र-सर्वथा वस्तु की परवाह न करने में बहुत-कुछ स्वतंत्र रहते हैं। इसलिए उनकी कल्पनाओं के आधारपर वस्तु-स्थिति का फैसला करना ग़लत है। (पृ. ७५७ और ७८८)।

और अन्त में, राहुल जी 'द. दि.' के १९ वे अध्याय में गौडपाद और शंकर की परिचिति पेश करते हैं। लेकिन सब से पहले उन का यह कथन (जरा लम्बे से उद्धरण हैं यह !) अवधेय है : "धर्मकीर्ति के बाद हम शान्तरक्षित कमलशील, ज्ञानश्री जैसे महान् बौद्ध दार्शनिकों को पाते हैं। वैसे ही ब्राह्मणों में भी शंकर के

अतिरिक्त और कई बातों में उनसे बढ-चढ कर उदयन, गंगेश जैसे नैयायिक तथा पार्थसारथी जैसे मीमांसक और बाचस्पति, श्रीहर्ष एवं रामानुज जैसे वेदान्ती दार्शनिक हुए हैं। इनसे भी महत्त्वपूर्ण स्थान कश्मीर के शैव दार्शनिक वसुगुप्त का है, जिन्हों ने बौद्धों के विज्ञानवाद को तोडे-मरोडे विना, उसे स्पन्दकरनेवाले (= लहरानेवाले) क्षणिक विज्ञान के रूप में ही ले लिया और बौद्धों के आलय विज्ञान (= समीष्ठ-)को शिवनाम देकर अपने दर्शन की नींव रखी। इन दार्शनिकों के बारे में लिखकर हम ग्रंथ को बढाना नहीं चाहते, क्यों कि अभी ही इसके पूर्वनियत आकार को हम बढा चुके हैं, और एकाधा जगह ग्रंथ का जरूरत से ज्याादा विस्तार करने में हम इसलिए भी मजबूर थे, कि वह विषय हिन्दी में अभी आया नहीं है। अन्त में हम अद्वैत वेदान्त के संस्थापक दार्शनिकों के बारे में लिखे बिना भारतीय दर्शन से बिदाई नहीं ले सकते।''— (पृ. ८०७)।

गौडपाद असंग को न छोडते हुए भी नागार्जुन के शून्यवाद के बहुत नजदीक हैं, और द्विपदांबर (मनुष्यों में श्रेष्ठ) ''संबुद्ध के प्रति अपनी भक्ति खुले शब्दों में प्रकट करते हैं। उनके अनुयायी (प्रशिष्य?) शंकर असंग के नजदीक हैं, और साथ ही उस बात की पूरी कोशिश करते हैं कि कोई उन्हें बौद्ध न कह दे।'' (पृ. ८०८)। पृ. ८०७ से८११ प्रथमांश तक राहुल जी ने बडी सूझबूझ के साथ गौडपाद और शंकर को अपने से पहले को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखा है। फिर गौडपाद को म.म. विधुशेखर महाचार्य के अनुसार गौडपाद का समय ५०० ई. मानकर वे कहते हैं कि नर्मदा किनारे बसे गौडपाद का स्थान निर्णय कठिन है, कारण नर्मदा मध्यप्रान्त, मालवा, गुजरात तक बहती है। राहुल जी के अनुसार शंकर के दीक्षा गुरू तो गोविंद थे परन्तु निर्माता निस्सन्देह गौडपाद थे। ''गौडपाद की चेष्टा थी कि बौद्ध दर्शन का पलडा भारी रहे और उसका संबंध भी उपनिषदों से जुड जाय।'' शून्यवाद को अपनाने में वे क्षणिक अ-क्षणिक के पचडो में नहीं पडे। ''शंकर ने भी बौद्ध दार्शनिकों का पूरा फायदा तो उठाया किन्तु वे उसे सोलह आने उपनिषद की चीज बनाकर वैसा ही करना चाहते थे।'' वह बुद्धिवाद के भी कायल थे इसलिए योगाचार का विज्ञानवाद भी अपनाया। उन्होंने चित्त तत्त्व को अक्षणिक मानकर अपने को शुद्ध ब्राह्मणं दार्शनिक साबित करने का प्रयत्न किया। (पृ. ८१३)।

गौडपाद के दार्शनिक विचारों में — जीव और जगत् का अस्वीकृति और सब की मायिकता (गौडपाद कृत आगमशास्त्रीय) प्रतिपादित है। (देखिए : आगमशास्त्र ४।२२।, ४।३१।१ और ४।५८।) परमतत्त्व के बारे में — ''बालबुद्धि (पुरुष) ''है'' ''न-है'' ''है न-है'' और ''न है न न'' इन चारों कोटियों में चल, स्थिर, चल-

स्थिर, न-चल-स्थिर के तौर पर (वास्तविकता को) छिपाते हैं । इन चारों कोटियों की पकड से भगवान् (-परमतत्त्व) सदा ढँके उन्हें नहीं छुवाई देते, जिसने उसे देखा वही सर्वद्रष्टा है ।'' (आगमशास्त्र: ४।८३;८४) इसी तरह मायावाद और विज्ञानवाद की झलकियाँ ये हैं : ''जैसे फिरती बनैठी सीधी या गोल आदि दीखती है, वैसे ही विज्ञान द्रष्टा और दृश्य जैसा दीखता है ।'' (उपा. ४।४७) ''द.दि.'' में, शंकराचार्य का समय ७८८-८२० ई. है; जन्मस्थान मलबार का एक ब्राह्मण कुल । अत्यन्त मेधावी । ३२ की आयु में मृत्यु । ''दस प्रधान उपनिषदों पर सुन्दर और विचारपूर्ण भाष्य उनकी प्रतिभा के पक्के प्रमाण हैं ।'' (-पृ.८१५)

''जान पडता है, बौद्धों के तर्क से कुछ बाणों को लेकर शंकर ने अलग एक छोटा-सा शस्त्रागार तैयार किया था, जिसका महत्त्व शायद सबसे पहले वाचस्पति मिश्र (८४१) को मालूम हुआ । फिर उन्हें ''श्रीहर्ष (११९८ ई.) जैसा एक जबर्दस्त वरदान मिला । (वही, पृ. ८१५)

''वेदान्त-सूत्र'' के पहले चार सूत्रों (चतु:सूत्री) के भाष्य में उनका विचार-स्वातंत्र्य उद्घोषित है । '' बौद्धों के संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य को अपना मुख्य हथियार बनाकर '' ब्रह्म को ही एकमात्र (अद्वैत) सत् पदार्थ माना और व्यवहार-सत्य के तौर पर सभी बुद्धि और अ-बुद्धि-गम्य ब्राह्मण-सिद्धान्तों को स्वीकार लिया ।

शब्द को स्वत: प्रमाण मानते हैं शंकर । ब्रह्म को एक मात्र सत्य । अविद्या-जनित है सारे भेद । ये ही -जन्म-जरामरण के हेतु हैं । ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वरूप है । अत: ये ब्रह्म के गुण नहीं, न ही ब्रह्म गुणी है । वह हो निर्विशेष चित् मात्र है । सारे परिपूर्ण में वही परम सत् अपरिवर्तनीय है । यह वेदान्त का अन्वेष्य एवं प्रतिपाद्य है अत: वह सारे दर्शनों में श्रेष्ठ है । ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय के लय को छोडकर किसी अन्य अनुभविता की कल्पना भी मिथ्या है । कैवल्य (सत्तामात्र अनुभव) ही ब्रह्म है । सृष्टि, स्थिति, संहार ये सभी पायिक हैं । यथातथ्य है, परम सत्य नहीं । (पृ. ८१५ से ८१८)

राहुल जी के अनुसार शंकर का मायावाद समाज की हर विषमता हर अत्याचार को अक्षुण्ण, अछूता रखने के लिए जबर्दस्त हथियार बन गया । प्रकाश के सामने अँधेरे की तरह ब्रह्म और माया एकत्र नहीं हो सकते ! माया अकथ-अनिर्वचनीय है, क्योंकि न वह सत् है न असत्, न सदसत् । मुक्ति और बंधन व्यवहार सत्य हैं, परमार्थत: नहीं । फिर भी शंकर मुमुक्षुत्व साधने के लिए चार साधन बताते हैं : (१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक (२) लोक-परलोक-फल भोग से वैराग्य (३) शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधि (४) मुमुक्षुत्व । स्पष्ट है, कि

शांकर मत को याद रखने के लिए दो-चार बातें पर्याप्त हैं : ब्रह्म ही एक अद्वितीय है । यह सभी कुछ जो है निश्चय ही ब्रह्म है । तुम, मैं सभी ब्रह्म हैं । गंभीरता से सोचने पर नागार्जुन का शून्यवाद और शंकर का मायावाद नामान्तर मात्र हैं । गौडपाद स्वयं नागार्जुनीय थे । शंकर की "प्रच्छन्न बौद्ध" परम्परा के समर्थक हैं राहुल जी । वे परांकुशदास "व्यास" का यह श्लोक जो रामानुज के वेदान्त - भाष्य की टीका में है समूचा उद्धृत कर अपने बृहत् ग्रंथ की समाप्ति करते हैं :

" वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमो ऽनृतः
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम् ।
बोद्धाऽनृतो बुद्धि फले तथा ऽ नृते
यूयं बौद्धास समान सांसदाः ।।"

तो अभीतक जो लिखा - पढा -, कहा - सुना गया वह भी क्या मिथ्या-सत्य नहीं, आलोक अँधेरे का झुट-पुटा !

"निराला"
३३ पूर्वपल्ली,
शान्तिनिकेतन
पिन : ७३१२३५ (प. बं.)

पृथ्वीनाथ शास्त्री

*

राहुल सांकृत्यायन की चिंतन दृष्टि

आज जब हम राहुलजी की बात कर रहे हैं तो जाहिर है कि एक ऐसे युग की बात कर रहे हैं जिसमें सामाजिक चेतना में गंभीर तब्दीलियाँ आई हैं और जो आदमी के इतिहास में एक बडे मोड की सूचक भी हैं । समाजवादी आंदोलन ने, जिसका विकास अलग-अलग देशों में अलग-अलग तरीकों से हुआ ; पर बावजूद इन विभिन्नताओं के एक ऐसे अनुभव का विधान संभव हुआ जिसमें सबकी साझेदारी थी। समाज की बुनियादी गतिविधियाँ, उत्पादन संबंधी क्रिया-कलापों अर्थात् आर्थिक क्षेत्र की विषमताओं की समाप्त करने पर सहमति थी । यह एक एकत्रित और समेकित् अनुभव में व्यापक सहभागिता थी । कटे-कटे अनुभवों की परंपरा में यह घटना थी। अनुभवों की सहभागिता का यह मोड आदमी के इतिहास में और विचारों के इतिहास में भी एक बहुत बडा मोड था ।

और आज जब हम महापंडित राहुल सांकृत्यायन की बात कर रहे हैं, उनकी चिंतन दृष्टि की बात कर रहे हैं तो बेशक विकास के प्रति अपनी आस्था की बात कर रहे हैं, उसे परखने - समझने की बात कर रहे हैं । मनुष्य समाज ने दासयुग से लेकर वर्तमान साम्राज्यवादी नवऔपनिवेशिक दौर तक की विकासशील यात्रा तय की है । इस यात्रा में उतार-चढाव स्वाभाविक रूप से आने थे, आए भी; क्योंकि इतिहास सीधे-सीधे नब्बे अंश के कोण में नहीं चलता । इतिहास का ''ग्राफ'' उतार-चढाव के बाद भी बढता हमेशा ऊपर की तरफ ही है । इस प्रक्रिया में आर्थिक विषमताओं और वर्गभेद को खत्म करने वाली शक्तियों का संघर्ष प्रतिक्रियावाद से समाज के ऊपरी व्यवहार-स्तरों पर ही नहीं चलता; मानसिकता और संस्कारों के स्तर पर भी चलता है। आज जब ''व्हाइट हाउस'' के प्रवक्ता-विचारक फ्रांसिस फूकोयामा सहित पूरा साम्राज्यवादी प्रचारतंत्र समाजवादी दर्शन की 'एक विचार की मृत्यु' की घोषणा करता फिर रहा है तो राहुल जैसे रचनाकार और चिंतक हमारे लिए इसीलिए प्रासंगिक बन जाते हैं कि उनकी चिंतन दृष्टि से हम यह सीखते हैं कि सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में आए वक्ती उतार-चढावों का वस्तुनिष्ठ विश्लेषण करते हुए एक बेहतर समाज बनाने की कोशिशों को आगे बढाया जाए ।

यह सीख हमें राहुल की चिंतन दृष्टि से एक विश्वसनीय तौर पर इसिलिए भी मिलती है कि उनके चिंतन के विकास में ज्ञान, अनुभव और व्यवहार की एकात्मता है। महज ग्रंथ ज्ञान नहीं, व्यक्ति मानस और सामाजिक संरचना के गहन और व्यापक

क्षेत्रों का अनुभव और अनुभवजन्य मान्यताओं के अनुरूप व्यवहार चिंतन दृष्टि की यही विश्वसनीय बुनियाद राहुल को एक बडा रचनाकार और चिंतक बनाती है । विचार-दर्शन, कला और सृजन को मौलिक परिकल्पना का अनुसंधान वही रचनाकार कर पाता है जिसका अनुभव-जगत् बडा हो । परंपरागत विचारधाराओं से उसकी असहमति उसे प्रश्नकर्ता बनाती है । इतिहास, दर्शन, विज्ञान, और कला रचना की परंपरा में वह अपने प्रश्नों का तार्किक हल ढूँढता है, लगातार जूझता है सवालिया निशानों से और इस प्रक्रिया में उसका अनुभव-जगत् निरंतर समृद्ध होता जाता है । उसका चिंतन और सृजन भी उतना ही ऊंचा और बडा होता चलता है आप यह याद करें ! एक प्रश्नकर्ता राहुल के चिंतन में बराबर मौजूद रहा है । ग्यारह वर्ष की आयु में विवाह होने पर केदार पांडे सीधा सवाल करता है अपने बुजुर्गों से....."इस अनजान उम्र में मेरी जिंदगी को बेच देने का अधिकार आपको किसने दिया है ?" ये तेवर आगे चल कर जिज्ञासा और यायावरी से जुड जाते हैं। कहाँ हैं प्रश्नों के हल ! केदार पांडे से बैरागी दामोदर साधू... आर्यसमाजी.... बौद्धभिक्षु.... गांधीवाद.... असहयोग आंदोलन की सक्रियता, किसानों के बीच कार्य, देश-विदेश भ्रमण, पठण-पाठण...लेखन... एक लम्बा सिलसिला है जो अन्तत: राहुल को इस निष्कर्ष पर ले आता है कि समाज सतत बदलता है, उसका विकास होता है, यह विकास प्रगतिशील हो, इसके लिए समाज में व्याप्त विसंगतियों और वर्ग विषमताओं को समाप्त करने के कार्य में जुट जाना चाहिए । दु:खों से निराश होकर भागने की जरूरत नहीं....राहुल यह बात दृढता से कहते हैं ....भागो नहीं दुनिया को बदलो । पारंपरिक - प्रचलित चिंतन के प्रगति विरोधी चरित्र का खुलासा करते जाना राहुल की चिंतन दृष्टि की पहचान है , "दिमागी गुलामी" में वे हमें बताते हैं : ऋषि मुनियों को दुनिया में सबसे पुराना साबित कर दें तो हमारा काम बन गया, यदि हम राजा भोज के काठ के उडनेवाले घोडे और शुक्रनीति में बारूद साबित कर दें तो हमारी पांचों उँगलियाँ घी में । .... मनुष्यों की असमानता.. आर्थिक और सामाजिक दोनों ही, तथा रूढियों के पोषण में ईश्वर का ख्याल सबसे अधिक सहायक साबित हुआ है। " गांधीवाद पर उनकी टिप्पणी है ..." गांधीवाद का सबसे अटल विश्वास ईश्वर भक्ति पर है, वह समझता है कि जो समस्याएँ मनुष्य के लिए हल करने में असंभव मालूम होती हैं, वे ईश्वर के सामने तुच्छ हैं .... किसी समस्या पर साफ-साफ न सोचना, कठिनाइयों को अदृश्य और अपरिभाषित साधनों के ऊपर छोड़ देना, बस यही गांधीवादी का असली रूप है , "दिमागी गुलामी" से उबरने के लिए राहुल साफ -साफ कहतें हैं .... "मज़हब और खुदा, धर्म और ईश्वर के खिलाफ हमें जबरदस्त प्रचार करना चाहिए, किसानों और मजदूरों को अपनी जिन्दगी की नित्य-नित्य को कड़वाहट का इतना अनुभव होता है कि समझाने पर वे मज़हब की धोखाधड़ीं को समझ सकते हैं, एक मर्तबे यदि यह भाव हमने लोगा में पैदा कर

दिया तो किसान और श्रमिक जनता की सारी सम्मिलित शक्ति क्रांति के लिए तैयार हो जाएगी।'' आज भी जो लोग साम्प्रदायिकता की समस्या के स्वरूप को समझने और उसका निदान ढूँढने के लिए उसके आर्थिक-सामाजिक कारणों की पड़ताल के बजाय एक ''सुधारवादी-दानशीलता'' और सांत्वना-सहायता की दृष्टि लेकर चलते हैं उन्हें राहुल जी की इस बात पर गौर करना चाहिए और इस पर भी कि ... ''साम्यवादी समाज का आर्थिक निर्माण नई तरह से करना चाहते हैं तो यह निर्माण ''रुफू'' या लीपापोती करने से नहीं होगा।''

राहुल की चिंतन दृष्टि की पुख़्तग़ी के अनुरूप ही उनके चिंतन और सृजन की दुनिया बहुत बड़ी है। शायद यह राहुल के ही बूते की बात थी। वे बौद्धिक क्रियाशीलता और सांस्कृतिक संवेदनशीलता के सम्बधों को पहचानने की दृष्टि देने वाली इतनी बड़ी दुनिया रच सके। तकरीबन १५० कृतियों की इस दुनिया में इतिहास, दर्शन, समाज-शास्त्र, कला-साहित्य, संस्कृति, यात्रा-वर्णन, जीवनी, शब्दकोश और भाषाविज्ञान आदि ज्ञानविधाओं का विपुल भंडार है।

विकासवादी बुद्धिजीवी राहुल सांकृत्यायन के चिंतन में समाज के आर्थिक मूलाधार और 'सांस्कृतिक-वैचारिक बाहरी ढाँचे के पारस्परिक संबंधों की एक निरन्तर खोज है। समाज में हो रहा आर्थिक उत्पीड़न उनकी संवेदना का मूल स्रोत है और मार्क्सवादी विचार-दृष्टि एक दिशासंकेत उनके विचारपरक ग्रंथों में ही नहीं रचनात्मक कृतियों में भी यह स्पष्ट देखा जा सकता है। उपन्यास ''मधुरस्वप्न'' (कालखंड ४९२-५२९ ई. तक) में मध्य एशिया के सामंती शासन के वर्गीय अंतर्विरोधों से त्रस्त जनता सम्राट बगान-बग देव के पास फरियाद लेकर जाती है। सम्राट का मंत्री अंदजर्गर आर्थिक विषमता खत्म करके वर्गहीन समाज बनाने का संकल्प करता है और इस दिशा में सक्रिय हो जाता है। स्वप्नदृष्टा अंदजर्गर श्रम के महत्त्व को स्थापित करता है। .. ''समानता से उत्पन्न की हुई सामग्री ही भोग्य-साम्य को स्थिर रख सकती है।'' अंदजर्गर के नेतृत्व में समानता का धर्म राजधर्म बनता है... प्रतिगामी शक्तियाँ फिर सत्तारूढ होती हैं, अंदजर्गर सूली पर दिया जाता है। यह घटना ईरान के इतिहास का सत्य है। मानवमात्र की समता का स्वप्न देखने वाला क्रांतिद्रष्टा अंदजर्गर अपनी मृत्यु के बाद एक आग छोड़ जाता है ... '' यह जलती हुई आग बुझने वाली नहीं है, एक पीढी नहीं दूसरी या तीसरी, एक शताब्दी नहीं दूसरी या तीसरी बीतेगी, एक ऐसा समय अवश्य आयेगा जब मनुष्य दुनिया को अपने रहने लायक बना सकेगा. ..'' शोषितजन युद्धरत रहेगा। यह संकल्प राहुल के प्रगतिशील चिंतन का आज भी प्रासंगिक और समकालीन बनाता है।

यह गौरतलब है कि फ्रांसिस फूकोयामा, साम्राज्यवादी प्रचारतंत्र के तमाम ढिंढोरची और प्रतिक्रियावादी, बुद्धिजीवी वर्गहीन समाज की दर्शन और विचार की

तथाकथित मृत्यु का जश्न ठीक से मना भी नहीं पाए थे कि लिथूआनिया में राष्ट्रपति के चुनाव में पुराने कम्युनिस्ट नेता अलग्रीदास ब्रात्सुकास जीत गये। वो भी अस्सी प्रतिशत मतदान में से साठ प्रतिशत वोट लेकर। माल्डौवा में कम्युनिस्ट दिग्गण पीटर जुशिन्स्की संसद के अध्यक्ष चुन लिए गये। ताजिस्तान में कम्युनिस्टों ने कट्टरपंथी मुसलमानों से सत्ता छीन ली और मास्को से बाहर हाल ही में हुए दो दिवसीय सम्मेलन में आंशिक रूप से प्रतिबंधित रुसी कम्युनिस्ट पार्टी रुस की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर आई। लगभग साढेचार लाख सदस्यों वाली इस पार्टी के सदस्यों की संख्या रुस के किसी भी राजनीतिक दल से दस गुना ज्यादह है। हमने शुरू में एक बात कही थी कि इतिहास सीधे-सीधे नब्बे अंश के कोण में नहीं चलता पर इतिहास का "ग्राफ" चलता हमेशा ऊपर की ओर ही है।

"मधुरस्वप्न" १९५० में छपा था बेहतर समाज-निर्माण की आस्था के साथ। १९५६ में यशपाल की "अमिता" प्रकाशित हुई। याद करें यह वही दौर था जब स्टालिन की मृत्यु के बाद खुश्चेव-ब्रेजनेव गुट ने "मजदूर वर्ग की तानाशाही" का सिद्धांत छोड़ कर रुस को सारी जनता का राज्य घोषित किया था 'ऑल पीपल्स स्टेट'। इस "सारी जनता" में शोषक व शोषित गड्डमड्ड थे, "वर्ग समन्वय" और "शांतिपूर्ण सहअस्तित्व" के नारे दिए गये थे। यशपाल भी इस संशोधनवाद के पक्षधर बन गये। "अमिता" कलिंग युद्ध पर केन्द्रित उपन्यास है। अशोक की एकाधिकारी साम्राज्यशाही लालसा युद्ध की प्रेरणा है। बौद्धधर्म में प्रवृत कलिंग की महारानी कहती है ... "हिंसा की प्रतिद्वन्दिता में हिंसा करना धर्म नहीं अधर्म है।" यहीं नन्हीं नन्ही सी "अमिता" के माध्यम से भी यशपाल यह निष्कर्ष देते हैं कि शोषक शक्तियों के अन्यायी युद्ध के विरुद्ध कलिंग को अपनी स्वतंत्रता और अधिकार के लिए किया जाने वाला युद्ध भी पाप है। अन्यायी युद्ध और अन्याय के विरुद्ध किए जाने वाले युद्ध के चरित्र में फर्क किए बगैर एक सामान्यीकृत निष्कर्ष देना अवैज्ञानिक और प्रगति-विरोधी चिंतन दृष्टि का सबूत ही नहीं शोषक व्यवस्था के साथ जुड़ जाने की अवसरवादिता भी है। राहुल जी के चिंतन में इस समन्वयवादी नजरिए पर प्रखर टिप्पणी है : एक चालू मुहावरा है ... शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, परस्पर विरोधी वर्गों, विचारधाराओं और समाज व्यवस्थाओं में शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की खोज करने वाले महानुभाव यह क्यों नहीं समझ पाते कि शोषक वर्ग ने अपनी मर्जी से सत्ता छोड़ दी हो ऐसी कोई मिसाल इतिहास में नहीं है।"

मार्क्सवादी चिंतन दृष्टि से संपन्न होते हुए भी राहुल के सोच में जड़ता या कठमुल्ला-पन नहीं है। उनकी सोच एक सृजनात्मक मार्क्सवादी की सोच है अपनी जमीन से जुड़ी संस्कृति उसकी बुनियाद है। उनकी आत्मकथा उनके स्वभाव, अनुभवों और जिज्ञासाओं की कथा ही नहीं है। उसमें जहाँ भारत, श्रीलंका, जर्मनी, इंग्लैंड, चीन और रुस की पूँजीवादी से साम्यवादी समाज में बदलने के समय के उतार-चढावों की

गाथा है वहीं उनकी अपनी जमीन पर सामंतो और पूँजीवादी सभ्यता के रूढ होते दर्शन, कला और इतिहास को तोड़कर एक सृजनात्मक चेतना की व्यावहारिक बनाने की गहन कोशिशों का लेखा-जोखा भी है । जीवन के अंतिम चरण में मास्कों में प्रोफेसर का प्रतिष्ठित पद छोड़कर भारत लौटने के पीछे अपनी जमीन की सांस्कृतिक चेतना से जुड़े रहने की सहज आकांक्षा ही रही । जनजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करते हुए राहुल सत्तासंघर्ष, आर्थिक क्रांति और सांस्कृतिक जागरण के पारस्परिक जुड़ाव को रेखांकित करते रहे और बार-बार इस बात पर बल देते रहे कि - "जिन्दगी की हकीकतें ही पहली प्रेरणा है ।" दर्शन से जीवन को समझने की एक दृष्टि मिलती है । जड़ फ्रेमवर्क में बंध कर चिंतन कुंठित हो जाता है ।

निर्भीक धुन के पक्के, आत्मविश्लेषण करते हुए अपने विचारों को बदलने का हौसला रखनेवाले और खुद "बेसरो-सामान" रह कर चिंतन व सृजन की दुनिया को निरन्तर समृद्ध करनेवाले राहुल का चिंतन मार्क्सवाद के प्रति अनुशासित और प्रतिबद्ध व्यक्ति का चिंतन है । सन् १९४७ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्ष चुने जाने पर राहुल व पार्टी के बीच मतभेद होने पर उन्होंने पार्टी से त्यागपत्र दे दिया पर पार्टी के विरुद्ध कहीं एक शब्द नहीं कहा । यही नहीं बाद में कामरेड अजय घोष के समय जब वे दुबारा सदस्य बने तो बच्चों की तरह पुलकित हो उठे थे ----" अब मैं ताउम्र कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य रहूँगा ।" यह खुशी इतनी आत्मीय थी कि "हिन्दी विश्वकोश" के प्रधान सम्पादक बनने की प्रतिष्ठा को भी उन्होंने तुच्छ समझा । बहुत से विद्धानों की इच्छा थी कि महापंडित राहुल सांकृत्यायन "हिन्दी विश्वकोश" के प्रधान सम्पादक बनें पर कांग्रेस की वैचारिक संकीर्णता ने यह नहीं होने दिया । एक तत्कालीन कांग्रेसी मंत्री की टिप्पणी थी --- "उन्हें यह दायित्व कैसे दिया जा सकता है, वे तो कम्युनिस्ट हैं ।"

वैज्ञानिक प्रगतिशील चिंतनदृष्टि से सम्पन्न इस विराट प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के चिंतन-दर्शन और सृजन पर गहराई से विचार करने के स्थान पर उनके यायावर जीवन और घुमक्कड़ स्वभाव की विशेषताओं का विस्तार से उल्लेख करते हुए राहुल को एक रोमांटिक व्यक्तित्व के रूप में सामने रखने की कोशिशें भी होती रही हैं । यायावरी निश्चित ही राहुल जी के विराट एवं बहुमुखी व्यक्तित्व का एक अंग है और अध्ययन को समग्रता देने के संदर्भ में उस पर विचार करना भी समुचित है, पर यायावरी राहुल का "समटोटल" नहीं है । घुमक्कड़ी ही सब कुछ नहीं है । यह कुछ ऐसा ही है जैसा १९२१ में छपी निकोलाई बुखारिन की पुस्तक -- "भौतिकवाद : लोकप्रिय समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तक" में हुआ था । बुखारिन ने मार्क्स से लेकर मैक्सवेबरतक के विचारों का घोल तैयार किया था । लूकाच ने इस पर टिप्पणी की थी कि " बुखारिन का भौतिकवाद बुर्जुआ भौतिकवाद है " बाद में ग्राम्शी ने अपनी आलोचना में दो टूक बात

कही थी -- बुखारिन बदनीयत है । वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से ऐतिहासिक भौतिकवाद को अलग करने पहले को दर्शन और दूसरे को समाजशास्त्र कहता है । यह उसकी इतिहास दृष्टि की समझ का अभाव नहीं साफ-साफ बदनीयत है । दुनिया को बदलने वाले दर्शन को महज अध्ययन की वस्तु बना देना चाहता है ताकि उसकी व्यावहारिकता खत्म हो जाए ।'' राहुल को महज एक मस्तमपौला घुमक्कड़ के रूप में प्रचारित करनेवालोंपर अंतोनियो ग्राम्शी की यह बात बिल्कुल ठीक बैठती है ।

राहुल की सतत विकसित सृजनात्मक एवं प्रगतिशील चिंतन दृष्टि में मार्क्सवादी दर्शन की प्रतिबद्धता के साथ एक ऐतिहासिक मूल्य-सजगता भी है । धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी ने उपन्यास के प्रसंग में इस मूल्य-सजगता को ''आशाबद्ध स्मृति कहा है । यह रचना में पुराने रूप और नयी चेतना के संयोग से बनती है, अपरिचित वस्तुओं की प्रतीति और प्रस्तुति संभव करती है । यह सर्जनात्मक कल्पना है जो रचना को ताजगी, मौलिकता और नवीनता देती है । विश्व के विकास का कथात्मक चित्रण वाली '' वोल्गा से गंगा'' प्राचीन लिच्छवी सामती संरचना के अंतर्विरोधों को उजागर करते ''जय यौधेय'' व ''सिंह सेनापति'' जैसी रचनात्मक कृतियों में ही नहीं ''विश्व की रूपरेखा'' और मानव समाज'' जैसी इतिहास केन्द्रित रचनाओं में भी यह ऐतिहासिक मूल्य सजगता बराबर मौजूद है । राहुल ''बाहरी हकीकतों को पहली प्रेरणा'' और दर्शन को ''जिन्दगी समझने का रवैया'' कहते हुए जिस जनवादी सौन्दर्यशास्त्र का सूत्र देते हैं उसे समझने में धूर्जटी बाबू की यह बात हमारी मदद करती है ।

राहुल जी की चिंतन दृष्टि ने अपने समय के इतिहास को प्रभावित किया और एक सीमा तक उसे बनाया भी जैसा कि हमने शुरू में कहा था कि राहुल की बात एक ऐसे युग की बात है जिसमें सामाजिक चेतना में गंभीर तब्दीलियाँ आई हैं । समाजवाद का साझा अनुभव हमारे युग के ऐतिहासिक विकास को रूप देने में निर्णायक रहा है। चिंतन और सृजन में उस अनुभव की उपस्थिति बेहतर समाज के निर्माण की दिशा में बहुत बडी प्रेरणा बनी है । बेहतरी के लिए किया जाने वाला संघर्ष अभी खत्म नहीं हुआ है, इसलिए राहुल हमारे लिए और भी ज्यादा जरूरी बन गये हैं, उनके सोच, चिंतन और कार्य-- व्यवहार का अधिक से अधिक प्रचार हो, उनकी कृतियाँ ज्यादह से ज्यादह लोगों तक पहुंचे । सामाजिक, सांस्कृतिक कला-साहित्य के क्षेत्र के साथी इस दायित्व निर्वाह के लिए काम करें, महामहोपाध्याय पंडित राहुल सांकृत्यायन से सम्बद्ध आयोजनों की सार्थकता इसी में है ।

सोहन शर्मा

ए/१२ दीपसागर,
पंतकी बाग के पास,
अंधेरी (पूर्व) बम्बई - ५०००६९

*

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों में निरुपित जीवनदर्शन

भारतीय समाज के नवजागरण में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का नाम उल्लेखनीय है। राहुलजी विषय की गहराई में जाकर उसकी नवलतम उपलब्धियों के सम्बन्ध में विचार कर तत्त्वदर्शन देने वाले प्रकाण्ड विद्वान थे। वह दकियानूसी और पुरानेपन पर मौलिक चिन्तन कर सामाजिक समस्याओं को यथार्थ एवं वैज्ञानिक समाधान के प्रस्तोता थे। मानवता के दु:ख दर्द के प्रति यथार्थ सहानुभूति और करुणामयी दृष्टि रखना उनकी विशेषता थी। राहुलजी ने यायावर जीवन जिया। राहुल जी की मानवतावादी जीवन दृष्टि उनके साहित्य में सर्वत्र मुखर है। राहुलजी के प्रभूत साहित्य में उनके मौलिक उपन्यास-'जीने के लिए' (सन् १९४०), 'सिंह सेनापति' (सन् १९४४), 'जय यौधेय' (सन् १९४४), 'मधुर स्वप्न' (सन् १९४९), 'विस्मृतयात्री' (सन् १९५४), 'दिवोदास' (सन् १९६१) महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। 'शैतान की आँख', 'विस्मृति के गर्भ में', 'जादू का मुल्क', 'सोने की ढाल', 'दाखुंदा', 'जो दास थे', 'अनाथ', 'अंदीना', 'सूदखोर की मौत', 'शादी' नामक राहुलजी के दस अनुदित उपन्यास हैं। यहाँ उनके मौलिक उपन्यासों में निरुपित जीवनदर्शन को अभिव्यक्त करना हमें अभीप्सित है।

उपन्यासकार कथा के माध्यम से मानव जीवन के स्वरूप और समस्याओं का प्रकाशन-उदघाटन करता है। उपन्यासकार का जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण होता है। उसी के अनुरूप वह जीवन व्याख्यायित करता है। यही दृष्टिकोण उपन्यासकार का 'जीवनदर्शन' है। नाटकीय तथा प्रत्यक्ष विधियों के द्वारा उपन्यास में 'जीवनदर्शन' की अभिव्यञ्जना होती है। नाटकीय विधि के अन्तर्गत नाटककार के सदृश उपन्यासकार जीवन की झाँकी प्रस्तुत करता है। उसके कुछ विचार तो पात्रों द्वारा अभिव्यक्त होते हैं और कुछ घटनाओं के संयोजन-संगठन तथा कथा के परिणाम में व्यञ्जित रहते हैं। प्रत्यक्ष विधि में उपन्यासकार कथा के मध्य उपस्थित होकर जीवन की व्याख्या करता चलता है। उपन्यास के स्वाभाविक विकास तथा रोचकता में व्यवधान न होने के लिए नाटकीय विधि अधिक समीचीन है। राहुल जी ने अपने उपन्यासों में मानव जीवन के स्वरूप और उसके उद्देश्यों की विशद् व्याख्या की है। वह व्यक्ति तथा समाज के उत्कर्ष के लिए मानवजीवन को महनीय

मानते हैं । राहुल जी मानवजीवन में यात्राओं तथा प्रेम-व्यवहार की महत्ता को स्वीकारते हैं । समाज को रूढिमुक्त देखने की कामना तथा मनुष्य के कर्तव्य-पालन को मानवजीवन का श्रेष्ठ धर्म स्वीकारने की भावना उन्हें मान्य हैं ।

व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन मानवजीवन के दो रूप हैं । व्यक्तिगत जीवन में मानव निजी अपेक्षाओं की पूर्ति करता हुआ निज की सुरक्षा और विकास के लिए प्रयास करता है । सामाजिक जीवन में वह समाज के विकास को महत्त्व देता है । राहुलजी जीवन के प्रति आशावान् हैं । उत्कर्ष के लिए मानव के सतत प्रयत्न में उनका दृढ विश्वास है । उनका विचार है कि प्रयत्न के विफल होने पर मनुष्य को निराश नहीं होना चाहिए । निराशा जीवन का चिह्न नहीं है । असफलताएँ व्यक्ति को बताती हैं कि अमुक कार्य के लिए उसे अभी और प्रयत्न करने की आवश्यकता है। सफलता अवश्य मिलेगी, प्रयत्न रुकने नहीं चाहिए ।[१] जीवन परिवर्तशील है । गतिशून्य और प्रशान्त जीवन को राहुल जी निस्सार समझते हैं । उनका मानना रहा है कि जीवन सरिता का प्रवाह है जो सर्वदा नवीन बना रहता है । परिवर्तन मनुष्य को प्रियकर नहीं होते क्योंकि उनमें उसे नवीन और अनजानी परिस्थितियों का सामना जो करना पड़ता है । हमें परिवर्तन से घबड़ाना नहीं चाहिए अपितु उसका सामना करना चाहिए । मनुष्य तथा समाज के विकास के लिए परिवर्तन स्वाभाविक आवश्यकता है ।[२] मनुष्य को उच्चादर्शों के लिए जीना चाहिए । उच्चादर्शों के लिए मनुष्य को बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तत्पर रहना चाहिए । स्वदेश के लिए जीवन के त्याग से बढ़कर जीवन का कोई और मूल्य नहीं रह जाता । 'जीने के लिए' उपन्यास का देवराज कहता है - "जीवन को गँवाना ही है तो किसी अच्छे काम के लिए और जिस देश ने इस शरीर को जन्म दिया उसकी करोड़-करोड़ सन्तानों के लिए अर्पण करने से बढ़कर इस जीवन का दूसरा उपयोग क्या हो सकता है ?"[३] आज स्वार्थ का बोलबाला है । प्रत्येक व्यक्ति को केवल अपना सुख और विकास प्रिय है । अपने लाभ के लिए वह समाज का अनर्थ -अहित करने को तत्पर रहता है । दूसरों का उत्कर्ष उसे असह्य है वह तो केवल स्व-हित चिन्तना में निमग्न रहता है । राहुलजी का विचार रहा है कि संसार को सुखमय बनाने के लिए मनुष्य को स्वार्थ का त्याग करना होगा । स्वार्थ से बचने के लिए राहुलजी युक्ति बताते हैं कि मनुष्य परहित के लिए जीना सीखे । दूसरों के हित में अपना हित समझे। ऐसा करने से समाज और मनुष्य का जीवन सुखमय और शांतिप्रधान होगा।[४]

राहुलजी के अनुसार देश-विदेश के भ्रमण से मनुष्य नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करता है । इन अनुभवों से मनुष्य की ज्ञान-परिधि व्यापक-विस्तृत होती है जो

मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में सहायक सिद्ध होती है । यात्रा मनुष्य को उदास नहीं होने देती । समाज में मनुष्य को अनेक प्रकार की विषमताओं का मुँह देखना पड़ता है जिससे उसका मन खिन्न रहता है । प्रकृति सभी पर्यटन-प्रेमियों को समान रूप से प्रसन्नता का वितरण करती है । यात्री, प्रकृति के साहचर्य में सांसारिक दुख चिन्ताओं को भूल जाता है और आन्तरिक संतोष का अनुभव करता है । राहुलजी का संदेश है कि स्वस्थ व्यक्ति को देश-विदेश की यात्राओं के अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए । राहुलजी स्वयं यात्रा प्रेमी रहे हैं। उनका अधिकांश जीवन यात्राओं में व्यतीत हुआ । उनके उपन्यासों के नायक और मुख्य पात्र यात्रा-प्रेमी हैं । इसीलिए उनके उपन्यासों में देश-विदेश की यात्राओं का सजीव वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है । देश-विदेश की प्रकृति के तुलनात्मक चित्र पर्याप्त मात्रा में उनके उपन्यासों में मिलते हैं ।[५] राहुलजी ने प्रकृति के स्थिर[६] और गतिशील[७]-दोनों प्रकार के चित्र खींचें हैं । उन्हों ने अपने उपन्यासों में प्रकृति के सरस और शुष्क दोनों पक्षों के चित्र खींचें हैं पर सरस पक्ष की ओर उनकी दृष्टि अधिक गई है ।[८]

राहुलजी ने प्रेम को जीवन का स्वाभाविक 'रस' माना है । प्रेम, जीवन में आनंद का संचार करता है । प्रेम जीवन से निराश व्यक्ति में स्फूर्ति भरता है । प्रेम प्रेमियों को कर्तव्य पथ पर अग्रसर होने के लिए उत्साहित करता है । 'जीने के लिए' उपन्यास में देवराज और जेनी ब्राऊन, पति-पत्नी, अपने आदर्श प्रेम द्वारा इस धारणा का समर्थन करते हैं । प्राय: देखने में आता है कि विवाह हो जाने पर पति-पत्नी, अन्य लोगों को भुलाकर अपने सुखमय जीवन का अधिक ध्यान रखते हैं किन्तु देवराज और जेनी का विवाह एक दूसरे को कर्तव्य पथ से विचलित नहीं करता है । एक साथ न रहकर वे अपने-अपने देश में अपने-अपने कर्तव्य को निभाते रहते हैं । देवराज भारत में स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेता है और जेनी यूरोप में अन्तर्राष्ट्रीय सेना में भर्ती होकर अपने कर्तव्य का पालन करती है । ये दोनों दाम्पत्य जीवन के प्रेम और सुख की अपेक्षा देश के प्रति अपने कर्तव्यों को अधिक महत्त्वपूर्ण समझते हैं ।[९] राहुलजी उस प्रेम को जो मनुष्य को उसके कर्तव्य और आदर्श से विचलित करे, त्याज्य समझते हैं ।[१०] प्रेम का स्वरूप निर्धारित करते हुए राहुलजी 'जय यौधेय' में लिखते हैं कि प्रेम आत्मा का उत्थान करता है । प्रेम मनुष्य की स्वार्थपरता को समाप्त करता है । यह संकीर्ण अपनत्व की सीमा को तोड़ने की शक्ति देता है । जाति प्रेम, विश्व प्रेम इसी उत्कृष्ट प्रेम के रूप हैं । ऐसी स्थिति में पहुँचकर मानव सारे संसार की रक्षा चाहता है, वह समस्त भेद-भाव को भूल

जाता है ।[११]

राहुलजी परलोकवाद, पुनर्जन्म, ईश्वरोपासना आदि विषयों से सम्बन्धित धार्मिक विश्वासों में आस्था नहीं रखते हैं । उनका मत है कि परलोकवाद और पुनर्जन्म सम्बन्धी विचार लोगों को वर्तमान जीवन के प्रति उदासीन एवं अकर्मण्य बना देते हैं । लोग ऐहिक जीवन को सुधारने की अपेक्षा, दूसरे जन्म के सुखों का स्वप्न देखते रहते हैं । राहुलजी ने धर्म को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा है । वे धर्म को 'कर्तव्य' के अर्थ में लेते हैं और मानवतामात्र के हित को मनुष्य का सबसे बड़ा कर्तव्य अर्थात् धर्म समझते हैं । वह धर्म के लिए ईश्वर की कल्पना की आवश्यकता नहीं समझते हैं । उनका कहना है कि बौद्धमत और जैनमत ईश्वर की सत्ता नहीं मानते हैं फिर भी वे धर्म हैं ।[१२] कोई कार्य केवल एक कारण से नहीं होता अपितु कारण समुदाय से होता है । ऐसी अवस्था में अकेला ईश्वर संसार को बनाने वाला नहीं हो सकता ।[१३] फिर संसार में परिवर्तन कैसे और किन कारणों से होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए राहुल जी कहते हैं कि परिवर्तन विश्व का स्वाभाविक गुण है । इसके लिए किसी ईश्वर या कर्ता की आवश्यकता नहीं । ईश्वरवाद की निन्दा करते हुए राहुलजी 'जय यौधेय' में लिखते हैं कि ईश्वर की कल्पना राजाओं और महाराजाओं ने स्वार्थ के लिए की है । वे ईश्वर की निरंकुशता की आड़ में अपनी निरंकुशता को छिपाए रखना चाहते हैं ।[१४] राहुलजी हिन्दुधर्म के 'परलोकवाद' के कटु आलोचक हैं । उनका मानना है कि परलोकवाद धोखे की टट्टी है । निरंकुश शासकों तथा स्वार्थी लोगों ने दूसरों को अन्धकार में रखने के लिए परलोकवाद की कल्पना की है । मरने के बाद भी जीवित रहने की कल्पना ने परलोकवाद को जन्म दिया है । 'जय यौधेय' का नायक जय परलोक की आलोचना इन शब्दों में करता है – " परलोकवाद के लिए एक क्षण भी देना मैं उसे जीवन का अपव्यय समझता हूँ और जो कोई ऐसा अपव्यय करता है, उसे मैं बेसमझ, धूर्त या पागल समझता हूँ।"[१५] राहुलजी का मत है कि पुत्र पिता का परलोक है और पुत्र ही पिता का पुनर्जन्म है । पिता मरने से पहले अपने शरीर और मानसिक संस्कार का एक अंश माता के शरीर में स्थापित करता है । माता उसमें अपना अंश मिलाती है और नौ मास गर्भ में रखकर उसे शिशु के रूप में अगले लोक, अगली पीढ़ी के लिए देती है । यही पिता का परलोक है और पुनर्जन्म है । राहुलजी का विचार है कि ऐसे परलोक के मानने में किसी को धोखा देने की आवश्यकता नहीं है । ऐसे परलोक के मानने से हम इस लोक की ओर से आँखे न मूँद कर इसी संसार को अच्छा बनाने के लिए प्रयत्न करेंगे ।[१६] परलोकवाद के स्थान पर राहुलजीने लोकवाद की

स्थापना की है। उनका मानना रहा है कि परलोक की कल्पना पर जीवित रहने की अपेक्षा इसी लोक को सुखमय बनाना चाहिए। वर्तमान जीवन को सुखमय बनाने के लिए संसार की सभी चीजों का उपभोग करना चाहिए। उनके उपन्यासों में 'खाओ, पियो और मौज उड़ाओ' के भोगवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन हुआ है।

राहुलजी चाहते हैं कि मनुष्य संसार के सभी उपभोगों का आस्वादन करें क्योंकि सभी चीजें मनुष्य के उपभोग के लिए बनी हैं। माँसभक्षण को वह निन्द्य नहीं समझते हैं। राहुलजी के उपन्यासों के प्राय: सभी पात्र माँसभक्षण में रुचि रखते हैं। माँसभक्षणों के वर्णनों को पढ़ते हुए पाठकों के मन में ग्लानि उत्पन्न हो जाती है पर राहुलजी को ऐसी चर्चा करते हुए, कोई संकोच नहीं होता है वरन् एक प्रकार का उल्लास अनुभव करते हैं। प्राचीन भारत के खान-पान की चर्चा करते हुए राहुलजी का ध्यान घी-दूध की ओर जाने की अपेक्षा 'मदिरा' की ओर अधिक गया है। दो पहर के समय खेतों पर माँस के साथ सुरा भेजी जाती है। अतिथि-सत्कार के लिए मदिरा को आवश्यक समझा जाता है। उत्सवों और समारोहों के समय मदिरा-पान अधिक मात्रा में किया जाता है। स्त्रियाँ मदिरा-पान में पुरुषों से होड़ करती हैं।[१७] राहुलजी स्वच्छन्द भोग के पक्ष में हैं। अपने स्वच्छन्द भोगवादी सिद्धान्त की पुष्टि में राहुलजी ने इतिहास से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। चौथी शताब्दी ईसवी में हिमालय की उपत्यका के ग्रामों में बसंतोत्सव के समय घर की षोडषी को नि:संकोच अतिथिसेवा में समर्पित करते हुए दिखाया गया है।[१८] राहुल जी के पात्र चुम्बनों का आदान-प्रदान नि:संकोच करते हैं। बिना किसी संकोच के अश्लील परिहास किए जाते हैं। 'सिंह सेनापति' उपन्यास में खेतों में काम करने के पश्चात् दोपहर के भोजन से पूर्व सभी विद्यार्थि युवक-युवतियाँ एक साथ तालाब में पूर्णतया नग्न होकर स्नान कर रहे हैं और आचार्य तालाब के किनारे खड़े नि:संकोच टीका टिप्पणी कर रहे हैं - "रोहिणी! तेरे पार्श्व में मेद (चर्बी) जम रहा है। सुमेध! तेरी पेंडुलियाँ पेशी- शून्य मालूम होती है। अनुरुद्ध! नितम्ब पर इतने माँस का बोझ क्यों ढो रहे हो? सरस्वती तो भैंस बनती जा रही है। देखो, उसका पेट जान पडता है निरन्तर गर्भिणी है।"[१९] राहुलजी ने 'मधुर स्वप्न' में दिगम्बरा देवी अनाहिता के मंदिर की प्रशंसा की है। वहाँ परिचारिकाएँ नंगी रहती हैं।[२०] इस प्रकार राहुलजी के उपन्यासों में माँस-भक्षण, मदिरापान और नर-नारियों के विलासी जीवन का नि:संकोच चित्रण हुआ है। राहुलजी जब जीवित थे तो उनसे उनके भोगवादी प्रवृत्ति की ओर ध्यान दिलाया गया। तब फिर राहुलजी ने 'सिंह सेनापति' के विषय प्रवेश में बेपरवाह लिख दिया- "मैं आज की संकीर्ण हिन्दु मनोवृत्ति की परवाह नहीं

करता, मैं परवाह करता हूँ, सत्य की ।[२१] राहुलजी ने मानवजीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं को सत्य माना है । वे खान-पान तथा यौन सम्बन्धो के विषय में अध्यात्मवाद अथवा परम्पराओं की संकीर्णता को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं।

राहुलजी को सामाजिक कुरीतियाँ असह्य हैं । उन्होंने अपने उपन्यासों में ऐसी कुरीतियों पर कठोर प्रहार किए हैं । राहुलजी के अनुसार भारत को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए यहाँ से जाति-पाँति का भेद-भाव मिटाना अत्यावश्यक है । जबतक जाति-पाँति की व्यवस्था समाप्त नहीं होगी, भारत के विकास के लिए किए गए सभी प्रयत्न अपूर्ण रहेंगे ।[२२] समाज में जन्त्र-मंत्र, जादू-टौने, मनोकामना की पूर्ति के लिए मन्नतें मानना, मनोकामना के पूर्ण होने पर पशुओं की बलि चढ़ाना आदि कुरीतियाँ समाज में फैली हुई हैं । राहुल जी ने अपने उपन्यासों में इन कुरीतियों की निन्दा की है ।[२३] राहुल जी ने बाल विवाह, वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह की कुप्रथाओं को भारतीय समाज के लिए कलंक बताया है । उनका विचार है कि समाज के पुनर्निर्माण के लिए लोगों को रुढ़ियों के अन्धानुकरण से बचाना होगा। राहुलजी अतीत का मूल्य तभी तक समझते हैं जबतक वह भविष्य के विकास में सहायक है ।

राहुलजी साम्यवादी हैं । उन्हें श्रमिको तथा शोषितों से पूर्ण सहानुभूति है और शोषक वर्ग से अपरिमित घृणा है । मजदूर रात-दिन परिश्रम करता है पर उसे जो मजदूरी प्राप्त होती है, वह उसके द्वारा किए गए श्रम के बराबर नहीं होती । जिस धन पर मजदूर का नैतिक अधिकार होता है, उस पर पूँजीपति स्वयं अधिकार कर लेता है । शोषक वर्ग दूसरों के धन को हड़प कर विलासिता का जीवन व्यतीत करता है और दूसरी ओर लहू-पसीना एक करने वाले मजदूर पेट भर भोजन के लिए तरसते हैं ।[२४] राहुलजी का विचार है कि आर्थिक विषमता के लिए किसी हर व्यक्ति को दोषी नहीं ठहराया जा सकता । जबतक परिस्थितियों को बदला नहीं जाएगा, आर्थिक विषमता समाप्त नहीं होगी । इसके लिए लोगों को उद्‌बुद्ध करना होगा । देशभर के श्रमिकों और शोषितों को एक होना होगा । एक दिन शोषकों का अन्त अवश्य होगा और भूमि पर स्वर्ग अवश्य उतरेगा ।[२५] राहुलजी को जनशक्ति पर विश्वास है । उनका निश्चय है कि साम्यवाद की स्थापना के लिए किए गए प्रयत्न विफल नहीं होंगे । ऐसा समय अवश्य आयेगा जब सभी लोग समता का अनुभव करते हुए सुखमय जीवन व्यतीत करेंगे ।[२६] राहुलजी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के विरोधी हैं । उनके अनुसार साम्राज्यवाद पूँजीवाद की चरमसीमा है ।[२७] पूंजीवाद में धनिक वर्ग केवल श्रमिकों का शोषण करता है । उनकी मजदूरी को हड़पता है ।

साम्राज्यवाद में निरंकुश शासक अपने राज्य की जनता का शोषण करने के साथ अपनी विस्तारवादी नीति के कारण दूसरे राज्यों को हथियाने की चिन्ता में रहता है। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति रखनेवाले राजाओं की कटु आलोचना करते हुए राहुलजी लिखते हैं कि ये लोग कामुक और दुराचारी होते हैं । भोगविलास में लिप्त रहने के कारण विवेक खो बैठते हैं ।[२८] उन्होंने राजाओं को घृणा से 'रजुल्ले' कहा है । उनका विचार है कि 'रजुल्लो' की चाकरी करने की अपेक्षा भूखे मर जाना या जहर खा लेना अच्छा है ।[२९] राहुलजी, मानव को शर्तिया स्वतंत्र देखना चाहते हैं । वह परतंत्रता के जीवन को मानवता के लिए अभिशाप समझते हैं। राहुलजी आदर्श समाज के लिए गणतंत्रीय शासन प्रणाली की संस्तुति करते हैं ।

इस प्रकार देश-विदेश की विविध परिस्थितियों से जो विशद अनुभव राहुलजी ने प्राप्त किया उसको उन्होंने अपने उपन्यासों का विषय बनाया है । राहुलजी आर्थिक तथा सामाजिक विषमताओं का उन्मूलन कर एक ऐसे आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते हैं जहाँ सभी सुखी हों, सभी के अधिकार समान हों, सभी श्रम करें ।

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

मंगलकलश
३९४, सर्वोदयनगर,
आगरारोड,
अलीगढ़ - २०२००१
(उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१.	(क)	जय यौधेय,	पृ. १०९ ।
	(ख)	दिवोदास,	पृ. ६२ ।
२.		सिंह सेनापति,	पृ. २२० ।
३.		जीने के लिए,	पृ. १४७ ।
४.		विस्मृत यात्री,	पृ. ३० ।
५.		विस्मृत यात्री,	पृ. ३०१ ।
६.		विस्मृत यात्री,	पृ. ३०३ ।

७. जय यौधेय, पृ. ९१.९२ ।
८. (क) मधुरस्वप्न, पृ. २८३ ।
(ख) दिवोदास, पृ. ३५ ।
९. जीने के लिए, पृ. १९८.१९९ ।
१०. सिंह सेनापति, पृ. ८५ ।
११. जय यौधेय, पृ. ११६ ।
१२. वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ. ४७ ।
१३. वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ. ८२ ।
१४. जय यौधेय, पृ. ११६ ।
१५. जय यौधेय, पृ. ११० ।
१६. जय यौधेय, पृ. १११ ।
१७ सिंह सेनापति, पृ. २१०.२११ ।
१८. जय यौधेय, पृ. ८५ ।
१९. सिंह सेनापति पृ. ३१ ।
२०. मधुरस्वप्न, पृ. ७१ ।
२१. सिंह सेनापति, पृ. १३ ।
२२. जय यौधेय, पृ. २०६ ।
२३. जीने के लिए, पृ. ९ और २९ ।
२४. विस्मृत यात्री, पृ. ३८५ ।
२५. विस्मृत यात्री, पृ. ३७६ ।
२६. मधुरस्वप्न, पृ. १८५.।
२७. जीने के लिए, पृ. १९८ ।
२८. जय यौधेय, पृ. २६५ ।
२९. सिंह सेनापति, पृ. १६ ।

*

राहुल के सृजन-चिंतन में ''साइंस'' या प्रयोगात्मक चिंतन की भूमिका

राहुल का सृजन-चिंतन बहुआयामी है, और इस बहुआयामिकता में उनकी साइंस-(विज्ञान) दृष्टि और प्रविधि का अपना विशेष हाथ है । इस सत्य को प्रतिपादित करने से पूर्व इनके साइंस अध्ययन से उद्भूत अन्तदृष्टि को समझना जरूरी हैं क्योंकि वह उनके सृजन-चिंतन में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्धारा के रूप में परिव्याप्त हैं ।

ऐतिहासिक दृष्टि से राहुल नवजागरणकालीन युग की उपज है और यह काल नये ज्ञान के मंथन का भी काल है । इसी नए ज्ञान में विज्ञान के आविष्कारों तथा चिंतन का भी अपना विशेष हाथ है क्योंकि रोमांटिक आंदोलन में, दार्शनिक - सामाजिक विचारों में एक बदलाव आ रहा था । उदाहरण के तौर पर अंग्रेजी तथा हिंदी का रोमांटिक काव्य जहाँ अन्य विचारों से प्रभावित हो रहा था, वही वह विज्ञान की खोजों, प्रविधि तथा विचारों से भी आंदोलित हो रहा था जिसका प्रमाण है उस समय का अंग्रेजी रोमांटिक काव्य तथा हिंदी का छायावादी काव्य जहाँ कवियों की संवेदना 'न्यूनाधिक' रूप से विश्व की यांत्रिक धारणा (न्यूटन), विकासवाद, परमाणु की संरचना, सापेक्षतावाद तथा नक्षत्र विद्या आदि से व्यापक संवेदना का रूप प्राप्त कर रही थी ।[१] राहुलजी पर इस वैज्ञानिक विश्वबोध का प्रभाव किस रूप में पड़ा, इसका विवेचन अपेक्षित है । यहाँ तक मुझे ज्ञात है कि इस काल के रचनाकारों और विचारकों (विज्ञानविज्ञों को छोड़कर) में शायद राहुल ही एक ऐसे 'नक्षत्र' थे जिन्होंने विज्ञान का सबसे अधिक अध्ययन - मनन किया, विज्ञान पर पुस्तकें लिखी तथा अपने सृजन - चिंतन में विज्ञान-बोध को, उसकी प्रविधि को एक 'विवेकसम्मत' आधार दिया ।

सबसे पहले यह स्पष्ट करना जरूरी है कि राहुलजी नें 'विज्ञान' शब्द का प्रयोग भारतीय-दर्शन में प्राप्त विज्ञान शब्द (मन या आत्मा) के अर्थ के अनुकूल किया है, और ''साइंस'' शब्द का प्रयोग आधुनिक विज्ञान के लिए किया है, अतः वे 'साइंस' और 'विज्ञान' को 'समानार्थक' नहीं मानते हैं और मेरी दृष्टि से यह राहुल की पैनी दृष्टि ही थी जो सबसे पहले 'विज्ञान' और 'साइंस' के अर्थ में अंतर करती

है । यह विभेद एक भारतीय दृष्टि को समक्ष रखती है ।

राहुलजी साइंस को एक तार्किक एवं व्यवस्थित अनुशासन मानते हैं जो १७६० के बाद विश्व चिंतन को प्रभावित करता है । वे साइंस को "प्रयोगात्मक चिंतन" की संज्ञा देते हैं । प्रयोग, साम्य और तथ्यों के आधार पर यथार्थ के भिन्न रूपों का वे निगमन करते हैं जो उनके सृजन और चिंतन में "अर्थ" प्राप्त करते हैं। "दर्शन दिग्दर्शन" में वे कहते हैं - "दर्शन का अस्तित्व तो पहले युग में था ही नहीं, और दूसरे युग में वह एक बूढ़ा बुजुर्ग है जो अपने दिन बिता चुका है, बूढ़ा होने से उसकी इज़्ज़त की जाती जरूर है, किंतु असली बात की ओर लोगों का ध्यान तभी खिंचता हैं जब कि वह "प्रयोगात्मक चिंतन- साइंस-का पल्ला पकड़ता है ।"[१] आरंभ में दर्शन का अस्तित्व नहीं था, यह इतिहास सम्मत दृष्टि नहीं है । हाँ यह अवश्य है कि १७६० के बाद दर्शन ही नहीं, वरन् सभी ज्ञान-क्षेत्रों पर साइंस की प्रविधि तथा उसके विचारों का न्यूनाधिक प्रभाव अवश्य पड़ा है । यही कारण है कि राहुलजी वस्तुगत व्याख्या को सबसे अधिक महत्त्व देते हैं जो उनके सृजन (कथा-साहित्य, लेख, आदि) में तथा चिंतन (इतिहास में दर्शन, धर्म, नृतत्वशास्त्र आदि) किसी न किसी रूप में प्राप्त होते हैं । राहुल में यह वैज्ञानिक वस्तुगत व्याख्या के दो रूप सामान्यतः प्राप्त होते हैं । एक वह रूप जो उनके साहित्य-सृजन (कथा-साहित्य तथा शोध आदि) में प्राप्त होता है जहाँ वे साक्ष्यों तथा प्रेक्षण के आधार पर कथा-संरचना में कल्पना और संवेदना का न्यूनाधिक प्रयोग करते हैं, वे इतिहास की एक तरह से पुनर्रचना करते हैं - यथार्थ के आधार पर एक प्रतियथार्थ या 'प्रतिविश्व' की रचना करते हैं । यहाँ पर वे चिंतक के साथ एक रचनाकार के रूप में आते हैं । यदि गहराई से देखा जाए तो उनके साहित्यिक एवं शोधपरक लेखों में साक्ष्यों और तथ्यों के आधार पर विवेचन-मूल्यांकन प्राप्त होता है । दूसरा, वह रूप जो उनके वैचारिक साहित्य में अन्तर्निहित प्राप्त होता है जहाँ वे साक्ष्यों, तथ्यों तथा प्रमाणों के आधार पर एक तथ्यात्मक यथार्थमूलक चिंतन प्रक्रिया को 'अर्थ' देते हैं । ऐसी वैचारिकता या ज्ञान पिपासा के दर्शन उतरे उन ग्रंथों में प्राप्त होते हैं जिनका संबंध, इतिहास, पुरातत्त्व, साइंस, मानव समाज, दर्शन, धर्म तथा समाज-नृतत्त्व शास्त्र आदि ज्ञान-क्षेत्रों से हैं । यह ज्ञानात्मक या वैचारिक पक्ष भी सृजनात्मक है, क्योंकि ज्ञान का स्वरूप तथा उसका विकास द्वन्द्वात्मक और सृजनात्मक है । यह अवश्य है कि साहित्य-सृजन की रचनात्मकता और ज्ञान-क्षेत्रों की रचनात्मकता में गुणात्मक अंतर अवश्य है, पर दोनों क्षेत्रों में सृजनात्मकता का कोई न कोई रूप अवश्य प्राप्त होता है । कथा, साहित्य, आलोचना, आदि में सृजन तत्त्व अधिक

अवाद्य गति का होता है क्यों कि यहाँ कल्पना और संवेदना का वह संयमित रूप नहीं प्राप्त होता है जो हमें ज्ञानानुशासनों में प्राप्त होता है। दूसरा यह तात्पर्य नहीं कि ज्ञानानुशासनों में कल्पना का कोई योगदान नहीं है, सच्चाई तो यह है कि बिना कल्पना के कोई भी अनुशासन अपना विकास कर ही नहीं सकता है। महापंडित राहुलके सारे साहित्य के आधार पर यह कहा जाना अधिक न्यायसंगत होगा कि ज्ञान और सृजन का एक अंत:सम्बंध उनके सारे साहित्य-लेखन के केंद्र में है।

राहुलजी में "साइंस" अध्ययन से उद्भूत एक महत्त्वपूर्व तत्त्व है - उनके लेखन में 'कार्य-कारण' शृंखला का निर्वाह। यह 'कार्य-कारण' दृष्टि मूलत: वैज्ञानिक-पद्धति का एक तत्त्व रहा है जो न्यूटन के समय से चला आ रहा है जो एक तरह से यांत्रिकता को स्थान देता है जिसका परिणाम है विश्व की यांत्रिक-अवधारणा। मार्क्सवाद और बुद्ध-दर्शन के प्रति उनके झुकाव के पीछे कार्य-कारण सम्बंध ही था, और इसी के साथ इन दर्शनों के प्रति उनका विशेष आग्रह इसीलिए था कि इनमें उन्होनें शोषित वर्ग के शोषण तथा संघीय समानता के तत्त्व देखे। बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद में एक उत्पाद से दूसरे नए उत्पाद में उन्होनें परिवर्तन तथा कार्य-कारण के सिद्धांत की प्रतिध्वनि सुनी तथा मार्क्सवाद में उन्होंने राजसाही से लेकर पूँजीवाद - साम्यवाद तक के ऐतिहासिक विकास-क्रम को एक कार्य-कारण की शृंखला में देखा। मार्क्सवाद को वे इसीलिए महत्त्व देते हैं कि यह प्रयोग पर आधारित दर्शन है और वह कार्य-कारण को ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के अन्तर्गत स्थान देता है। राहुलजी के साहित्य में यह दृष्टि अन्तर्व्याप्त है, लेकिन इस कार्य-कारण सिद्धांत की अपनी सीमाएँ हैं, यह कदाचित् राहुलजी नहीं समझ सके। इधर जो "विज्ञान का दर्शन" विकसित हुआ है, वह कार्य-कारण को हर घटना तथा देशकाल के लिए समान रूप से सत्य नहीं मानता है और विश्व की अयांत्रिक व्याख्या (नॉन मैकेनिकल यूनिवर्स) को स्थान देता है। अत: अब अनिश्चितता का सिद्धांत सामने आया है।[३] (इन्डिटरमिज़्म) यह तथ्य भी प्रकट करता है कि मार्क्सवाद हो, या कोई विचार-दर्शन उसका प्रयोग एक तरह से हर स्थान पर नहीं किया जा सकता है क्योंकि हर देश की अपनी परिस्थितियाँ होती हैं, उन्हीं के अनुकूल किसी 'विचार-दर्शन' की प्रासंगिकता होती है। मार्क्सवाद का प्रयोग यदि एक स्थान पर असफल हुआ, तो इसका यह कदापि अर्थ नहीं कि मार्क्सवाद मर गया जैसा कि पूँजीवादी देश प्रचार कर रहे हैं। असल में, कोई भी सशक्त दर्शन (और मार्क्सवाद एक सशक्त दर्शन है जो शोषित वर्ग के पक्ष में है) कभी भी समाप्त नहीं हो सकता है चाहे उसकी प्रासंगिकता पर न्यूनाधिक अंतर आ जाए।

मार्क्सवाद के प्रति राहुलजी की दृष्टि इस तथ्य पर आधारित थी कि मार्क्सवाद विज्ञान या साइंस पर आधारित दर्शन है और वह किसी प्रकार का 'डाग्मा' नहीं है। दर्शन में जिसे मार्क्सवाद कहते हैं, साहित्य में उसे प्रगतिवाद कहते हैं जो राहुल के अनुसार 'कटट' या 'डाग्मा' नहीं है और न कोई संकीर्ण सम्प्रदाय। प्रगतिवाद का काम है, प्रगति के संधे रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतंत्रता का नहीं, परतंत्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम रोम में भीग गयी है, प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गयी है, वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण कर सकता है, उसकी सीमा अगर कोई है, तो यही कि लेखक की कृतियाँ प्रतिगामी शक्तियों की सहायक न हो, उनके शोषण और उत्पीड़न का हथियार न बने।[४] यदि हम साम्यवादी या प्रगतिवादी आंदोलन के इतिहास पर नजर डालें तो कहीं न कहीं, उनकी सोच में ये विरोधी तत्त्व मौजूद रहे हैं जिसकी ओर राहुलजी ने परोक्षत: संकेत किया है। यहाँ पर साइंस से प्रमादित विवेकाश्रित चिंतन (रैशनल थिंकिंग) का प्रभाव स्पष्ट है। यही दृष्टि हमें प्रगतिवाद और कला के सम्बन्ध को लेकर प्राप्त होती है जो आज से ५०-६० वर्ष पूर्व राहुलजी ने कहे थे कि "प्रगतिवाद, यदि वह सही रूप में प्रगतिवाद है तो उस का विरोध कला से नहीं है। प्रगतिवाद कला की अवहेलना नहीं कर सकता। वह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण में बाधक रूढ़ियों को हटाकर सुविधा प्रदान करता है। हमारे लिए देश और काल दोनों के लिए विज्ञान दृष्टि रखना अत्यंत आवश्यक है।"[५] यही नहीं, वे देश और काल के परिप्रेक्ष्य में अतीत के उस रूप को महत्त्व देते हैं जो "गतिशील परम्परा" है तथा ऐतिहासिक द्वन्द्व को समझने का साधन है।" "वोल्गा से गंगा" की कहानियाँ मात्र कहानियाँ नहीं हैं वे हमारे इतिहास को समझने का एक "विवेकाश्रित " रूप है — ये कहानियाँ राजनैतिक - सामाजिक - आर्थिक स्थितियों के द्वन्द्व को इस प्रकार नियोजित करती हैं कि हमारे इतिहास की द्वन्द्वात्मक - भौतिकवादी प्रक्रिया नज़र आ सके। यही दृष्टि उनके इतिहास लेखन के केन्द्र में है, चाहे हम "मध्य एसिया का इतिहास" ले, चाहे 'अकबर' ग्रंथ ले, अथवा 'मानव-समाज' या 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' ले— ये सभी ग्रंथ राजनैतिक इतिहास के अतिरिक्त सांस्कृतिक इतिहास को भी कमोवेश रूप से रेखांकित करते हैं। 'मानव समाज' में वे यूरोपियन समाजवादी विचारकों का क्रमिक विकास दिखाते हैं, 'अकबर' में वे बीरबल, तोडरमल, रहीम तथा तानसेन के प्रदेय को रेखांकित करत हैं; "मध्य एसिया का इतिहास" में वे राजनैतिक इतिहास के साथ सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं दार्शनिक विचारकों का भी संकेत करते हैं और मूलाधार के

(आर्थिक) महत्त्व को स्वीकार करते हुए अधिरचना (कला, साहित्य, विज्ञान आदि) के महत्त्व को भी चगताई वंश, रुरिक वंश (रूस) तथा जारमाही वंश के विवेचन में यथा स्थान देते हैं।

राहुल की इतिहास दृष्टि वैज्ञानिक भौतिकवाद से प्रभावित होने के कारण साक्ष्यों तथा प्रमाणों को अधिक महत्त्व देती है और यही कारण है कि वे इतिहास के लिए पुरातत्त्व को जरूरी मानते हैं। जिस ऐतिहासिक बात को पुरातत्त्व का समर्थन प्राप्त नहीं है, उसकी नींव बालू पर है।[६] यह बात एक सीमा तक सही है क्योंकि इतिहास बिना पुरातत्त्व के भी संभव है जैसे मध्यकाल और आधुनिक इतिहास। पुरातत्त्व, परम्परा को अर्थ देता है, वह ऐतिहासिक इतिहास की पुनर्रचना कहता है तथा लिखित इतिहास में भी सहायक हो सकता है। यहाँ तक तो दोनों का सापेक्ष संबंध है। राहुल ने पुरातत्त्व की सामग्री के आधार पर इतिहास रचना की शुरुवात की जो उस समय 'हिन्दी' में एक 'पहल' थी। राहुल की पुरातत्त्व अवधारणा आज के पुरातत्त्व के समीप है। राहुल ने पुरातत्त्व सामग्री के अन्तर्गत ईंट की बनावट, उसकी गहराई, मूर्तियाँ, शिलालेख, पाण्डुलिपियाँ, जीवाष्म, शीले, चित्र, शिल्प आदि को शामिल किया जिसे आज का पुरातत्त्व काफी सीमा तक मानता है। इन पुरातात्त्विक साक्षों के आधार पर (जो वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा प्राप्त किए गए) किन्नर जाति, जन युग का इतिहास, थारू जनजाति, सिद्धों का साहित्य, तिब्बतीय तथा रूस से प्राप्त पाण्डुलिपियाँ तथा शकों, हूणों तथा मंगोलों का मध्य 'एशियाई' इतिहास की उन्होंने जो रचना की, वह राहुल के व्यापक पुरातात्त्विक साक्षों पर ही आधारित है। असल में, यहाँ पर "प्राच्य विद्या' का भी सहारा लिया गया है। वे जहाँ एक ओर ईंटों की बनावट तथा उनकी गहराई के द्वारा कालनिर्णय करते हैं, तो दूसरी ओर, काल, स्थान और आकार का हवाला देते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि भिन्नभिन्न काल की ईंटों का आकार भिन्न है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के स्थानों (यथा बस्ती, सारनाथ, कसिया मीटा प्रयाग) का जिक्र यहाँ किया गया है जो इतिहास के उन पृष्ठों को खोलते हैं जिनके साक्षों को राहुलजी ने उस समय जुटाया उनके पास वे सुविधाएँ नहीं थी जो आज हमारे पास हैं। आज का पुरातत्त्व अवश्य यह मानता है कि सदैव गहराई के आधार पर प्राप्त वस्तुएँ प्राचीन नहीं होती हैं। असल में, उस वचन में काल-क्रम का निर्धारण स्तरीकरण के आधार पर होता है जिसमें स्तर (स्ट्रेटा) और गड्ढों का विशेष हाथ होता है। दूसरी ओर उत्खनन में प्राप्त सामग्री के आधार पर वे श्रावस्ती, जेतवन, कौशाम्बी के इतिहास का निर्माण करते हैं और इस साक्ष में वे प्राचीन ग्रंथों, स्त्रोतों तथा पाण्डुलिपियों का सहारा लेते

हैं । इस दृष्टि से तिब्बत में प्राप्त पाण्डुलिपयों का विशेष महत्त्व है । सरहपा के दोहा-कोश का संपादन उन्होंने वैज्ञानिक विधि में किया, और इस कार्य के द्वारा वे हिंदी साहित्य के इतिहास के आरंभ को ७५० ई. तक ले गए जिसका आरंभ आचार्य शुक्ल ने १०५० ई. से माना था । यही नहीं, राहुल द्वारा बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु का "अभिधर्मकोश", धर्मकीर्ति का "प्रमाणवार्तिकम्", नागार्जुन का " विग्रहव्यावर्तिनी" के अनुवाद इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि यदि राहुल जी केवल धर्मकीर्ति का 'प्रमाणवार्तिक' ही तिब्बत से प्राप्त कर, उसका संपादन प्रस्तुत कर पाते, तो यही उनके "महापंडित" पद के लिए पर्याप्त होता । लेकिन ज्ञान भंडार को हिंदी में लाने की ललक एवं संकल्प उनमें इतने प्रबल थे जो उनके साहित्य के विविध आयामों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं ।

राहुल की ज्ञान-यात्रा को एक लेख में समेटना दुर्लभ है, फिर भी मैं उनके विज्ञान-अध्येता रूप को यहाँ रखना चाहूँगा । उन्होंने जेल में तथा जेल के बाहर गणित, भौतिकी, रसायन, ज्योतिष आदि का अध्ययन ही नहीं किया, पर "विश्व की रूपरेखा" तथा "वैज्ञानिक भौतिकवाद" जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की । डॉ. कमला सांकृत्यायन ने मुझे यह भी सूचित किया था[७] कि पंडितजी ने उतनी अधिक सामग्री विज्ञान के इतिहास से संबंधित एकत्र कर ली थी कि वे उस पर एक पूरा ग्रंथ लिखने की तैयारी में थे, पर अस्वस्थ होने के कारण वे ऐसा नहीं कर सके और फिर, मृत्यु की गोद में सो गए । हजारीबाग जेल में स्वामी शंकराचार्य से उन्होंने बीजगणित, त्रिकोणमिति, क्वार्डिनेट (निर्देशांक) ज्यामीति का अध्ययन किया । आश्चर्य की बात तो यह है कि सातवीं कक्षा तक पढ़े ज्यामिति विषय के आधारपर और फिर अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के आधारपर वे टाडहंटर की त्रिकोणमिति (Spherical Trigonometry) का अध्ययन कर सके । पुस्तक के आरंभ में राहुलजी ने एक कोरे पृष्ठ पर गोलीय त्रिकोणमिति के कुछ प्रमुख सूत्रों का संकलन भी किया था ।[८] राहुलजी को फलित ज्योतिष से लगाव नहीं था वे आधुनिक ज्योतिष को अधिक महत्त्व देते थे । जेल में उन्होंने ज्योतिष पर एक पुस्तक भी आरंभ की, पर वह पूरी नहीं हो सकी । उसमें उन्होंने नक्षत्र, नीहारिका, धूमकेतू पर काफ़ी लिखा । साथ में तीन बड़े खगोल चित्र भी दिए । तारों का बड़ा मानचित्र भी उन्होंने बनाया जो 'विश्व की रूपरेखा' पुस्तक में दिया गया है ।

राहुलजी विज्ञान या साइंस के अध्ययन को बुद्धिवाद के विकास में आवश्यक तत्त्व मानते थे तथा सृजन के स्तर पर वैज्ञानिक विधि तथा बोध को महत्त्व देते थे। राहुलजी वैज्ञानिक ज्ञान को प्रयोगाश्रित चिंतन का रूप कहते थे और साथ ही,

साइंस को वे विशेषज्ञों तक सीमित ज्ञान नहीं मानते थे, वरन् उनका लक्ष्य था इस ज्ञान को जनसाधारण तक 'जनभाषा' में पहुँचाना। यह कार्य राहुलजी ने किया जो नवजागरणकाली न चेतना को "अर्थ" दे सका। राहुलजी ने सौरमंडल की उत्पत्ति (बिग बॅंग सिद्धांत) से लेकर मानव विकास की अवस्थाओं तक का जो इतिहास प्रस्तुत किया है, वह विकासवादी सिद्धांत, सापेक्षवादी सिद्धांत, यांत्रिक विश्व की धारणा, जीव की उत्पत्ति, पुरातात्त्विक काल विभाजन, निश्चितता और अनिश्चितता के सिद्धांत, तापगतिकीय सिद्धांत तथा ताप चुम्बकीय प्रत्यय आदि को विवेचित करता हुआ, उस वैज्ञानिक दृष्टि को समक्ष रखता है जिसने अपनी प्रविधि एवं विचारों से धर्म, दर्शन नैतिकता, मूल्यवत्ता तथा अन्य मानवीय सरोकारों को 'विवेकाश्रित चिंतन' का आधार दिया। राहुल जी का यह कथन है कि इन सभी सिद्धांतों ने ईश्वर, धर्म, वस्तु-अपने भीतर, आत्मवाद सभी के लिए खतरा उत्पन्न कर दिया। राहुलजी ने दिक् और काल के विवेचन द्वारा आइंस्टीन के सापेक्षवादी सिद्धांत को भी महत्त्व दिया है जो दिक् और रातों को सापेक्ष मानता है, और साथ ही, आबद्धहीन या छोरहीन। इनका अस्तित्व द्रष्टा-सापेक्ष है। समस्त सृष्टि इसी दिक्-काल के चतु:मितीय विस्तार में अवस्थित है। दिक्-काल और गति में एक गहरा सम्बंध होता है। राहुल ने इस विवेचन के द्वारा भौतिक पदार्थ को महत्त्व दिया है जो सृष्टि का आदितत्त्व है।[९] यहीं भौतिकवादी दृष्टि साइंस और दर्शन के अत:सम्बंध को भी "अर्थ" देती है। राहुलजी भौतिक-तत्त्व के आधार पर एक दार्शनिक प्रत्यय की व्याख्या करते हैं। जब हम विज्ञानवाद, आत्मवाद से नीचे उतरकर वास्तविक जगत् में आते हैं तो फिर क्या देखते हैं - भौतिक और प्राकृतिक जगत्, मन की उपज नहीं है, बल्कि भौतिक तत्त्व की उपज मन है। सृष्टि का सारा सिलसिला (साइंस का) यह बतलाता है कि शुरू में परमाणु था, भौतिक तत्त्व था, जीव और अजीव के बीच वाइरस या जीवाणु थे, फिर अनेक कोषी जीव थे, इसके आगे अस्थिहीन, अस्थिधारी तथा सस्तनधारी जीवों का क्रमिक विकास हुआ। यह सारा विकास यह नहीं बतलाता कि आरंभ में 'मन' था, उसने सोचा जगत् हो जाए और अस्तित्व में आ गया। अत: मन भौतिक तत्त्व की उपज है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मन भौतिक तत्त्व मात्र है। भौतिक तत्त्व सदा बदल रहे हैं जिससे परिस्थिति में द्वन्द्व या विरोध उत्पन्न होते हैं जिसमें द्वन्द्वात्मक परिवर्तन-गुणात्मक परिवर्तन होता है। गुणात्मक परिवर्तन हो जाने के बाद हम उसे "वही चीज" नहीं कह सकते क्योंकि गुणात्मक परिवर्तन एक बिल्कुल नयी वस्तु उपस्थित करता है। मन इसी तरह का भौतिक तत्त्वों में गुणात्मक परिवर्तन है।[१०] यहाँ पर द्वन्द्ववाद या बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद की

स्पष्ट गूँज सुनायी देती है । यह परोक्ष रूप से वाद, विवाद, संवाद (थिसिस, एंटीथिसिस और सिन्थैसिस) की वह स्थिति है जिसे राहुलजी ने दार्शनिक विवेचन का आधार बनाया जहाँ उन्होंने उपनिषद्-दर्शन को थीसीस के रूप में, चार्वाक् दर्शन को एंटीथीसिस के रूप में तथा बौद्धदर्शन को सिन्थैसिस के रूप में स्वीकार करते हुए भारतीय दर्शन की द्वन्द्ववादी - भौतिकवादी व्याख्या करते हैं । वे दर्शन को "गंधर्व नगरी" से नीचे उतार कर यथार्थ की भूमि पर लाते हैं और इस प्रकार धर्म तथा दर्शन को वस्तुगत आधार देते हैं, और उसे 'प्रयोग' पर आधारित 'चिंतन' के रूप में स्वीकार करते हैं । वे दर्शन को सामाजिक - आर्थिक आधारों से जोड़ते हैं और साथ ही, दर्शन को एक "आन्तर्राष्ट्रीय घटना" मानते हैं जो धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक उदार और विश्वजनीन है । यदि नवजागरणकालीन और उससे पूर्व के इतिहास को देखें तो हम यह पाते हैं कि यहाँ पर आत्मवादी दर्शनों का प्रभुत्व रहा (अनात्मवादी की अपेक्षा), और इस प्रभुत्व के रहते हुए राहुल ने पहली बार भौतिकवादी-दर्शनों की परम्परा को व्यापक 'अर्थ' ही नहीं दिया, वरन् इस "दूसरी परम्परा" को पूरी भारतीय एवं विश्व दार्शनिक परम्परा में "लोकेट" किया । चार्वाक, बौद्ध, कणाद, धर्मकीर्ति, वसुबंधु तथा दिङ्नाथ जैसे दार्शनिकों के महान् देय को राहुलजी ने हमारे सामने रखा । धर्मकीर्ति का तो उन्होंनें उद्धार किया तथा सरहपाद के साहित्य को हिंदी तथा भारतीय साहित्य में निर्धारित किया ।

भारतीय-दर्शन के विवेचन में राहुलजी ने आत्मवादी और अनात्मवादी दोनों तरह के दर्शनों को वैज्ञानिक वस्तुवादी दृष्टि से विवेचित करते हुए वे उपनिषद् की परम्परा में रैक्व मुनि को एक भौतिकवादी दार्शनिक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं जो यूनानी दार्शनिक की भाँति वायु को मूलतत्त्व मानते थे ।[११] इसी संदर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्थापना राहुल की यह थी कि कणाद पर परमाणुवाद - यूनानी परमाणुवाद - का प्रभाव है क्योंकि कणाद से पूर्व परमाणुवाद का कोई संकेत हमें भारतीय दर्शन में नहीं मिलता । ऐसे अनेक उदाहरणों से राहुलजी एक तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि से यह मत प्रस्तुत करते हैं कि दर्शन की परम्परा के 'द्वंद्व' और 'संवाद' की हमेशा स्थिति रही है और यह कहना कि अमुक जाति निरपेक्ष रूप से दर्शन या किसी अनुशासन को प्रगति के पथ पर ले जाती है, यह ऐतिहासिक द्वंद्ववाद की दृष्टि से संभव नहीं है । यही स्थिति इस्लामी और पाश्चात्य दर्शनों की भी है । यही कारण है कि राहुलजी यूनानी - भारतीय और इस्लाम दर्शनों को एक समग्र रूप में लेते हैं और यह स्थापित करते हैं कि इन्हीं दर्शनों ने मिलकर पूरे विश्व के दर्शनों को विकसित किया । अक्सर लोग यह मानते हैं कि यूनानी दर्शन ही पाश्चात्य दर्शन का

मूलाधार है, लेकिन राहुलजी ''दर्शन दिग्दर्शन'' में मात्र यूनानी दर्शन को ही नहीं, वरन् भारतीय, इस्लामी, मिश्री दर्शनों के 'द्वन्द्व' और 'संवाद' को पाश्चात्य दर्शनों में सहायक मानते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि राहुल का अधिक झुकाव भौतिकवाद तथा साइंस की प्रविधि तथा चिंतन की ओर रहा है और कभी कभी यह प्रभाव इतना अधिक हो जाता है कि वह 'अति' की सीमा छूने लगता है । वे रसेल तथा व्हाइटहेड के दर्शनों को विज्ञानसम्मत मानते हुए भी उनके दर्शनों में ईश्वर या ऐसी किसी 'सत्ता' के आने के कारण उन्हें दुःख होता है जब कि यहाँ पर ईश्वर एक उच्चतम प्रक्रम (प्रोसेस) है जो प्रकृति का सत्य है, वह प्रकृति के साथ है, निरपेक्ष नहीं । असल में, व्हाइटहेड का दर्शन विश्व - संरचना को समझने में एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रम है । दूसरा 'अति' यह है कि वे सभी विज्ञानवादी-दार्शनिकों को न्यूनाधिक रूप से सत्ता और धर्म का पोषक मानते हैं, क्या इसमें ऐसे विचारक और दार्शनिक नहीं हुए जो सत्ता से न जुड़े हो तथा धर्म पर न प्रहार किया हो (धर्मांधता) । विवेकानंद, अरविंद, गाँधी तथा काँट ऐसे ही व्यक्ति थे । इतिहास में ऐसे भी अनेक व्यक्ति हुए है जो सत्ता में रहकर भी जन हितैषी एवं परिवर्तन के पक्षधर रहे हैं जैसे देकार्त, तोतसतोय तथा थामस मोर आदि । इस सबके बावज़ूद यह अवश्य कहा जाना चाहिए कि राहुलजी ने भारतीय दर्शन की भौतिकवादी परम्परा को एक अर्थवान् वैज्ञानिक वस्तुवादी आचार दिया, और इसके पीछे वैज्ञानिक विवेक एवं प्रविधि का अपना विशेष हाथ है, इसे नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता है ।

राहुल की विवेकाश्रित दृष्टि का परिचय वहाँ भी प्राप्त होता है जहाँ वे धर्म (बौद्ध) के प्रति बुद्ध के कथन को एक ''प्रगतिशील'' रूप में ग्रहण करते हैं कि ''कर्म को बड़े(मैं यहाँ पर विचारधाराओं को भी शामिल करूंगा) तरह अपनें कंधे पर लाद कर मत चलो, वह तो मात्र नदी पार करने के लिए है, पार हो जाने पर लादनें के लिए नहीं ।'' राहुल का जीवन - चिंतन इसी मत की जैसे अनुगूँज है क्योंकि वे मतों, धर्मों, विचारधाराओं का निरंतर अतिक्रमण करते रहे, वे सदा आगे बढ़ते रहे, कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा । आज हम धर्म -संप्रदाय को अपने कंधों पर लादे, बिना विवेक के ढोते जा रहे हैं । वेद हो, इस्लाम हो, राम-अल्लाह हो, या कोई भी धर्म हो, वह उस समय इसलिए दिया गया था कि लोग 'पार' उतरे, न कि उसे ढोते रहे । यही कारण है कि राहुलजी इतिहास के वही प्रसंग, मूल्य या विचार लेते हैं जो 'प्रगति' के पथ को साफ कर सके, और यह तभी संभव है जब हम इतिहास के बृहद् कोश से उन्हीं वस्तुओं को ले जो वैज्ञानिक विवेक से निर्वाचित की जाएँ, और व्यर्थ के लादों से बचे । नालंदा हो चाहे तक्षशिला, बौद्ध

दर्शन हो चाहे मार्क्सवाद, धर्मकीर्ति हो या कालिदास, चार्वाक हो या हेराक्लितु, देमाक्रितु हो या कणाद अथवा प्राचीन गणतंत्र हो या रूस की क्रांति - इन सभी को राहुलजी ने अपने समय की माँग के अनुसार ग्रहण किया और इन्हें अपने तरीके से "अर्थ" दिया। व्यापक रूप में कहे, तो इनका उपयोग वे भारतीय जनतंत्र की एक आदर्श व्यवस्था में करना चाहते थे। दुर्भाग्य यह रहा कि यहाँ का प्रजातंत्र उत्तरी दिशा की ओर चल पड़ा जिसके हम सब मुक्तभोगी हैं।

इस प्रकार, हम यह कह सकते हैं कि राहुल के सृजन-चिंतन में साइंस की प्रविधि तथा साइंस के विचारों - अवधारणाओं का एक 'विवेकसम्मत' रूप प्राप्त होता है जो नवजागरणकालीन चेतना का एक अभिन्न अंग है । मेरे विचार से राहुल को ठीक तरह से समझने के लिए और उनके मूल्यांकन के लिए साइंस के "प्रयोगात्मक चिंतन" को सही परिप्रेक्ष्य में रखना होगा जिसका एक प्रयास यह निबंध है।

५ झ १५,
जवाहरनगर
जयपुर(राज.) (३०२००५)

डॉ. वीरेन्द्र सिंह

टिप्पणियाँ

१. इस पक्ष का विवेचन मारजोरी निकाल्सन ने अपनी पुस्तक "साइंस एण्ड इमाजिनेशन में तथा मैंने अनेक पत्र-पत्रिकाओं में और अपनी पुस्तकों "अस्मिता के संवेदन" तथा "विचार-संवेदन: विविध आयाम" में किया है।
२ दर्शन-दिग्दर्शन, राहुल, भूमिका से।
३. फिलासाफिकल एसपेक्ट्स ऑफ मार्डन साइंस, सी.ई.एम. जोड, पृ. ४२
४. साहित्य निबंधावली, राहुल पृ.११५
५. साहित्य निबंधावली, राहुल पृ. ११६
६. विविध प्रसंग, राहुल, पृ. ३२
७. यह उस समय की बात है जब मै राहु। पर पुस्तक लिख रहा था जो "महापंडित राहुल: समग्र मूल्यांकन" के नाम से प्रकाशित हो चुकी है (१९९५)
८. राहुल के साइंस-अध्ययन का सविस्तार सोकेत गुणाकर मुले ने अपनी पुस्तक "स्वयंभू महापंडित" में किया है।
९. विश्व की रूपरेखा, राहुल, पृ.२४
१०. वैज्ञानिक भौतिकवाद, राहुल, पृ.१५४
११. दर्शन दिग्दर्शन, राहुल, पृ. ४७५

*

राहुलजी के धर्म संबंधी विचार

केदार पांडे ऊर्फ दामोदरदास ऊर्फ दामोदराचारी ऊर्फ राहुल सांस्कृत्यायन महान घुमक्कड़ रहे हैं। धर्म के क्षेत्र में भी उन्होंने बहुत घुमक्कड़ी की है। कुछ समय वैष्णव रहे हैं, कृछ समय शैव रहे हैं, कृछ समय आर्य समाजी रहे हैं और अंत में साम्यवाद पर आकर ठहर गये हैं। विभिन्न धर्मों में रहते हुए उन्होंने जो धर्म संबंधी विचार व्यक्त किये हैं; वे विवादास्पद हो गए हैं।

ईश्वर को नकारते हुए उन्होंने लिखा है - अज्ञान का दूसरा नाम ही ईश्वर है। हम अपने अज्ञान को साफ स्वीकार करने में शर्माते हैं, अत: उसके लिए संभ्रांत नाम 'ईश्वर' गढ़ निकाला गया है। ईश्वर-विश्वास का दूसरा कारण असमर्थता और बेबसी है (तुम्हारी क्षय, पृ.१७)। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या हर आस्तिक आदमी असमर्थ और बेबस होता है ? ईश्वर एक अटूट आस्था भी हैं; वैज्ञानिक, साहित्यकार, राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री भी आस्तिक है। क्या आस्तिक (निर्गुण ईश्वर में विश्वास) कबीर की सामाजिक चेतना महत्त्वपूर्ण नहीं हैं ?

राहुलजी ने लिखा है - धर्म से बढ़ कर मनुष्य को पतित, दास, उपेक्षित, घृणास्पद बनानेवाला दूसरा कारण नहीं हो सकता (वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ. ५१)। घ्यातव्य है कि केवल धर्म के कारण ही मनुष्य पतित, दास, उपेक्षित और घृणास्पद नहीं हुआ है। शिक्षा का अभाव, गलत चिंतन, अधिकार-लालसा भी मनुष्य को इस तरफ ढ़केलती है। यदि धर्म इतना ही खतरनाक है तो राहुलजी एक धर्म छोड़ कर दूसरा धर्म क्यों पकड़ते रहे हैं ?

राहुलजी ने कहा है - हिंदुस्तानियों की एकता मजहबों के मेल पर नहीं होगी, बल्कि मजहबों की चिता पर होगी (तुम्हारी क्षय, पृ.१७)। एकता के लिए मजहबों की चिता जलाने की आवश्यकता नहीं है; आवश्यकता है सहनशीलता और समभाव विकसित करने की।

१९३९ में छपरा जेल में पुत्र-जन्म की खबर पा कर राहुलजी ने लिखा है - पुत्र-जन्म की प्रशंसा होनी ही चाहिए, क्योंकि पुत्र ही आदमी का पुनर्जन्म और परलोक है। (मेरी जीवन यात्रा, भाग दो, पृ. ५१५) पुत्र जन्म की इस प्रशंसा का संबंध भी धर्म से ही है। भ्रूण परीक्षण कर, कन्याओं की हत्या का कारण भी यही

प्रसन्नता है ।

राहुलजी ने भक्तिकाल का विरोध किया है - पुनर्जागरण यहाँ होने ही नही पाया । यहाँ तो देश के बड़े बड़े दिमागों को धर्म ने बंधक रख लिया और दार्शनिक लोग अपनी सारी शक्ति संसार को 'माया' सिद्ध करने में खर्च करने लगे (जीने के लिए, पृ. २८) । प्रश्न उठता है - क्या भक्तिकाल मूर्खता का प्रतीक था ? क्या भक्तिकाल को स्वर्णकाल मानना गलत है? भक्तिकाल ने देश की भावात्मक एकता में भी पिरोया था ।

राहुलजी का विचार है - धर्म और संस्कृति एक चीज नहीं है (अकबर, पृ.३४३) । सत्य तो यह है कि धर्म और संस्कृति का चोली दामन का संबंध है; हिंदू संस्कृति को हिंदू धर्म से नहीं अलगाया जा सकता ।

स्वामी दयानंद की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है - मैं दयानंद के एक-एक वाक्य को वेदवाक्य मानता हूँ (मेरी जीवन यात्रा, पृ. २४७) । बौद्ध बनने पर लिखते हैं - अरे कहाँ भगवान बुद्ध और कहाँ वेदों तथा आत्मा परमात्मा का गुलाम दयानंद (मेरी जीवन यात्रा, पृ.२२) । यह तेवर अजीब है ।

रामनाम जपनेवाले गाँधीजी के गाँधीवाद का विरोध करते हुए कहते हैं - हमारी निर्जीवता का कारण सतयुग से चिपटे रहने की प्रवृत्ति है... गाँधीवाद है क्या? वही सतयुग की ओर लौटने का नारा (मेरी जीवन यात्रा, भाग चार, पृ.८५) । प्रश्न यह है कि क्या गाँधीवाद ने कोई सार्थक भूमिका निभाई ही नहीं है ? साउथ आफ्रीका को आज़ादी दिलानेवाले डॉ. नेलसन मंडेला गाँधीवाद के समर्थक क्यों है? गाँधीवाद की आलोचना करने के बाद गाँधी को महापुरुष बताते हैं - बुद्ध के बाद भारत में कोई इतना महान व्यक्ति पैदा हुआ ? (मेरी जीवन यात्रा, भाग चार, पृ.८५)। यहाँ विरोधाभास झलकता हैं ।

बौद्ध बनने के बाद, बुद्ध की आलोचना करते हुए लिखते हैं - वर्ग दृष्टि से देखने पर बौद्ध-धर्म शासक वर्ग के एजेंट की मध्यस्थता जैसा था । संपत्तिवाले वर्ग के लिए बुद्ध का दर्शन विष-दंतहीन सर्प सा हो जाता है । (घुमक्कड़ शास्त्र, पृ.७२) यह लिखने के बाद भी बौद्ध धर्म में बने रहते हैं ।

राहुलजी धर्म को वैयक्तिक विचार बताते हुए लिखते हैं - मजहब को वैयक्तिक विचार से अधिक महत्त्व नहीं मिलना चाहिए (जीने के लिए, पृ. ३४) सच तो यह है कि धर्म का सामाजिक महत्त्व है; हिंदू समाज, मुस्लिम समाज निरर्थक शब्द नहीं है ।

उर्दू के प्रसिद्ध साम्यवादी शायर अली सरदार जाफरी ने लिखा है - सोवियत

संघ ने धर्म के प्रति जो रवैया अपनाया था, वह गलत था। यह बात बिल्कुल सामने आई है। उस जमाने में भी जो लोग थे, वे खामोशी से अपने सिद्धान्तों और नीतियों को कबूल करते रहे; मगर उन्होंने धर्म को नहीं छोड़ा था। धर्म की ऐतिहासिक भूमिका इतनी बड़ी है कि आप उसे सभ्यता या साहित्य से अलग नहीं कर सकते। मसला यह है कि इन्सान धर्म को बेहतरीन मूल्यों को अपनायेगा या उनसे गलत नतीजे निकालेगा (सबरंग, २७ नवंब्रर १९९४)। साम्यवादी शायर अली सरदार जाफरी राहुलजी की तरह धर्म को खारिज नहीं कर रहे हैं; उसके दुरुपयोग पर चिंतित जरूर होते हैं।

राहुलजी धर्म को खारिज करने की बात करते हुए, उसके दुरुपयोग पर भी चिंतित हुए हैं - अपनी राजनीतिक समस्याओं का हल धर्मों में खोजना बड़ी भारी गलती है। धार्मिक विचारों के लिए स्वतंत्रता भले ही रहे, लेकिन राजनीति में धर्म का दखल बहुत ही हानिकारक है। (जीने के लिए, पृ.१४५) राहुलजी का यह विचार बहुत सही है। अभी-अभी राजनीति में धर्म के दख़ल के कारण भयानक दंगा (६ दिसंबर १९९४) हुआ है, जिस के कारण जान और माल की अपार क्षति हुई है।

मार्क्सवादी विरोधी हिंदू मठाधीश करपात्रीजी को फटकारते हुए, राहुलजी ने लिखा है - मार्क्सवाद कहता है कि तुम्हारे सामने जो दुनिया है, वही स्वर्ग में परिणित की जा सकती है। सठों और शोषकों तथा उसके समर्थक करपात्रियों ने दुनिया को नर्क बना रखा है। यदि रास्ते के ये काँटे हटा दिए जांय, तो दुनिया के दुःखों को हटाने में देर नहीं हो सकती (रामराज्य और मार्क्सवाद, पृ.९९)। मार्क्सवाद राहुलजी का अत्यंत प्रिय और अंतिम दर्शन रहा है। ध्यातव्य यह है कि दुनिया को स्वर्ग बनाने के लिए धर्म को हटाना जरूरी नहीं है; जरूरी है धर्म से संबंधित विकृतियों, विसंगतियों, षडयंत्र और स्वार्थपरता को हटाना।

धर्म की कटु आलोचना करने में अपनी पूरी ताकत लगा देने के कारण, राहुलजी के धर्म संबंधी विचार विवादास्पद हो गये हैं; धर्म का सार्थक पहलू भी उनकी नज़र से ओझल हो गया है। धर्म समाज को पहचान, एकता, शक्ति, नैतिकता और मूल्य भी देता है। धर्म को षड्यंत्र, दुरुपयोग, विकृतियों, विसंगतियों एवं स्वार्थपरता से बचाने की आवश्यकता है; उसकी चिता जलाने की आवश्यकता नहीं है। यहीं पर हंसराज रहबर के विचार काबिलेगौर हैं - राहुल की चिंतन शैली तर्क संगत नहीं है। उन्होंने धर्म में फैली कुरीतियों, धर्म के नाम पर होनेवाले दंगे-फसाद, लूट खसोट और धोखाधड़ी को देख कर एक जुमारु रुख अपना लिया है

(समकालीन सृजन, जनवरी – मार्च ९३) आनंद कौशल्यायनजी भी मानते हैं, कि राहुल के विचारों में संगति नहीं है – राहुलजी को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उनके जन्मभर के विचारों की संगति मिलाने का प्रयास न किया जाय । उन्होंने जब जो कुछ सोचा, जब जो कुछ माना, वही लिखा; निर्भय हो कर लिखा । उन्हें किसी प्रकार का लोभ लालच, उनकी मान्यताओं से विमुख न कर सका (राहुलस्मृति, पृ.२९५)। दूसरे शब्दों में, राहुलजी के विचारों में असंगति है, अन्तर्विरोध है; उनके विचार विवादास्पद हैं ।

रशियन क्रांति से प्रेरित होनेवाले, साम्यवाद के उत्कट प्रेमी राहुलजी यदि आज जिंदा होते, तो रूस को बिखरा हुआ देख कर अत्यंत दुखी होते; लेकिन यह देख कर जरूर खुश होते कि साम्यवाद अपने पड़ोस में आ गया है – धार्मिक देश नेपाल में कम्युनिस्टों की सरकार बनी है और दुर्गापूजक बंगाल में कम्युनिस्टों की सरकार क़ायम है ।

५९९/३ शर्मा निवास,
जामेजमशेद रोड,
बंबई – १९.

डॉ. मनोज सोनकर

*

भाषा का स्वरूप

१ - विषय प्रवेश

भाषा का प्रयोग हम सभी करते हैं। इसलिए एक अर्थ में हम सभी जानते हैं कि भाषा क्या है। एरिस्टाटल ने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी कहकर परिभाषित किया था, किन्तु मुझे लगता है कि यदि उसकी परिभाषा भाषीय प्राणी, अर्थात् भाषा का प्रयोग करनेवाले प्राणी, के रूप में की जाय तो वह भी कम उपयुक्त न होगी। वस्तुत: हम अपनी बुद्धि से कम प्रयोग अपनी भाषा का नहीं करते हैं। बिना भाषा के मनुष्य का जीवन हम बिता भी नहीं सकते। किन्तु भाषा से सुपरिचित होने पर भी उसके स्वरूप का विवेचन करना आसान नहीं है। हम जानते हैं कि हवा क्या है, उसके बिना एक पल भी जी नहीं सकते; उसकी कमी होने पर हमारा दम घुटने लगता है जिससे उसकी कमी की चेतना तुरंत हो जाती है। फिर भी हवा के स्वरूप का विवेचन हम सब के लिए सरल नहीं है। यही स्थिति भाषा के साथ भी है।

चूँकि हम सभी भाषा से सुपरिचित हैं, प्रस्तुत विवेचन को मैं भाषा की किसी परिभाषा से आरंभ नहीं करूँगा, बल्कि क्रमिक रूप में, उसके विभिन्न पत्तों के वर्णन के द्वारा, उसके स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा। ऐसे विषयों के विवेचन में ही नहीं, बल्कि साधारणतया परिभाषाएं अधिक उपयोगी नहीं होतीं।

२ - प्रतीक पद्धति

जब मैं किसी से कहता हूँ कि हाथी[1] के पैर बड़े मोटे होते हैं तो ऐसा कहने के लिए या उसके मेरे कथन को समझ ने के लिए, हाथी का उस समय मौजूद होना आवश्यक नहीं है। और यदि हाथी वहाँ है भी तो मेरे कहने का, 'हाथी' शब्द का, हाथी से कोई भौतिक या सत्तात्मक, संबंध नहीं है। 'हाथी' शब्द से भिन्न है, वह हाथी नहीं है। हाथी के पैर बड़े मोटे होते हैं, 'हाथी' शब्द के नहीं। बल्कि उसके या किसी भी शब्द के संबंध में पैर होने या न होने की चर्चा ही निरर्थक होगी। फिर भी 'हाथी' और हाथी में कुछ तो संबंध होगा ही अन्यथा 'हाथी' के द्वारा हम हाथी के विषय में कुछ नहीं कह सकते। इस संबंध को प्राय: प्रतीकीकरण का संबंध कहा जाता है। प्रतीकीकरण एकतरफा होता है। अर्थात् 'हाथी' शब्द हाथी का प्रतीक है, हाथी 'हाथी' का नहीं। प्रतीकीकरण के संप्रत्यय में ही निहित है कि यह संबंध असममित[2] होगा, अर्थात् जब क ख का प्रतीक होगा तो ख क का प्रतीक

नहीं होगा । भाषा को प्रतीकों की बृहद समष्टि कह सकते हैं । अर्थात् भाषा की बनावट करनेवाले तत्त्व वैसे पदार्थ होते हैं । जो किसी न किसी अन्य तत्त्व को प्रतीकित करते हैं, जिनके अस्तित्व का सार इसी में है कि वे अपने से भिन्न किसी अन्य तत्त्व के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हो सकें ।

प्रतीक का जीवन पूरी तरह परार्थ, दूसरे के लिए, होता है और जिस समय वह स्वार्थी हो जायगा, उसका प्रतीकत्व समाप्त हो जायगा । ऊपर हमने 'हाथी' का उदाहरण दिया है । जिस पदार्थ का वह प्रतीक है, वह एक मूर्त, देखे-छूने लायक, पशु है । किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सभी भाषीय तत्त्व या सभी शब्दों के द्वारा प्रतीकित पदार्थ मूर्त होते हैं । शब्दों से कुछ भी, मूर्त या अमूर्त, सत्तावान या सत्तारहित, भौतिक या मानसिक, द्रव्य, गुण, क्रिया या संबंध, इत्यादि प्रतीकित हो सकता है । उदाहरण के लिए 'न्याय' का प्रतीकित अमूर्त है, 'क्रोध' का एक मनोविकार, 'लाली' का एक ऐंद्रिय गुण, 'चलना' का एक क्रिया, 'मायप' का एक संबंध । भाषा द्वारा सब कुछ प्रतीकित हो सकता है और भाषीय प्रतीकीकरण की सीमा बातचीत की, चर्चा की, संप्रेषण सीमा है । जिसका हमारे पास भाषीय प्रतीक नहीं है, उसकी चर्चा ही हम नहीं कर सकते । बल्कि कुछ विद्वान तो यह भी कहते हैं कि हम उसके विषय में सोच-विचार भी नहीं कर सकते ।

प्रतीक कई प्रकार के हो सकते हैं । जैसे काले बादल वर्षा के प्रतीक माने जाते हैं, लाल चेहरा क्रोध का, गांधीजी का चित्र गांधीजी का (क्योंकि हम उस पर फूल माला चढ़ाकर गांधीजी का सम्मान करने जैसा अनुभव करते हैं), पीला रंग शुभ का, तिरंगा झंडा भारतीय राष्ट्रीयता का । कभी-कभी हम व्यक्तिगत प्रतीक भी बना लेते हैं, जैसे कोई व्यक्ति किसी को पत्र लिखकर आखिर में गुणा का चिन्ह (×)लगा दे, यह बताने के लिए कि वह उससे फिर मिलेगा । गुणा का चिन्ह फिर मिलने के वादे का प्रतीक नहीं है, किन्तु यदि कोई चाहे तो इसे उसका प्रतीक बना सकता है ।

काले बादल, लाल चेहरा, गांधीजी का चित्र, ये सभी मूर्त, प्राकृतिक, पदार्थ हैं । हम इनको देश-काल में अनुभव कर सकते हैं, इन्हें दूसरों को दिखा सकते हैं। जिन्हें ये प्रतीकित करते हैं, उनके साथ इनका संबंध भी प्राकृतिक है । काले बादल वर्षा के कारण माने जाते हैं, लाल चेहरा क्रोध का स्वाभाविक लक्षण माना जाता है, गांधीजी का चित्र गांधीजी के शरीर को चित्रित करता है क्योंकि दोनों में संरचनात्मक समानता है । इन सभी प्रतीकों का उनके प्रतीकित पदार्थों से जो संबंध है वह किसी न किसी तथ्य पर आधारित है । इसीलिए ऐसे प्रतीकों को हम

प्राकृतिक या **तथ्यात्मक** प्रतीक कहेंगे । किन्तु पीला रंग और शुभत्व में, या तिरंगा झण्डा और भारत के राष्ट्रत्व में, कोई प्राकृतिक, तथ्यात्मक संबंध नहीं है । यह तो हिन्दू समाज ने मान लिया है कि पीले रंग को शुभ का सूचक समझेंगे, पीले को शुभ का सूचक मानने में किसी प्रकार की स्वाभाविकता या अनिवार्यता नहीं है; किसी भी रंग को शुभ सूचक मानने में कोई तार्किक असंगति भी नहीं है । इस प्रकार के प्रतीकों के व्यवहार में एक प्रकार की स्वेच्छाचारिता, अबाध्यता, निहित रहती है । सफेद बादल को वर्षा का प्रतीक मानने में कुछ अस्वाभाविकता है, तथ्यात्मक विरोध भी, क्योंकि सफेद बादलों का साहचर्य सूखा से, न कि वर्षा से पाया जाता है, किन्तु सफेद कपड़े को शुभ का प्रतीक मानने में ऐसी कोई बाधा नहीं है । ऐसे प्रतीकों को जिनके प्रयोग में कोई बाध्यता नहीं रहती हम **रूढ प्रतीक** कहेंगे । ये कृत्रिम, परंपराजन्य होते हैं ।

प्राकृतिक प्रतीकों के लिए कुछ विद्वान 'चिह्न' शब्द का व्यवहार करते हैं और 'प्रतीक' केवल रूढ़ प्रतीकों के लिए आरक्षित रखते हैं । वस्तुत: 'चिह्न' और 'प्रतीक' में कोई महत्त्वपूर्ण अर्थभेद नहीं है । और, मेरा पक्षपात कम से कम पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के लिए है, इसीलिए हम दोनों को प्रतीक ही कहेंगे और उनके भेद को आवश्यकता पड़ने पर 'प्राकृतिक तथ्यात्मक' और 'रूढ़ परम्पराजन्य' विशेषणों से व्यक्त करेंगे ।

३ – भाषा : रूढ़ प्रतीकों की समष्टि :

हमने भाषा को प्रतीकों की समष्टि कहा है । अब हम इसे और भी स्पष्ट कर कह सकते हैं कि **भाषा रूढ़ प्रतीकों की समष्टि** है । एक अर्थ में तो भाषा के निर्मायक प्रतीक शब्द, या शब्दों के समूह, भी मूर्त पदार्थ हैं क्योंकि ध्वनि के रूप में उन्हें सुना जा सकता है, लिखित चिन्हों के रूप में उन्हें देखा जा सकता है । फिर भी वे उस अर्थ में मूर्त या भौतिक नहीं हैं जिस अर्थ में साधारणतया मूर्त या भौतिक समझे जानेवाले पदार्थ हैं । उदाहरण के लिए 'हाथी' शब्द उसी अर्थ में मूर्त या भौतिक नहीं है जिसमें हाथी मूर्त या भौतिक है । शब्दों और उनके समूहों को मानसिक भी कहना निरापद नहीं है । क्रोध एक मनोदशा है, किन्तु जिस अर्थ में क्रोध को मानसिक कहेंगे, उसी अर्थ में 'क्रोध' को मानसिक नहीं कह सकते । जिन प्रतीकों से भाषा बनी है वे हैं शब्द (जैसे 'हाथी') और शब्दों के समूह (जैसे 'राजा का काला हाथी'); हम इन्हें भाषीय प्रतीक कहेंगे यह जतलाने के लिए कि ये प्रतीकरूप में प्रयुक्त होनेवाले भौतिक-मानसिक पदार्थों से तत्त्वत: भिन्न हैं, अन्यथा उन्हें 'भाषीय' कहना द्विरुक्तिपूर्ण ही है क्योंकि भाषा के अवयव भाषीय नहीं तो और

क्या होंगे !

शब्दों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण भेद का उल्लेख करना यहाँ जरूरी है। एक ही शब्द जैसे 'राम' को कई प्रकारों से लिखा-बोला जा सकता है। यदि हम उसके विभिन्न लिखित या उच्चारित रूपों पर ध्यान दें तो यह समस्या आती है कि उन सब को क्यों एक ही शब्द कहा जाय। उसी तरह, एक वाक्य में कुछ शब्द अनेक बार आ सकते हैं, जैसे 'हरे राम, हरे राम, राम, राम, हरे, हरे' में 'हरे' और 'राम' चार-चार बार आए हैं। एक दृष्टि से इस वाक्य में आठ शब्द हैं, दूसरी दृष्टि से केवल दो ही। ऐसी स्थिति में इस वाक्य के शब्दों की संख्या कितनी कही जाय ? ऐसी समस्याओं के लिए अमरीकी दार्शनिक चार्लस् पर्स ने 'प्ररूप'[३] और 'दृष्टांत'[४] दो तकनीकी शब्दों के प्रयोग द्वारा एक महत्त्वपूर्ण भाषीय भेद की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। उनकी शब्दावलि में प्ररूप शब्द 'राम' एक है और दृष्टांत शब्द 'राम' अनन्त हो सकते हैं क्योंकि प्ररूप 'राम' का दृष्टांतीकरण अनन्त प्रकारों से किया जा सकता है - उसे अनन्त तरीकों से लिखा-बोला जा सकता है। पर्स की शब्दावलि का प्रयोग कर हम कह सकते हैं उपर्युक्त वाक्य में दो प्ररूप शब्द ('हरे', 'राम') हैं और आठ दृष्टांत शब्द ('हरे', 'राम', 'हरे', 'राम', 'राम', 'हरे', 'हरे')। जब हम किसी शब्द को मिटा या काट देते हैं, तो दृष्टांत शब्द को, न कि प्ररूप शब्द को मिटाते या काटते हैं।

भाषीय प्रतीक रूढ होते हैं, न कि तथ्यात्मक क्योंकि उनमें और उनके द्वारा प्रतीकित पदार्थों में कोई तथ्यात्मक या तात्त्विक संबंध नहीं होता है ; दोनों में किसी प्रकार का साम्य, कार्य-कारण संबंध, साहचर्य, आदि कुछ भी नहीं होता है। 'हाथी' और हाथी का संबंध यही है कि 'हाथी' से हम हाथी का बोध करते हैं और हमारे इस बोध के लिए कोई तथ्यात्मक कारण नहीं है। यह तो एक रिवाज या प्रचलन मात्र है कि हम हाथी को 'हाथी' की संज्ञा देते हैं, कोई अन्य नहीं। यदि हम चाहें तो उसे किसी अन्य संज्ञा द्वारा भी संबोधित कर सकते हैं, और वैसा करने में कोई अनौचित्य नहीं होगा। विहार और पूर्वी उत्तर प्रदेशवाले 'कद्दू' शब्द से लौकी समझते हैं, जब कि मध्य और पश्चिमी उत्तर प्रदेशवाले 'कद्दू' को सीताफल का पर्याय समझते हैं, हालांकि 'लौकी' का प्रयोग ये सभी एक ही अर्थ में करते हैं। इसमें किसी का प्रयोग भी गलत नहीं है। वस्तुतः भाषीय प्रयोगों में कोई भी निरपेक्ष रूप में गलत या सही नहीं होता। काले बादल को सूखे का चिह्न समझना तथ्यतः गलत है क्योंकि सूखे के साथ उसका साहचर्य अनुभव से समर्थित नहीं है; किन्तु किसी भी भाषीय प्रयोग का औचित्य या अनौचित्य किसी तथ्य,

प्राकृतिक घटना-क्रम, या नियम से संबद्ध नहीं है । जो प्रयोग प्रचलित है, लोक-व्यवहार में स्वीकृत है, जिसे लोग लिखने-बोलने में चलाते है, समझते हैं, वही सही है और जो ऐसा नहीं है, वह गलत है । सही और गलत भाषीय प्रयोगों के निर्णायक लोक व्यवहार, प्रचलन, संबद्ध भाषा के प्रयोक्ताओं की स्वीकृति है, न कि कोई तथ्य या सत्तात्मक स्थिति ।

उपर्युक्त सत्य को कभी-कभी यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि भाषा की प्रतीक-पद्धति बिलकुल निरंकुश है, उसके संचालन में हम स्वच्छन्द हैं । जिस शब्द को हम जिस पदार्थ का प्रतीक बनाना चाहे, बना सकते हैं । वस्तुतः हमारी स्वच्छन्दता सैद्धांतिक, या संप्रत्ययात्मक अधिक है, व्यावहारिक कम । सिद्धान्ततः हम किसी शब्द को किसी भी अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं, किन्तु ऐसा करना व्यावहारिक दृष्टि से संकटमय होगा क्योंकि, यदि हमारा अर्थ प्रचलित अर्थ से बिलकुल भिन्न है तो, हमारी बात कोई समझेगा ही नहीं और इसलिए भाषा के माध्यम से जिस प्रकार का सहयोग हम अपने भाषीय समुदाय से चाहते हैं, नहीं पाएँगे । उदाहरण के लिए यदि मैं 'कलम' को छाते का और 'छाता' को कलम का प्रतीक बना लूँ तो संभव है कि मेरा लड़का लिखने के लिए मुझे छाता दे दे और वर्षा से बचने के लिए कलम । इस प्रकार भाषा की प्रतीक पद्धति में हमारी सैद्धांतिक स्वच्छन्दता संप्रेषणीयता की माँग से इतनी नियंत्रित रहती है कि भाषा के प्रयोग में हम अपने को पूर्णतः स्वच्छन्द नहीं पाते या अनुभव करते । भाषा के प्रयोग का मुख्य लक्ष्य है अपनी बात को दूसरों तक इस प्रकार पहुँचाना कि वे उसे उसी अर्थ में समझें जो वक्ता (या लेखक) को अभिप्रेत है । यदि अपने शब्दों का प्रयोग कोई वक्ता उनके प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थों में करता है तो यह संभव नहीं हो पाएगा । मनमाने प्रयोग का फल औरों की नजर में अर्थहीन भी दीख सकता है । यदि कलम के लिए 'छाता' का प्रयोग मैं करू और अपने लड़के से लिखने के लिए छाता माँगू तो मेरी बात उसको अर्थहीन अवश्य लगेगी, यदि उसे यह मालूम नहीं है कि जिसे वह 'कलम' शब्द से सूचित करता है उसे मैं 'छाता' से कर रहा हूँ ।

यद्यपि सभी भाषीय प्रयोगों की गरिमा उनकी आधारभूत रूढ़ियों, प्रचलनों, परंपराओं, का परिणाम है, और ये रूढ़ियाँ, प्रचलने, भाषा के प्रयोक्ताओं पर प्रकृति द्वारा थोपी गई नहीं है, बल्कि एक अर्थ में ये मानवी कृति हैं, फिर भी इनका नियंत्रण व्यवहार में कम कठोर नहीं है । ये इस अर्थ में मानवी कृति भी नहीं है कि मनुष्यों के किसी वर्ग, या किसी व्यक्ति ने किसी दिन इन्हें संकल्प द्वारा बनाया हो और इनका पालन करने का निर्णय किया हो । इनको तो हम अपनी सांस्कृतिक

विरासत के रूप में प्राप्त करते हैं, और इनकी शुरुवात या इनका विकास कालक्रम में, करीब-करीब अनजाने, प्रचेतन रूप में होता है । किसी भी भाषीय प्रयोग के प्रथम उदाहरण को निश्चित करना असंभव है, ओर चूँकि भाषा का आदि भाषीय परंपराओं का आदि है, भाषा का आदि बतलाना भी असंभव है । इस विषय में केवल मन को बहलाने वाली कल्पनाएँ ही की जा सकती हैं, कोई बौद्धिक अन्वेषण नहीं हो सकता । यही कारण है कि वर्षों पहले पेरिस की भाषीकी परिषद ने अपनी बैठकों में भाषा की उत्पत्ति पर लिखे निबंधों के पाठ को वर्जित कर दिया था। इसलिए सबसे पुरानी भाषा की खोज भी सारहीन है । जैसा कि नृविज्ञानी और भाषा-शास्त्री एडवर्ड सपीद,[५] ने कहा है, ऐसी कोई भी जाति, प्राचीन से प्राचीन, नहीं है जिसके पास उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पूर्णत: विकसित भाषा न रही हो। किसी भी भाषा, संस्कृत, लैटिन, आदि को प्राचीनतम या आदि भाषा कहने में औचित्य नहीं है ।

भाषीय परंपराएँ हमारे भाषीय प्रयोगों को नियंत्रित करती हैं और यह नियंत्रण काफी कठोर भी होता है, किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उनमें कोई परिवर्तन हम ला नहीं सकते । परिवर्तन की संभावना तो भाषा के संप्रत्यय में ही निहित है। जो भाषा परिवर्तनों को असंभव कर देती है वह कालक्रम में मृत हो जाती है । कुछ विद्वानों का मत है कि संस्कृत भाषा इसीलिए जनता के प्रयोग में न रह पाई और मृत या मृत-जैसी हो गई, क्योंकि वैयाकरणों ने इस प्रकार का अनुशासन उस पर लाद दिया कि उसमें परिवर्तन लाना असंभवसा हो गया था । भाषा के विकास के लिए परिवर्तन और परंपरा में सामंजस्य रखना पड़ता है जो बड़ा ही नाजुक काम है । विचारों के नए प्रवर्तकों को यह सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है क्योंकि तभी वे प्रचलित परंपराओं में परिवर्तन लाकर अपने नए विचारों के लिए आवश्यक पदावली बनाते हैं, किन्तु ऐसे संतुलन या तालमेल के साथ कि परंपरागत भाषा के प्रयोक्ता को वे बिल्कुल दुर्बोध नहीं होतीं । हमने कहा है कि भाषा प्रतीकों की समष्टि है । अब तक हमने यह देखा कि किस प्रकार के प्रतीक भाषा के निर्मायक है । अब हमें यह देखना है कि भाषा समष्टि कैसे है । समष्टियाँ दो प्रकार की होती हैं, बंद और खुली हुई । बंद समष्टि की चहारदीवारी निश्चित होती हैं, उसके अन्दर किसी बाहरी तत्त्व का प्रवेश नहीं हो सकता । लाइबनिज के चिद्‌विंदु[६] बंद समष्टि के अच्छे उदाहरण हैं । भाषा के क्षेत्र में कृत्रिम भाषाएँ, जैसे ज्यामिति की भाषा, तर्कशास्त्र में प्रतिज्ञप्तिकलन[७] की भाषा, बंद समष्टि के उदाहरण हैं । किसी भी सुगठित ज्यामिति में कुछ आद्य पद[८] होते हैं, कुछ स्वयंसिद्धियाँ[९] होती हैं, कुछ परिभाषाएँ होती हैं

जिनके द्वारा आद्य पदों में असमाविष्ट, नए पदों को आद्य, या आद्य पदों द्वारा परिभाष्य, पदों के माध्यम से परिभाषित किया जा सके । उसमें कुछ अनुमान नियम[10] होते हैं जिनके प्रयोग से स्वयंसिद्धियों से निगमन निकाले जा सकते हैं । ऐसी समष्टि में वही तत्त्व रह सकते हैं जो स्वयंसिद्धियों से स्वीकृति अनुमान नियम द्वारा नियमित हो सकते हैं, या स्वीकृत परिभाषाओं द्वारा आद्य के माध्यम से परिभाषित किए जा सकते हैं । न तो कोई नया आद्य पद जोड़ा जा सकता है, न कोई नई स्वयंसिद्धि, न कोई नया अनुमान नियम, न कोई नई परिभाषा । ऐसे किसी भी नए तत्त्व को लाने से समष्टि दूसरी ही समष्टि बन जायेगी ।

भाषा, जिससे हमारा तात्पर्य यहाँ साधारण, प्राकृतिक भाषा से है बंद नहीं बल्कि खुले मुँहवाली समष्टि है । अर्थात्, यह समष्टि तो है, किन्तु ऐसा कि उसमें नए तत्त्व उसके समष्टित्व को विनष्ट किए बिना लाए जा सकते हैं । भाषा समष्टि है क्योंकि उसके निर्मायक प्रतीकों के प्रयोग नियमित तरीकों से होते हैं । उच्चारण, संरचना और अर्थबोध के कुछ नियम होते हैं जो भाषीय अवयवों के प्रयोग में नियमितता लाते हैं, नहीं तो इतनी अराजकता आ जाय कि कोई किसी का अर्थ ही न समझ पाए ।

४. भाषा का नियमानुशासन

किसी भी एकभाषी समुदाय सदस्य एक ही प्रकार के भाषीय नियमों को सीखे हुए होते हैं, या सीखते हैं, इसलिए किसी द्वारा कहे गए किसी नए वाक्य को ठीक-ठीक समझ पाते हैं । यदि वक्ता और श्रोता एक ही प्रकार के भाषीय नियमों का प्रयोग न करें तो वक्ता के वाक्य को, उसी अर्थ में जिस अर्थ में वह प्रयोग कर रहा है, श्रोता का समझ लेना दैवयोग से ही संभव हो पायेगा । किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । प्राय: श्रोता वक्ता की बातों को उसी अर्थ में समझ लेता है जिस अर्थ में उनका समझा जाना वक्ता का अभीष्ट होता है । दोनों द्वारा एक ही प्रकार के भाषीय नियमों का प्रयोग इस तरह के भाषीय आदान-प्रदान के लिए बहुत-कुछ उत्तरदाई है । इसके लिए संदर्भ की जानकारी भी जरूरी है, अर्थ-बोध के लिए यह भी जानना जरूरी है कि किसी बात के कहने का संदर्भ क्या है । संदर्भ का ठीक-ठीक ज्ञान न होने पर यह संभव है कि श्रोता वक्ता की बात गलत, या अभिप्रेत से भिन्न, अर्थ में ले ले । किन्तु केवल संदर्भ का ज्ञान ही सही अर्थ के बोध के लिए पर्याप्त नहीं है । भाषीय नियमों की एकरूपता भी जरूरी है ।

जब कोई व्यक्ति क किसी ख से कुछ कहना चाहता है तो वह अपने विचारों को शब्दबद्ध करता है और अपने वचन (या लेखन) द्वारा ख तक पहुँचता है । यों

कहिए कि वह अपने विचारों को भाषा के लिफाफे में डालकर ख के पास भेजता है। यदि ख ने उसके शब्दों से, या शब्दों के लिफाफे से, उन्हीं विचारों को निकाला जो क के अभिप्रेत थे तो कहेंगे कि ख ने उन्हें ठीक-ठीक समझा। विचारों को शब्दों में डालने के लिए शब्दों को खास ढंग से सजाना पड़ता है और सजाने के ये ढंग भाषीय नियमों द्वारा निर्धारित होते हैं। जिस नियम के अनुसार क अपने शब्दों को सजाता है, उसी नियम के अनुसार उसके शब्दों से उसके आशय निकालने पर ख उसे ठीक ठीक समझ पाता है। यदि नियम-भेद हो गया तो अर्थ भेद भी हो जायेगा। हिन्दी वाक्यरचना का नियम है कि आदर के लिए एकवचन कर्ता के लिए बहुवचन की क्रिया प्रयुक्त की जाती है, जैसे 'भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री शाकाहारी हैं' में किया गया है। मनन लीजिए क उपर्युक्त नियम के अनुसार उक्त वाक्य को ख से कहता है, किन्तु ख इस वाक्य पर हिन्दी के दूसरे नियम 'बहुवचन के कर्ता के लिए क्रिया भी बहुवचन की होती हैं' का प्रयोग कर यह अर्थ निकालता है कि क के अनुसार अभी भारत के कई, एक से अधिक, प्रधान मंत्री हैं और वे सभी शाकाहारी हैं (जैसा कि क का अर्थ होता यदि उसने कहा होता 'भारत के वर्तमान प्रधान मंत्री शाकाहारी हैं')। ऐसी स्थिति में हम कहेंगे कि ख ने क के वाक्य को गलत अर्थ में समझा और उसकी इस गलती की व्याख्या हम यह कह कर करेंगे कि जिस भाषीय नियम का प्रयोग क ने अपने वाक्य की रचना में किया था उससे भिन्न नियम का प्रयोग ख ने उस वाक्य के अर्थ ग्रहण करने में किया।

यदि अपनी व्याख्या को हम और अधिक गहराई में ले जायं तो यह कह सकता हैं कि ऐसा इसलिए संभव हो पाया। ख ने उक्त वाक्य से अर्थ ग्रहण में क के द्वारा प्रयुक्त नियम से भिन्न नियम का प्रयोग किया — क्योंकि जब कर्ता 'ने' चिन्ह लेने का अधिकारी नहीं होता है (जैसा कि 'भारत के वर्तमान प्रधान मंत्री शाकाहारी है' के कर्ता के लिए सत्य है) तो दोनों, भिन्न, नियमों के प्रयोग का परिणाम एक ही प्रकार की भाषीय संरचना होती है। ऐसी स्थिति में संदर्भ के ज्ञान द्वारा ही यह निश्चित किया जा सकता है कि किस नियम का प्रयोग, उक्त वाक्य के वास्तविक, वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ को ग्रहण करने के लिए, करना चाहिए। जिसे भारत के संविधान का संदर्भ मालूम है वह उक्त वाक्य के कर्ता को एकवचन में ही लेगा।

उपर्युक्त विवेचन से भाषीय नियमों और संदर्भों के महत्त्व के साथ-साथ यह भी झलकता है कि कुछ भाषीय संरचनाएं अनेकार्थक भी होती हैं। अर्थात्, एक ही संरचना एक से अधिक नियमों द्वारा गठित, या एक से अधिक अर्थों का वाहक, हो सकती है।

भाषीय नियमों के विषय में एक मत यह है कि उन्हें क्रमबद्ध या समष्टिगत रूप नहीं दिया जा सकता । एक दूसरे से वे इतने असंबद्ध, इतने अनगढ़ अस्तव्यस्त, अनिश्चित रूपरेखा वाले हैं कि उनकी संख्या निश्चित करना, उनको आपस में संबद्ध कर समष्टित करना, संभव नहीं है । इस मत के माननेवालों में कई महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्री और दार्शनिक हैं । परंपरागत व्याकरण प्राय: इसी मत के आधार पर बना था । सभी भाषाओं के परंपरागत व्याकरण के ग्रंथ भाषीय नियमों की सूची भर दे देते हैं, उन्हें किसी समष्टि में सजाते नहीं । संस्कृत व्याकरण इसका अपवाद है। पाणिनी ने व्याकरण को एक निगमनात्मक समष्टि का रूप देने की चेष्टा की थी । आधुनिक सृजनात्मक व्याकरण[११] के प्रवर्तक-समर्थक भाषा-शास्त्री भी यह मानते हैं कि भाषीय नियमों की समष्टि बन सकती है; और, उनका मत है कि विशिष्ट भाषाओं के नियमों का ही नहीं, बल्कि भाषा मात्र के नियमों का, अर्थात् उन नियमों का जो सभी विशिष्ट भाषाओं के लिए वैध हैं, समष्टिकरण हो सकता है । किन्तु ऐसे प्रयत्नों का विवरण या उसकी परीक्षा हम यहाँ नहीं कर सकते क्योंकि वैसा करने का मतलब होगा भाषीकी के अंतस्तल में पैठना जो हमारा लक्ष्य नहीं है ।

हिन्दी के भाषीय नियमों की, उनके समष्टिकरण की संभावना की दृष्टि से, विवेचना और परीक्षा भावी अन्वेषण के लिए, अत्यंत ही आकर्षक और चुनौती-भरा विषय है । किन्तु अभी तक हिन्दी नियमों का विवरण-विवेचन भी सांगोपांग नहीं हो पाया है, उनको समष्टिगत करने की तो बात बहुत दूर की है ।

भाषीय नियमों को ज्यामिति या तर्कशास्त्र के नियमों की तरह निगमनात्मक समष्टि का रूप दिया जा सके या नहीं, किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उनके द्वारा भाषीय प्रयोग अनुशासित होते हैं । कोई भी भाषा का प्रयोक्ता अपने प्रयोगों को ठीक ढंग से अनुशासित कर पाने में गर्व का, भाषीय कुशलता का अनुभव करता है और व्यवहार में सफल भी होता है / कहा जाता है कि आद्य अक्षर का लाघव संपन्न कर सकने पर भाषाशास्त्री पुत्र जन्मोत्सव — जैसा हर्ष मनाता है। इस रूपक का आशय यही है कि भाषानुशासन में अपव्यय के लिए स्थान नहीं है। हम इसमें यह जोड़ना चाहेंगे कि भाषीय अपव्यय के साथ-साथ, भाषीय कृपणता भी, सफल संप्रेषण की दृष्टि से समानतया अवांछनीय है । भाषानुशासन अपव्यय और कृपणता में संतुलन स्थापित करने में सहायक होता है । नियमानुशासन के चलते ही भाषा प्रतीकों की समष्टि बन पाती है, उनका ढेर मात्र नहीं रह जाती ।

नियमानुशासित होने के कारण ही हम गलत और सही प्रयोगों में भेद कर सकते हैं ।[१२] वे लोग भी जो नियमों के स्वरूप के विषय में स्पष्ट ज्ञान नहीं रखते,

या किसी नियम को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं कर सकते, उनके गलत प्रयोगों को पहचान लेते हैं। 'काला गाय' गलत प्रयोग है, और 'काली गाय' ठीक है, यह वे भी जानते हैं जिन्हें हिन्दी व्याकरण के नियम 'विशेषण का लिंग उसके द्वारा विशेषित संज्ञा के अनुसार होता है' की स्पष्ट चेतना या उसे व्यक्त करने की क्षमता नहीं है। किन्तु जब यह प्रश्न उठे कि 'काला गाय' क्यों गलत है तो हमें उपर्युक्त नियम का सहारा लेना ही पड़ेगा। प्रयोगों के सही और गलत होने की व्याख्या नियमों के माध्यम से ही हो सकती है।

हमने देखा है कि भाषीय प्रयोग सृजनात्मक होते हैं, अर्थात् जिसने किसी भाषा को ठीक से सीख लिया है, जो उसका कुशल प्रयोक्ता (वक्ता या लेखक) है, उसमें ऐसी दक्षता रहती है कि वह नए वाक्यों का अर्थ समझ लेता है और स्वयं नए वाक्यों का सृजन कर सकता है। सृजनात्मकता की सीमा नहीं निर्धारित की जा सकती। यदि कोई पूछे कि कितने नए वाक्यों को एक प्रयोक्ता बना-समझ सकता है, तो हम यही कह सकते हैं कि उनकी संख्या अगण्य है, अनन्त है। यही कारण है कि भाषा के अवयवों का, वाक्यों, शब्द-समूहों का सम्पूर्ण, किसी को न छोड़नेवाला, विवरण नहीं दिया जा सकता है। इस तथ्य को पौराणिक ढंग से पाणिनी ने अष्टाध्यायी में व्यक्त किया है। वह कहता है कि, लोकोक्ति के अनुसार, इंद्र को व्याकरणीय नियमों को समझाने के लिए बृहस्पति ने हरएक पद को उद्धृत करने की प्रथा अपनाई, किन्तु हजार कल्पोंतक इस कार्य में लगे रहने पर भी वह भाषीय पदों की गणना समाप्त न कर सका। इसीलिए, जब बृहस्पति-जैसा गुरु, इंद्र-जैसा शिष्य, और हजार कल्पों तक पढने-पढाने का समय मिलने पर भी भाषीय अवयवों की गिनती पूरी न की जा सकी तो हम साधारण प्राणि इस कार्य को कैसे संपन्न कर सकते हैं?

सृजनात्मकता पर आजकल बहुत बल दिया जा रहा है। किन्तु एक आपत्ति कुछ लोग उठाते हैं कि यह आनुभविक सत्य है कि कई बार कोई श्रोता किसी नए वाक्य का अर्थ नहीं समझ पाता है, या कोई वक्ता किसी विशिष्ट प्रकार के नए वाक्य की माँग करने पर उसे नहीं बता पाता है, जब कि संबंधित नियम उन्हें सिखा दिया गया है। इसका उत्तर है कि सृजनात्मकता पर बल देने का मतलब इन तथ्यों को अस्वीकार करना नहीं है। उसका तो आधार सैद्धान्तिक है। सिद्धान्ततः भाषीय दक्षता सृजनात्मक होती है, अर्थात यदि हम आदर्श स्थिति में हों, जब कोई विघ्न-बाधा न हो, तो हम सृजनात्मक रहेंगे। तथ्यतः यदि हम कभी सृजनात्मक नहीं रह पाते हैं तो उसका कारण है हमारा कोई वैयक्तिक दोष या स्थितिजन्य कोई विघ्न।

जैसे, हम किसी नियम को भूल जायें, या किसी शब्द के अर्थ को भूल जायें तो उस नियम के अनुसार रचित, या उस शब्द को अपना अवयव बनाने वाला वाक्य हमारे लिए दुर्बोध हो जायगा। इसी तरह यदि विद्यमान स्थिति ऐसी है कि संभाषण का संदर्भ स्पष्ट नहीं है तो भी हम किसी वांच्छित नए प्रकार के वाक्य को नहीं बना पाते हैं, या दूसरे द्वारा प्रस्तुत करने पर उसका अर्थ नहीं समझ पाते हैं। किन्तु ये कठिनाइयाँ आनुभविक तथ्यात्मक, या स्थितिजन्य, हैं, तार्किक, सैद्धान्तिक, या संप्रत्ययात्मक नहीं।[१३]

भाषा की सृजनात्मकता भी उसके नियमानुशासित होने को सत्यापित करती है क्योंकि उसकी व्याख्या नियमानुशासन से होती है। हम सृजनात्मक इसीलिए बन पाते है कि भाषीय नियमों पर हमारा अधिकार होता है। यदि विभिन्न भाषीय रूप, विभिन्न प्रकार के वाक्य, नियमों द्वारा अनुशासित न होते तो उनकी रचना अनिश्चित होती; उन्हें कौन बना पाएगा और कौन नहीं, इसके विषय में कोई अनुमान संभव नहीं होता। भाषीय दक्षता भाषीय नियमों पर अधिकार करने से आती है, और सृजनात्मकता इसी दक्षता का परिणाम है। इसीलिए नियमानुशासन को सत्य मानना मात्र अनुभव के आधार पर ही नहीं बल्कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भी औचित्यपूर्ण है। इसे अस्वीकार करने पर, भाषा के संचालन को नियमों द्वारा नियंत्रित न मानने पर, सृजनात्मकता की संभावना के लिए कोई उपयुक्त व्याख्या नहीं हो पाती। पश्चिमी भाषिकी में भाषीय नियमों के महत्त्व की चर्चा बहुत-कुछ चाम्स्की की देन है। किन्तु संस्कृत के वैयाकरण नियमों के महत्त्व को समझते थे, और उन्होंने उनका विवेचन भी किया है। **अष्टाध्यायी** में पाणिनी ने संस्कृत भाषा के प्रयोगों को नियंमित बनाने वाले नियमों का विवेचन किया है, न कि संस्कृत वाक्य-विन्यास की विशेषताओं मात्र का।

नियमानुशासन भूत या वर्तमान के उदाहरणों तक ही सीमित नहीं रहता है। जिस नियम के अनुसार हमने अब तक कुछ वाक्यों की रचना की है और दूसरों के कुछ वाक्यों के अर्थ को समझा है, उस नियम के अनुसार भविष्य में भी अनन्त वाक्यों की रचना कर सकते हैं और उसके अनुसार रचित अनन्त वाक्यों के अर्थ को समझ सकते हैं। नियमानुशासन के संप्रत्यय में यह सत्य निहित है। जिस नियम के अनुसार हमने 'नवयुवक राम ने अपनी बूढी सौतेली मां का सम्मान किया' वाक्य को बनाया या उसका अर्थ समझा, उसके अनुसार बनने और समझे जाने वाले वाक्यों की संख्या अनंत है। गणित के नियमों के साथ भी यह सत्य है। यदि किसी विद्यार्थि ने यह अच्छी तरह समझ लिया है कि $(अ+ब)^२ = अ^२+२अब+ब^२$, तो अ

और ब के बदले में बिल्कुल नई संख्याओं की ऐसी लड़ियों से ऐसे फार्मूला वह बना सकता है और दूसरों द्वारा बनाए गए, बिल्कुल नए फार्मूलों को समझ सकता है। अपनी भाषीय सृजनात्मकता का प्रयोग हम लोग प्राय: अप्रयास, बिना किसी सजग प्रयत्न के, हर मौके पर सोच-विचार की बिना अपेक्षा रखे, करते हैं। यह बात सभी, जैसे नैतिक, नियमों के साथ नहीं है। बिना किसी मीनमेख के नीति के नियम 'सत्य सदा बोलना चाहिए' को मानने पर भी ऐसे अनेक अवसर आते है जब हमे गंभीर चिंतन करना पड़ता है कि सत्य बोलें या झूठ। नीतिज्ञों का सुझाव कि 'सत्य बोलो, किन्तु अप्रिय सत्य नहीं' भी सदा हमारी पूरी सहायता नहीं कर पाता।

एक तार्किक प्रश्न यहाँ उठ सकता है। यह तो स्पष्ट है कि भाषीय नियमों की संख्या सीमित होगी और भाषीय अवयवों की संख्या भी। इसीलिए कोई पूछ सकता है कि सीमित संख्या वाले भाषीय अवयवों (शब्दों) पर सीमित संख्या वाले भाषीय नियमों के प्रयोग से उन अवयवों के अनन्त समुदाय, वाक्य, कैसे बन सकते हैं। जब हमने यह कहा कि अपनी सृजनात्मकता के प्रयोग से हम अनन्त प्रकार के वाक्यों को बना-समझ सकते हैं तो हमारा आशय 'अनन्त' से 'संख्यात्मक अनन्त' नहीं था। हमारा मतलब था 'इतनी अधिक संख्या में कि हमारे लिए वह वस्तुत:, भले ही तर्कत: नहीं, अनन्त हो'। फिर भी यह प्रश्न रह जाता है कि कुछ नियमों के प्रयोग से इन असंख्य वाक्यों की रचना कैसे संभव होती है। चूँकि यह तथ्यत: सत्य है कि किसी भी प्रयोक्ता द्वारा बन सकने और समझे जा सकने वाले वाक्यों की संख्या अगण्य है, यह अवश्य ही संभव है, और जब संभव है तो इसकी संभावना की व्याख्या होनी चाहिए।

भाषीय नियमों के स्वरूप की परीक्षा के आधार पर सृजनात्मक भाषाशास्त्रीयों की व्याख्या है कि ऐसा इसीलिए संभव होता है कि कम से कम कुछ भाषीय नियम प्रत्यावर्ती[१४] होते है। प्रत्यावर्ती[१५] नियम उसे कहते हैं जिसका प्रयोग एक ही वाक्य के सृजन में एक से अधिक बार किया जा सकता है। जैसे, 'राम ने श्याम को पीटा जिसने हरि को गाली दिया, जिसने कृष्ण को धोखा दिया, जिसने ---' वाक्य में कर्ता के ने चिह्न संबंधी एक नियम को कई बार प्रयुक्त किया गया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोंगों से वाक्यों की लंबाई ही नहीं बल्कि उनकी संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। और, इस प्रकार बढ़ने वाली संख्या की सीमा भी निर्धारित नहीं की जा सकती। 'राम ने श्याम को पीटा' से 'राम ने श्याम को पीटा जिसने हरि को गाली दिया' भिन्न वाक्य है, और इससे भिन्न 'राम---- जिसने --- जिसने --'। उक्त उदाहरण में जिस नियम के अनुसार 'राम ने श्याम को पीटा' बनाया गया है,

है, उसी नियम का फिर प्रयोग उसी के प्रयोग से उत्पन्न वाक्य अर्थात 'राम ने श्याम को पीटा' पर कर के 'राम ने -- जिसने -- ' को बनाया गया है, और फिर इस पर प्रयोग कर 'राम ने --- जिसने --- जिसने' को । प्रत्यावर्ती नियम अपने (प्रयोग के) परिणाम पर भी प्रयुक्त हो सकता है जिससे उसके प्रयोग का दायरा या विस्तार बहुत बढ़ जाता है । सभी नियम ऐसे नहीं होते हैं । जिस नियम का प्रयोग कर एक गृहिणी दूध से दही बनाती है, उसका प्रयोग, उसके परिणाम दही, पर नहीं कर सकती है । दूध को एक बार ही दही बनाया जा सकता है, फिर दही को दही नहीं बनाया जा सकता ।

ऊपर हिन्दी के एक प्रत्यावर्ती नियम का उदाहरण दिया गया है । किन्तु यह बात हिन्दी या हिन्दी से मिलती-जुलती भाषाओं के लिए ही नहीं बल्कि भाषा मात्र के लिए सत्य है । यदि दो वाक्य 'प' और 'फ' हैं, तो किसी भी भाषा में दोनों का 'और' संयोजक से जोड़कर एक नया, मिश्र, वाक्य 'प और फ' बनाया जा सकता है, और इस संयोजन नियम का प्रयोग अनेक बार किया जा सकता है । उसी तरह 'प और फ' में वियोजक 'या' लगाकर हम 'प या फ' बना सकते हैं, और वियोजन नियम भी प्रत्यावर्ती है ।

भाषीय नियमों के विषय में एक महत्त्वपूर्ण अस्पष्टता है जिस पर अब हमें ध्यान देना चाहिए । एक प्रकार के नियम तो वे हैं जो रूढ़, या परंपराजन्य, प्रचलन से उत्पन्न, हैं, जो भाषीय प्रचलनों, रिवाजों को व्यक्त करते हैं । ये नियम हर भाषा के लिए अलग-अलग होते हैं । हर भाषा का अनुशासन उसके अपने नियमों द्वारा होता है । दो भाषाओं के सभी नियम एक जैसे नहीं हो सकते, अन्यथा उन्हें दो भाषाएँ नहीं कह सकते । हर भाषा की जो अपनी रीतियाँ, उसके प्रचलन, होते हैं वे ही उसके नियमों में व्यक्त होते हैं । जिस भाषा में मैं इस लेख को लिख रहा हूँ वह हिन्दी होने से हिन्दी के नियमों द्वारा अनुशासित है, न कि अंग्रजी के, और हिन्दी के नियम हिन्दी की प्रयोग परंपराओं को व्यक्त करते हैं । ये नियम उच्चारण, वाक्य-रचना, और अर्थ, तीनों से संबंधित प्रचलनों को व्यक करते हैं । अर्थात्, हम कह सकते है कि हर भाषा के तीन पक्ष होते हैं और उन के अनुशासन के लिए तीन प्रकार के, उच्चारण संबंधी, वाक्य-रचना संबंधी, और अर्थ-बोध संबंधी, नियम होते हैं जो अपने-अपने पक्ष का अनुशासन करते हैं ।

किन्तु इन विभिन्न भाषाओं के अपने, भाषीय प्रचलनों को व्यक्त करने वाले, नियमों के पीछे, इनके आधार स्तंभ के रूप में, कुछ ऐसे नियम विद्यमान रहते हैं जो सभी भाषाओं के लिए समान रूप से वैध होते हैं । अंग्रेजी और हिन्दी में प्रश्न

पूछने की क्रिया विभिन्न प्रकार से संपन्न की जाती है । यदि हिन्दी में पूछेंगे 'क्या आप घर् जा रहे हैं ? ' तो इस प्रश्न को अंग्रेजी में पूछने के लिए 'आर यू गोइंग होम ?' वाक्य का प्रयोग करना पड़ेगा । हिन्दी में जो कार्य 'क्या' करता है वह कार्य अंग्रेजी में 'आर' वाक्य में सर्वप्रथम रखे जाने के कारण करता है । अंग्रेजी जैसी परंपरा हिन्दी की इस विषय में नहीं है । इसीलिए प्रश्न करने की क्रिया दोनों भाषाओं में दो विभिन्न नियमों द्वारा अनुशासित की जाती है । किन्तु हम प्रश्न अंग्रेजी में करें या हिन्दी में, किसी प्रश्नवाचक वाक्य को 'सत्य' या 'असत्य' विशेषण से विशेषित नहीं कर सकते । यह एक संप्रत्ययात्मक नियम है कि प्रश्नवाचक वाक्यों को सत्य-असत्य नहीं कहा जा सकता । उनके साथ 'सत्य' या 'असत्य' को विधेय रूप में प्रयोग करने का परिणाम ('क्या आप घर जा रहे हैं ?' सत्य है) अर्थहीन होता है ।

भाषा के माध्यम से हम प्रक्कथन करते हैं जैसे 'दिल्ली भारत की राजधानी है' और विभिन्न भाषाओं में इस वाक्य के विभिन्न रूप होंगे । किन्तु यह नियम, कि जो गंभीरतापूर्वक प्रक्कथन करता है वह उसकी सत्यता में विश्वास करता है, ऐसा नियम है जो उपर्युक्त नियम की तरह सभी भाषाओं में व्यक्त सभी प्रक्कथनों के लिए समानतः सत्य है । किसी भी भाषा में यदि कोई कहता है ' दिल्ली भारत की राजधानी है किन्तु मैं नहीं मानता कि दिल्ली भारत की राजधानी है' तो यह कथन असंगत कहा जायगा ।

वर्णन करना एक जटिल भाषीय क्रिया है । बिना भाषा के प्रयोग के हम किसी वस्तु का वर्णन नहीं कर सकते, और वर्णन करने में --- जैसे सूर्यास्त का, किसी मारपीट का, किसी के चेहरे का ---- भाषा का प्रयोग कई प्रकार से किया जा सकता है । एक भाषा में किये गए वर्णन का रूप दूसरी भाषा में किए गए वर्णन से बिल्कुल अभिन्न नहीं होगा । किन्तु यह नियम कि वर्णन करना मूल्यांकन करना नहीं है, सभी भाषीय वर्णनों के लिए सत्य है । यह वर्णन और मूल्यांकन की संप्रत्ययात्मक भिन्नता को बतलाता है । यदि हम किसी से यह कहते हैं कि तुम्हें अमुक कार्य करना चाहिए था तो इसका आशय होता है कि हम यह मानते हैं कि वह उस कार्य को कर सकता था, उसमें उसे करने की क्षमता थी । यह कहना कि तुम्हें वह कार्य करना चाहिए था यद्यपि कि तुम उसे नहीं कर सकते थे संगतिपूर्ण नहीं है । 'तुम्हें वह कार्य करना चाहिए था' वाक्य का रूप अंग्रेजी में भिन्न होगा क्योंकि 'चाहिए' का पर्याप्त 'ऑट' (ought) अंग्रेजी वाक्य-विन्यास के नियमानुसार संबंधित वाक्य का दूसरा शब्द होगा, जब कि 'चाहिए' हिन्दी वाक्य में अंतिम शब्द

से केवल एक स्थान पहले है । किन्तु उपर्युक्त नियम ऐसे अन्य नियमों की तरह हिन्दी, अंग्रेजी, और सभी अन्य भाषाओं के 'चाहिए' वाक्यों पर समानत: लागू होगा।

भाषा दर्शन उपर्युक्त प्रकार के तार्किक, सार्वभौम, सभी भाषाओं के लिए समानत: सत्य, भाषामात्र के संप्रत्ययात्मक, नियमों का अन्वेषण-विश्लेषण करता है, न कि उच्चारण, वाक्य-विन्यास, या अर्थबोध के उन नियमों का जो विशिष्ट भाषाओं के नियम होते है । चूंकि संप्रत्ययात्मक नियम विभिन्न भाषाओं के परंपराजन्य नियमों, प्रयोग की प्रचलित रीतियों, में व्यक्त होते हैं, इसीलिए किसी एक भाषा की प्रयोग-पद्धतियों पर चितन कर दार्शनिक अन्वेषक उन नियमों की खोज कर सकता है ।[१६]

किसी भाषा के विशिष्ट नियमों और संप्रत्ययात्मक नियमों, दोनों में किसी के उल्लंघन का परिणाम अर्थाघात होगा, किन्तु संप्रत्ययात्मक नियम के उल्लंघन का प्रभाव अधिक सूक्ष्म परन्तु अधिक गंभीर होता है । इसीलिए संप्रत्ययात्मक नियमोंद्वारा भाषा पर किए गए अनुशासन को ठीकठीक पहचानना और विवेचित करना अधिक कठिन है । यह प्रश्नवाचक वाक्य 'आपका काला गाय की मुह क्यों बंद है ?' एक दृष्टि से निरर्थक है किन्तु इसकी निरर्थकता का कारण पता लगाना कठिन नहीं है । किन्तु यदि कोई इस प्रश्न के उत्तर में यह कहे कि यह प्रश्न असत्य है तो कुछ देर तक हम चकित हो जाएंगे, किन्तु अपने चकित होने का कारण आसानी से नहीं समझ पाएँगे । वह हम तभी समझेंगे जब प्रश्नवाचक वाक्यों के प्रयोग में छिपे संप्रत्यात्मक नियम या नियमों का अन्वेषण करेंगे । तभी हम समझ पाएँगे कि प्रश्न स्पष्ट-अस्पष्ट, उपयुक्त-अउपयुक्त, आसान-कठिन, सुखद-दुखद, आदि तो हो सकते हैं, किन्तु सत्य-असत्य नहीं । इसलिए भाषादर्शन का काम बड़ा कठिन है, और उसमें मतभेद की संभावना भी काफी है ।

संप्रत्ययात्मक नियम और भाषाओं के विशिष्ट नियम अर्थपूर्ण भाषीय संप्रेषण को संभव बनाते हैं, किन्तु सार्थक और उपयुक्त भाषा में भेद है । किसी स्थिति में सार्थक होने पर भी भाषा अनुपयुक्त या अवांच्छनीय हो सकती है । भाषा की उपयुक्तता के निर्धारक प्राय: सामाजिक, नैतिक, धार्मिक नियम होते है । 'अप्रिय सत्य न बोलो' नैतिक नियम के अनुसार किसी मरणासन्न व्यक्ति को यह कहना कि आप चंद मिनटों के मेहमान हैं अनुपयुक्त है, तथापि कि यहं पूर्णत: सार्थक है और शायद सत्य भी हो । किसी के नए मकान के लम्बे चौड़े दरवाजे की प्रशंसा यह कह कर करना कि यह दरवाजा तो इतना विशाल है कि दो - दो लाशें बिना रंथी को

टेढा किए निकल सकती हैं भी समाज-प्रथा के अनुसार अनुपयुक्त या अशोभनीय है। किन्तु यदि प्रशंसक यह कहे कि इस दरवाजे से तो बड़ी सुगमतासे दुलहिन की डोली अन्दर अंगना तक जा सकती है, उसकी प्रशंसा सचमुच प्रशंसा होगी। दोनों कथन अर्थवान हैं, किन्तु प्रचलित सामाजिक शिष्टाचार के अनुसार एक अनुपयुक्त, अशोभन, है, ज़ब कि दूसरा उपयुक्त, शोभन। उपयुक्तता के निर्धारक नियम विभिन्न संस्कृतियों में विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। भाषा दर्शन और भाषिकी अर्थपूर्ण भाषा, भाषीय संप्रेषण, को संभव बनाने वाले नियमों का अध्ययन करते हैं, उपयुक्तता के निर्धारक नियमों का नहीं।

५. भाषा के मूल घटक

भाषा के मूल अवयव शब्द हैं या वाक्य, यह भी विवाद का विषय रहा है, किन्तु इस विवाद में कोई विशेष तथ्य नहीं है। एक दृष्टि से वाक्य को, तो दूसरी दृष्टि से शब्द को, मूल अवयव कहा जा सकता है।

किसी भी शब्द के अर्थ को व्यक्त करने के लिए किसी न किसी वाक्य का प्रयोग करना पड़ता है। निदर्शनात्मक परिभाषा[१७] कुछ जातिवाचक संज्ञा शब्दों का अर्थ या प्रयोग समझाने का सबसे सरल तरीका है, जैसे 'अश्व' शब्द का अर्थ कोई अपने लड़के को किसी अश्व की ओर संकेत कर यों बतला सकता है : सामने पेड़ की डाल में बंधे जानवर को अश्व कहते हैं। किन्तु अर्थ विवेचन की इस आदिम प्रथा में भी उसे एक वाक्य का प्रयोग करना पड़ा है। इसलिए लगता है वाक्य ही प्रधान या मौलिक है। किन्तु कभी-कभी हम वाक्यों को शब्दों में तोड़ते हैं, और शब्दों के अर्थ से वाक्य का अर्थ समझते हैं। विदेशी भाषा का सीखने वाला प्रायः इस पद्धति का प्रयोग करता है। मातृभाषा का विद्यार्थि भी इसका प्रयोग कभी-कभी अवश्य करता है। यदि किसी हिन्दी भाषी को 'अश्व' शब्द का अर्थ नहीं मालूम है तो 'कृष्ण का अश्व सफेद था' वाक्य का अर्थ वह 'अश्व' का अर्थ जानवर, यदि अन्य शब्दों के अर्थ उसे ज्ञात है, समझ लेता है। इसलिए भाषीय प्रयोग की वस्तुस्थिति यह है कि वाक्यार्थ का शब्दार्थ पर, शब्दार्थ का वाक्यार्थ पर, निर्भर करने- जैसा लगता है। आपाततः उसमें चक्रक दोष दीख पड़ता है, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। बल्कि दोनों का संबंध इतना घनिष्ट है कि कोई अन्वेषक दोनों में से किसी को भी बुनियादी मानकर भाषा के स्वरूप की व्याख्या कर सकता है। इतना ही ध्यान देना पड़ेगा कि किसी से आरंभ करें, दोनों के संबंध की घनिष्टता को न भूलें।

जिस चक्रक दोष की ओर हमने संकेत किया है, वह वास्तविक नहीं है

क्योंकि यदि भाषा पर संश्लेषणात्मक दृष्टि डालकर हम यह जानना चाहें कि वह किस प्रकार मानव-संप्रेषण में अर्थवती होती है तो हमें वाक्यों को ही उसके आदि तत्त्व मानना पड़ेगा। भाषा सदा वाक्यों में ही प्रयुक्त होती है। जहाँ हम एक शब्द मात्र को उच्चरित करते है जैसे 'पानी' तो हमारा वस्तुत: अभिप्राय किसी वाक्य से रहता है, जैसे 'पानी लाओ'। 'पानी' इस स्थिति में 'पानी लाओ' का संक्षेप मात्र है। भाषीय संप्रेषण विभिन्न भाषीय क्रियाओं, जैसे कथन करना, प्रश्न पूछना, आदेश देना, वचन देना, वर्णन करना, मूल्यांकन करना, गाली देना, बधाई देना, उपदेश देना, आदि द्वारा होता है, और किसी भी भाषीय क्रिया को संपन्न करने के लिए वाक्य भाषा का न्यूनतक खंड है। संप्रेषण की दृष्टि से वाक्य को ही मौलिक या आदिम खंड मानना पड़ेगा। इसलिए जो भाषीय संप्रेषण के अध्ययन में रुचि रखते हैं, उनके लिए वाक्य ही मूल है, और उसके आधार पर भाषीय संप्रेषण से संबंधित सिद्धान्तों की रचना वे अच्छी तरह कर सकते हैं।

किन्तु यदि हम भाषा की संरचना में रुचि रखते हैं, यह जानना चाहते हैं, कि अर्थपूर्ण संरचनाएँ किस प्रकार गठित होती हैं, तो हमें शब्दों तक जाना ही पड़ेगा, क्योंकि सभी वाक्य-संरचनाएं शब्दों में विभाज्य हैं, और वाक्यों का अर्थ इस प्रकार की समष्टि है कि उसे शब्दों के अर्थों से पुनर्रचित भी किया जा सकता है। संरचना का अन्वेषण तो यह भी सिद्धान्तत: सत्य मानता है कि वाक्यार्थ से शब्दार्थ, और शब्दार्थ से वाक्यार्थ, तक पहुंचने में कुछ नष्ट नहीं होता। किन्तु यह ऐसी सैद्धान्तिक मान्यता है जो एक आदर्श स्थिति की कल्पना बरती है, जिसे आदर्श के रूप में ही, न कि तथ्य-निरूपण के रूप में, ग्रहण किया जा सकता है। इसमें कोई दोष भी नहीं है क्यों कि कई वैज्ञानिक अन्वेषणों में आदर्शात्मक स्थितियों, माडलों को मानकर चलने से अनुसंधान सुगम हो जाता है। पूर्णत: घर्षण रहित चरखी भौतिकी का ऐसा ही माडल है, क्यों कि जैसी दुनिया की बनावट है ऐसी चरखी बनाई नहीं जा सकती। एक किलो चावल और हजार ग्राम चावल का वजन गणित की दृष्टि से बराबर है। किन्तु संभव है, शायद निश्चित भी हो, कि हजार बार एक-एक ग्राम कर तौलने पर वजन ठीक एक किलो न आ पाए। फिर भी गणिततज्ञ के लिए एक किलो हजार ग्राम के बराबर ही रहेगा। इसलिए संभव है कि वाक्यार्थ को शब्दार्थ में तोड़ने पर वाक्यार्थ का कोई अंश, जैसे मुग्दर को तोड़ने से कुछ झूरी गिर ही जाती है, नष्ट हो जाय। फिर भी सिद्धान्त के रूप में, भाषा की विभिन्न संरचनाओं के स्वरूप के विषय में सम्यक ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से, शब्दों को भाषा का मूल तत्व मानने में कोई दोष नहीं है।

शब्दों को मूल घटक मानने में एक खतरा रहता है जिसे आसानी से टाला जा सकता है । खतरा यह है कि कोई व्यक्ति कहीं समझने न लगे कि भाषा शब्दों की ढेर मात्र है; अतः शब्दों पर अधिकार मात्र से भाषा पर अधिकार किया जा सकता है । अर्थात् मुझे यदि हिन्दी के सबसे बड़े कोष के सारे शब्दों के अर्थ याद हो जाँय तो हिन्दी भाषा पर मेरा अधिकार हो जायेगा, और यह अधिकार उन सभी व्यक्तिया के अधिकार से अधिक तगड़ा होगा जिन्हें कोष के सारे शब्दों का ज्ञान नहीं है । स्पष्ट है कि ऐसा सोचना निरा बचपना ही होगा और इसका कारण है भाषा के स्वरूप के विषय में अत्यंत ही भ्रामक धारणा । भाषा शब्दों में विभाज्य है, किन्तु शब्दों का संग्रह मात्र नहीं है । सभी भाषीय संरचनाएँ शब्दों ही से बनी है, किन्तु सभी शब्दों के अर्थ को जान लेना सभी संरचनाओं के अर्थ को जान लेना नहीं है।

यदि हम याद रखें कि कोई भी शब्द अपना दायित्व तभी पूरा कर पाता है, अर्थात् अर्थ का वाहक हो पाता है, जब कि वह किसी सार्थक वाक्य में प्रयुक्त होता है, तो भाषा को शब्दों का ढेर मात्र समझ लेने का ख़तरा नहीं रह जायेगा । शब्द तभी वस्तुतः शब्द, भाषीय संप्रेषण के साधक, बन पाते हैं जब वाक्यों के रूप में सजाए जाते हैं । आँख में जगह मिलने पर ही कालिख काजल बनती है, अन्यथा कालिख ही रहती है । लकड़ी का छोटा सा टुकड़ा गुल्ली-डंडे के खेल में ही गुल्ली बनता है, अन्यथा नहीं । शब्द वाक्य प्रयोग से अलग ध्वनि या चिह्न मात्र ही रहते हैं । भाषाशास्त्री तो शब्दों को भी विश्लेषित कर ध्वनिग्राम, पदग्राम, तक जाता है, किन्तु यद्यपि उसके लिए ध्वनिग्राम और पदग्राम भाषा के मूलतत्त्व हैं, भाषा को ध्वनिग्रामों और पदग्रामों का संघात मात्र वह कभी नहीं कहना चाहेगा ।

भाषा दर्शन मुख्यतः भाषा के संप्रेषण का अध्ययन करता है, उन संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक समस्याओं का जो उसके संप्रेषण का साधन होने में निहित हैं । भाषीय संरचनाओं में यदि वह कभी रुचि लेता है तो इसीलिए कि भाषीय संप्रेषण में उनका योगदान रहता है । इसलिए दार्शनिक अध्ययन में हमारा ध्यान वाक्यों पर अधिक रहता है, और यदि हम कभी किसी महत्त्वपूर्ण पद या शब्द के व्यापार का विवेचन करते हैं तो भी हमारा आशय उसके वाक्यीय प्रयोगों से रहता है, न कि उसके शब्द-रूप से ।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद

स्टेडिअम के सामने
प्रेमचंद्र मार्ग, राजेन्द्र नगर
पटना

टिप्पणियाँ

१. किसी शब्द की चर्चा के लिए उस शब्द को एकक चिन्हों ' ' के अन्दर रखा जाता है । इसीलिए 'हाथी' शब्द की चर्चा के लिए 'हाथी' लिखते हैं ।

२. Asymmetrical

३. Type

४. Token

५. देखिए Geobbrey Luck, Semanties (Peliean) पृ. ४०.

६. Monad

७. Propositional Calculus

८. Primitive Terms

९. Axioms

१०. Rules of Inference.

११. Generative Grammar

१२. सर्ल जॉन, स्पीच ऐक्ट्प, पृं. ४२

१३. चास्की, नोअम, ऐस्पेक्ट्स ऑफ दी थियोरी ऑफ सिन्टैक्स, एम् .आई. टी.प्रेस. १९६५, पृ.३

१४. कैट्ज, जे. जे., दि फिलासफी आफ लैग्वेज, पृ. १२२-१२३

१५. Rcursive

१६. सर्ल (स्पीच ऐक्ट्स, पृ. ३६) का कहना है कि जो विभिन्न भाषाएँ जिस हद तक एक-दूसरी में अनूदित की जा सकती हैं, उनका प्रयोग-पद्धतियों को इसी प्रकार के समान, मौलिक, संप्रत्ययात्मक, नियमों की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ कहा जा सकता है । अन्तर्भाषीय अनुवाद की संभावना को वे सामान्य भाषीय नियमों की वास्तविकता का चिह्न या सूचक मानते हैं । किन्तु इस तर्क को बहुत तूल नहीं दिया जा सकता क्योंकि कुछ लोग यह भी मानते हैं कि हर भाषा की अपनी अलग प्रतिभा होती है जिससे एक भाषा में कही गई बात को पूर्णतः दूसरी भाषा में अनूदित नहीं किया जा सकता ।

१७. Ostensina definition

*

मानवीय मूल्यों के सन्दर्भ में शांकर-वेदान्त की भूमिका

मनुष्य को विश्व का श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है, फिर भी मानव अस्तित्व जटिल, विरोधाभासपूर्ण और बहुआयामी है। मनुष्य मात्र जैविक संरचना नहीं है, उसमें विवेकात्मक चेतना भी है। यही कारण है कि जहाँ पशु-जीवन में विकास और पतन की अवधारणा अर्थहीन प्रतीत होती है, वहीं मनुष्य में विकास और पतन की असीम संभावनाएँ हैं। वह विकास की दिशा में आगे बढ़े तो देवत्व से ऊपर उठ सकता हैं और पतन की दिशा में नीचे गिरे तो पशु से भी नीचे गिर सकता है। मनुष्य का विवेक ही उसे मनुष्यत्व प्रदान करता है, जो उसे दया, क्षमा, सहिष्णुता, सौमनस्य, सहयोगादि मानवीय मूल्यों से युक्त कर नैतिक बनाता हैं।

लेकिन आज मानवीय मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है। मनुष्य पहले अधिक निष्पाप और पवित्र था पर आज उसकी अवनति हो रही है। वह मानवीय मूल्यों को ताक में रख अनैतिकता, अन्याय, शोषण, भ्रष्टाचार, ईर्ष्या व अहंकार से युक्त विलासी जीवन व्यतीत करने की दुराकांक्षा रखता है। हमारे जीवन में होने वाले मूल्यों के इस पतन को रोकने तथा मानवीय मूल्यों को पुनःप्रतिष्ठित करने में अद्वैतवेदांती शंकराचार्य का दर्शन महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। शंकर पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनके दर्शन में नीतिमीमांसा को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। वस्तुतः यह आरोप निराधार है। व्यावहारिक स्तर पर शंकर शम-दयादि साधन चतुष्टय समेत समस्त नैतिक मूल्यों को व्यक्ति के लौकिक व सामाजिक विकास के लिए आवश्यक स्वीकार करते हैं। ब्रह्मज्ञान हो जाने पर व्यक्ति समत्वदृष्टि को प्राप्त कर लेता है, फलस्वरूप उससे कोई अनैतिक कार्य होता ही नहीं है। वह सब भूत प्राणियों को आत्मवत् ही देखता है।

मानवीय मूल्यों के ह्रास का कारण यदि हम शंकर के दर्शन में ढूँढने का प्रयास करें तो हमें विदित होता है कि विषयासक्ति, अहंकार, अज्ञानादि मुख्य हैं। हर प्राणी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार किसी न किसी विषय पर आसक्त होकर प्राण तक गँवा देता है। इसे उदाहरण के रूप में बताते हुए शंकर कहते हैं कि शब्द पर मोहित होकर हिरण, स्पर्श पर हाथी, रूप पर पतंगा, रस पर मछली और गंध

पर मोहित होकर भँवरा मृत्यु को प्राप्त होता है किन्तु मनुष्य तो इन पाँचों पर ही मोहित रहता है। ये विषय ही उसके विनाश का कारण बनते है।[1] 'वस्तुत: आसक्ति से ही सभी दुर्गुणों का जन्म होता है। अहंकार और अज्ञान भी आसक्तिजनित ही है। अहंकार का अर्थ ''मैं'' पन है, जिससे व्यक्ति आत्म और अनात्म अर्थात् प्रकृति में भेद नहीं कर पाता। इस अज्ञानवश ही वह प्रकृति को सब कुछ मान लेता है। अज्ञान के कारण हमारा मन स्वयं विषयों के प्रति आसक्त होकर उनसे बँधता है, विषय उसे नहीं बाँधते। इसके विपरीत विवेक-वैराग्यादि गुणों के उत्कर्ष से शुद्धता को प्राप्त हुआ मन मुक्ति का हेतु होता हैं।

मनुष्य आज जिस अज्ञान में जी रहा है, जिससे वह ब्रह्मचेतना को भूलकर जड प्रकृति को ही सृष्टि का आधार एवं कारण मान बैठा है, जिससे उसको सारे दुख, संताप, असंतोष, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, रागादि घेरे हुए हैं। इनको मिटाने की एकमात्र औषधि ब्रह्मज्ञान है, जिसके द्वारा हम सुप्त हुए मानवीय मूल्यों को व्यवहृत कर सकते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार अनन्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति अत्यधिक रूप में मनुष्य नीति के ही अन्दर होती है और इसलिए मनुष्य नैतिक तथा तार्किक क्रियाशीलता का अधिकारी है।[2] अद्वैतवेदांत का मत है कि एकमात्र तात्त्विक पदार्थ निर्गुण, कूटस्थ नित्य, सच्चिदानन्द ब्रह्म है तथा जीव और ब्रह्म एक ही है। शंकर आत्मा व ब्रह्म में एकत्व बताते हुए कहते हैं कि आप ही ब्रह्म हैं, आप ही विष्णु हैं, आप ही इन्द्र हैं, आप ही शिव हैं और आप ही यह सारा विश्व हैं। यहाँ शंकराचार्य की आलोचना करते हुए कहा जाता है कि यदि ब्रह्म ही सब कुछ है तो मानवीय मूल्यों और नैतिक पुरुषार्थ की आवश्यकता ही नहीं है। वस्तुत: यह विचार नित्य व लौकिक में भेद न करने के कारण उत्पन्न हो सकता है। ब्रह्म की एकता का अध्यात्मिक सत्य लौकिक व्यवहार के स्तर पर किसी भी प्रकार से नैतिक भेदों की यथार्थता पर प्रभाव नहीं डाल सकता। शंकर कहते हैं, ''मिट्टी की कुछ वस्तुओं की हम कामना करते हैं, जैसे-हीरे, पन्ने आदि, जबकि कुछ अन्य वस्तुओं, जो उन्हीं के समान मिट्टी की बनी है, जैसे-मृत शरीर आदि, से हम दूर भागते हैं''[3] ठीक इसी प्रकार यद्यपि परमार्थ रूप में सब वस्तुएँ ब्रह्म ही हैं तो भी व्यवहार में उनमें से कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका हम त्याग करते हैं तथा अन्य ऐसी हैं, जिनकी हम कामना करते हैं।

जब तक जीवात्मा नैतिक आदर्शों के लिए परिश्रम करता है किन्तु उन्हें प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह बंधन में है। ब्रह्म का साक्षात्कार ही जीवन की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य है। नैतिक दृष्टि से जो कल्याणकारी है वह अनन्त की प्राप्ति

में सहायक हो सकता है और जो नैतिक दृष्टि से अश्रेयस्कर है वह इसके प्रतिकूल है। इस प्रकार मानवीय मूल्यों की उपादेयता शंकर के ब्रह्म विचार से खण्डित न होकर अपेक्षाकृत सुदृढ होती है।

अद्वैत वेदांत विश्व के भीतर प्रत्येक जीव में, प्रत्येक प्राणि में विद्यमान ब्रह्म की सत्ता पर आग्रह दिखलाता है। जब सब जीव ब्रह्म के ही रूप हैं और प्रकारान्तर से वे अपने ही अविभाज्य रूप हैं तब ईर्ष्या, द्वेषादि के लिए स्थान ही नहीं रह जाता है। शंकराचार्य "तत्त्वमसि"[४] तथा "अहंब्रह्मास्मि"[५] श्रुतियों द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व को तो स्थापित करते ही हैं साथ ही "अयमात्मा ब्रह्म"[६] तथा "नेह नानास्ति किंचन"[७] को स्वीकार कर वे समत्व रूपी मूल्य की स्थापना करते हैं अर्थात् वह आत्मा भी ब्रह्म है तथा नानात्व या अनेकता कहीं नहीं है, यह मान लेने पर हम प्राणिमात्र के बीच भेदभाव को भूल जाते हैं सर्वत्र एक ही आत्मा के दर्शन करते हैं। ऐसी स्थिति में हमें मानवीय मूल्यों में विकास हेतु अलग प्रयास करने की आवश्यकता कदापि नहीं होगी। शंकराचार्य ने आत्मा की अमरता के बारे में भी लिखा है कि "वह न जन्मता है, न मरता है, न बढता है, न घटता है और न विकार को प्राप्त होता है।"वह नित्य है और इस शरीर के लीन होने पर भी घट के टूटने पर घटाकाश के समान लीन नहीं होता।"[८] ईशावास्य उपनिषद् (सूत्र ६) में कहा गया है, "जो सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी आत्मा को ही देखता है, वह इसके कारण ही किसी से घृणा नहीं करता।" जागतिक वस्तुओं का ज्ञानी व्यक्ति त्यागपूर्वक भोग करता है। आत्मज्ञान को प्राप्त व्यक्ति सम्पूर्ण सृष्टि को अपना ही स्वरूप समझता है। अपने ही शरीर के विभिन्न अंगों से कोई द्वेष नहीं करता वरन् उनकी रक्षा करता है। ज्ञानी की ऐसी ही दृष्टि हो जाती है जिससे वह परमानन्द का अनुभव करते हुए कालक्षेप करता है। ऐसे ज्ञानी व्यक्ति को शंकराचार्य जीवनमुक्त कहते हैं।

अद्वैतवेदान्त में जीवन्मुक्ति की संभावना को स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य ने जीवन्मुक्त पुरुष के विभिन्न लक्षणों को उदधृत किया है।[९] वस्तुतः इन्हें हम मानवीय मूल्यों की पराकाष्ठा कह सकते हैं। शंकराचार्य बताते है, "जिसकी प्रज्ञा स्थिर है तथा चित्तवृतियाँ ब्रह्म में लीन है, जो शरीर के रहते हुए भी अहंभाव से निरपेक्ष, निर्द्वन्द्व, सर्वत्र समदर्शी, अविकारी, अनासक्त, आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और संसार में अभेद देखने वाला है, उस जीवन्मुक्त के चित्त के सभी विक्षेप शांत हो जाते हैं।" यह एक ऐसा जीवन है जिसके अन्दर नम्रता तथा शांति का, पवित्रता तथा आनन्द का भाव है किन्तु केवल चिन्तनशील निष्क्रियता में निमग्न रहना नहीं

है। उसके कर्म उसके बंधन का कारण नहीं बनते।[१०] वह कर्म में अकर्म देखता है अर्थात् अहं भाव से रहित हुआ निष्काम-कर्म करता है।

सामान्य मनुष्य प्रायः अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है तथा जितना अधिक उसे प्राप्त होता है उतनी ही तृष्णाएँ बढ जाती हैं और इस दौड़ में वह मूल्यों का हनन कब करता है, वह स्वयं नहीं जानता जबकि ब्रह्मज्ञानी धन का संग्रह नहीं करता। वह अपरिग्रहि तथा समदर्शी होता है।[११] यदि हम अपने दैनिक भौतिक जीवन में पूर्ण जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी ना भी बन पाएँ और सिर्फ अणुरूप में इनके पदचिह्नों पर चलें तो भी मानवीय मूल्यों की गरिमा अक्षुण्ण रह सकती है। सदाचार पथ पर चलते-चलते जब व्यक्ति का चित्त शुद्ध हो जाता है तब उसमें तत्क्षण ज्ञानोदय हो जाता है। इस प्रकार हम स्वयं जीवन्मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इस हेतु अद्वैत वेदांत में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के साथ साधन-चतुष्टय का भी वर्णन है। वेदान्त के प्रतिपादक ग्रंथों को गुरुमुख से सुनना श्रवण है, फिर युक्ति तथा तर्क द्वारा स्वयं उस पर मनन करना चाहिए। तत्पश्चात् उस विषय पर किया गया निरन्तर चिन्तन निदिध्यासन है। इस प्रक्रिया द्वारा जब हम गुरू के मुख से शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब हम स्वयं वैमनस्य, विद्वेषादि कलुषादि कलुषित विचारों का परित्याग कर देते हैं क्योंकि हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और तप तृष्णाएँ आदि भी महत्त्वहीन, संसार निःसार लगता है साथ ही हम मानव में ही नहीं वरन् प्राणि-मात्र में हम एकत्व की अनुभूति करने लगते हैं। इसी प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षत्व रूपी साधन-चतुष्टय भी निःसन्देह मानवीय मूल्यों के संरक्षक एवं संवर्धक हैं। नित्य तथा अनित्य के मध्य भेद का ज्ञान विवेक है। वैराग्य का अर्थ संसार में जितने भी भोंग पदार्थ है उनमें रुचि लेना। इससे मन का झुकाव विषयों की और नहीं होगा। विषयासक्ति तो मानवीय मूल्यों के ह्रास का प्रमुख कारण है। षट्-सम्पति में शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रंद्धा और समाधान को वर्णित किया गया है। मोक्ष प्राप्ति की तीव्र इच्छा मुमुक्षत्व है। साधन-चतुष्टय हमारे चित्त के विकारों का क्षय कर देते हैं। विषयों से उपराम हुआ चित्त निर्मल व शान्त हो जाता है। ऐसे निर्मल चित्त में ही आत्मज्ञान का उदय होता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इंद्रियों का, जो अहंकार उत्पन्न करती हैं, दमन करना चाहिए, अभिमान का स्थान नम्रता को, क्रोध का स्थान क्षमा को, परिवार के प्रति संकीर्ण आसक्ति के भाव का स्थान जीवमात्र के प्रति उपकार के भाव को देना चाहिये। शंकर अपने समय की मान्यताओं को स्वीकार करते हुए हमें उपदेश देते हैं कि शास्त्र द्वारा निषिद्ध पाप-कर्मों से हमें बचना चाहिए। वद का स्वाध्याय, यज्ञ,

दान, तपश्चर्या, और उपवास ये सब ज्ञान प्राप्ति के साधन है ।[१२]

शंकराचार्य यद्यपि ज्ञान को प्रमुखता प्रदान करते हैं किन्तु चित्तशुद्धि हेतु निष्काम-कर्म के अनुष्ठान पर इन्होंने बल दिया है ।[१३] मनुष्यत्व की प्राप्ति हेतु शंकराचार्य ने भगवत्कृपा को भी आवश्यक माना है ।[१४] ईश्वर की पूजा या भक्ति हमें स्वार्थपरक इच्छा, घृणा तथा आलस्य से बचने में एवं दुःख के समय धैर्य, शांति तथा स्थिरता प्राप्त करने में सहायक होती है । भक्तिपूर्वक ध्यान लगाने से ज्ञान-प्राप्ति होती है । फिर भी शंकराचार्य मूल रूप से ज्ञानमार्गी हैं । शंकर का यह मत है कि किसी भी वर्ण का कोई भी मनुष्य उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।[१५] उनके अनुसार, ऐसा व्यक्ति जो इस लौकिक जगत् को अद्वैत के रूप में देखता है, मेरा सच्चा गुरू है चाहे वह चाण्डाल हो अथवा द्विज हो ।[१६]

इस प्रकार शंकराचार्य का अद्वैतवेदान्त हमें मानवीय मूल्यों से परिपूर्ण कर नर से नारायण बनने का आदर्श हमारे सामने रखता है । अद्वैत वेदांत की शिक्षा का चरम अवसान है - 'वसुधैव कुटुम्बकम्'' । आज क्षुद्र स्वार्थ की भावना से त्रस्त मानव-समाज के कल्याण हेतु अमृतमयी शांकर-वेदांत की भूमिका महनीय है ।

डॉ. निशी सदायत

पोलीसलाईन मेन गेट के सामने
गौरी ऑटो रिपेअर्स के पास
रतनदा, जोधपूर ३४२००१

''संदर्भ''

१. शब्दादिभिः पंचभिरेव पंच पंचत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः ।
कुरंगमातंगपतंगमीनभृङ्गा नरःपंचभिरंचितः किम् ।।-विवेक चूड़ामणि- ७८

२. शांकर भाष्य, तैत्तिरीय उपनिषद, २: ।

३. शांकर भाष्य, २:३, ४८

४. छान्दोग्य उपदिषद् ६/८/७.

५. बृहदारण्यक उपनिषद्, १/४/१०

६. बृहदारण्यक उपनिषद्, २/५/१९

७. बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/१९

८. विवेक - चूड़ामणि, १३६.

९. विवेक चूड़ामणि, ४२६ से ४४५

१०. शांकर भाष्य भगवद्गीता, ४:२०

११. विवेक चूड़ामणि, ५४४

१२. बृहदारण्यक उपनिषद् ४,४:२२

१३. गीता, शांकरभाष्य, १८/१०

१४. विवेक चूड़ामणि - ३

१५. शांकरभाष्य - ३:४, ३८

१६. मनीषापंचक, कौपीनपंचक, पृष्ठ ३ और ५

*

दर्शन-* के परिप्रेक्ष्यमें शरीर : एक वैज्ञानिक विवेचन

वस्तुत: प्रत्येक प्राणी प्रतिक्षण सुख ही चाहता है । उसका स्वरूप, क्षेत्र और मापदण्ड चाहे जो भी हो, लेकिन केन्द्र में लक्ष्य एक ही रहता है जिसके प्रति वह अग्रसर है । उसकी अन्तर्दृष्टि एवं बहिर्लक्ष्य के बीच मुख्यत: दो ही बातों की विशेष प्रधानता रहती है जिसके अन्तर्गत प्राय: सभी कुछ समाहित हो जाते हैं, वे मूल धातु हैं - "कृ" और "ज्ञ" ।

वैसे सभी शास्त्रों ने अपने-अपने ढंग से जीवन की समस्याओं को सलझाने में सराहनीय सहयोग दिये हैं, परन्तु फिर भी, प्रेयस् और श्रेयस् के मध्य अन्तर और उसकी विशिष्टताओं को दर्शाने में जितना बहुमूल्य योगदान दर्शन ने दिया है उतना शायद ही कोई दे सकता है । इस दिशा में भारतीय दर्शन के दोनों सम्प्रदायों ने व्यावहारिक धरातल पर अपनी अनुपम छाप छोड़ दी है, जिसमें एक ओर जहाँ नास्तिक शिरोमणि चार्वाक (निकृष्ट) ने जीवन में भोगवादी और अनात्मवादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए केवल भौतिक सुखों को ही प्रधानता देकर –

" यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरामगनं कुत: ।।"

के सिद्धान्त पर बल दिया है तो वहीं दूसरी ओर दर्शनों का मुकुटमणि वेदान्त तथा समयाचार जैसे शाक्त सम्प्रदाय ने मानव को स्वप्रकाश नित्यचिदानन्द-स्वरूप आत्मतत्त्व की अपरोक्ष एवं निर्विकल्प अनुभूति कराकर अपार यश की प्राप्ति की है।

वास्तव में दर्शन से अभिप्राय आत्मदर्शन से ही है और छान्दोग्योप-निषद में "दृश" शब्द का प्रयोग आत्मदर्शन के लिये हुआ भी है । इस विषय के गवेषक विद्वानों का कहना है कि बौद्ध ग्रन्थों में "दिट्टि" शब्द का प्रयोग दर्शन के ही अर्थ में हुआ है । वैसे दर्शन शब्द का अपने वर्तमान अर्थ में प्रथम प्रयोग वैशेषिक दर्शन में माना गया है । यह शब्द संस्कृत भाषा का है जो प्रेक्षण (देखना) अर्थवाली "दृश्" धातु से ल्युट् (अन्) प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है जिसका प्रयोग पाणिनि अष्टाध्यायी के अनुसार तीन अर्थों में होता है [१]। – भाव (शुद्ध धात्वथ), करण एवं अधिकरण, जो क्रमश: अपने व्यापक अर्थ में देखना, वह साधन जिसके द्वारा देखा जा सके तथा आधारभूत वस्तु जिसमें किसी को देखा जाय, आदि अर्थों को व्यक्त करता है । यद्यपि तीनों ही अर्थों में इसका प्रयोग सिद्ध होता है, तथापि

तत्त्वदर्शक ज्ञान या विद्या के अर्थ में करणार्थक ''ल्युट्'' के योग से ही इसकी सिद्धि मानते हैं ।

भारत में दर्शन के स्वरूप एवं उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए डा. नरेन्द्र देवशास्त्री कहते हैं —''भारतीय मनीषियों के उर्वर मस्तिष्क से जिस कर्म, ज्ञान और भक्तिमय त्रिपथगा का प्रवाह उद्भूत हुआ, उसने दूर-दूर के मानवों के अध्यात्मिक कलमष को धोकर उन्हें पवित्र, नित्यशुद्ध-बुद्ध और स्वच्छ बनाकर मानवता के विकास में योगदान किया । इसी पतितपावनी धारा को लोग दर्शन के नाम से पुकारते हैं । यही दर्शन जब किसी साक्षात्कृतधर्मा ऋषि के द्वारा निरूपित और व्याख्यात होकर विद्धज्जनों की चर्चा का विषय बन जाता है तो वह दर्शनशास्त्र कहलाने लगता है । डा. शास्त्रीजी के शब्दों में — ''साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अन्तश्चक्षु या दिव्यचक्षुओं द्वारा देखे गये तत्त्वों के उपदेशक ग्रन्थों का नाम ही दर्शनशास्त्र है ।'' यहाँ पर एक प्रश्न हो सकता है कि यदि साक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों के द्वारा साक्षात्कृत जीवन और जगत् के रहस्यों को ही दर्शन माना जाएगा तो नितान्त भौतिकवादी चार्वाक आदि के विचारों को दर्शन नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि उक्त विचारों में किसी सूक्ष्म और उच्चकोटि के चिन्तन का दर्शन नहीं होता । शास्त्री जी इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि —'' जिस प्रकार श्वेतरंग अन्य रंगों का अभाव मात्र ही है; परन्तु अन्य रंगों की उपलब्धि के कारण उसे भी रंगों में गिना जाता है, इसी प्रकार यदि अन्य दर्शन प्रक्रियाएँ आविष्कृत न हुई होती तो चार्वाक आदि भौतिक दर्शन को दर्शन शायद ही कहा जाता । उसकी दार्शनिकता का आधार बहुत कुछ अन्य दार्शनिक तत्त्वों की उपलब्धि ही है ।[२]

प्रस्तुत निबन्ध में विज्ञान से तात्पर्य विज्ञान (साइंस) से नहीं, बल्कि ''वि'' ''ज्ञान'' से है, अर्थात् उस अनुभवानुभूतिजन्य विशिष्ट ज्ञान से है, उस दार्शनिक विवेचन से है, उस शास्त्रीय विचार से है जिसमें दोनों ही प्रकार के पदार्थों की भीतरी सूक्ष्मताओं का अन्वेषण एवं परीक्षण किया जाता है । मुण्डकोपनिषत् के ''तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा, आनन्दरूपममृतं यद विभाति,[३] सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्,[४] वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा[५] ''तथा भगवान् श्री कृष्ण के श्रीमुख से निःसृत श्रीमद्भगवदगीता के ''ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामिशेषतः । यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते''[६] में आये 'विज्ञान' शब्द से एक विशिष्ट प्रकार के ज्ञान (समग्र के ज्ञानरूप विशेष ज्ञान) होने के कारण दर्शन भी विज्ञान ही है । अर्थात्, विज्ञान से तात्पर्य उस ज्ञान से है जिससे आगे संसार में फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रह जाता । परन्तु जब विज्ञान (साइंस) के

साथ इसकी तुलना की जाती है तब दर्शन उस अर्थ में विज्ञान नहीं होता जिस अर्थ में विज्ञान कहा जाता है । जहाँ दर्शन एक शास्त्र है वहाँ विज्ञान विज्ञान है, क्योंकि दोनों की प्रक्रियाओं, पद्धतियों और लक्ष्यों में बहुत अन्तर है । विज्ञान (साइंस) का सम्बन्ध पदार्थ के सिर्फ बाहरी स्वरूप से ही है । वह सचेतन और अचेतन पदार्थों के सिर्फ बाहरी स्वरूप पर ही विचार करता है, लेकिन दर्शन का सम्बन्ध उससे कहीं आगे भी है । वह उनमें निहित गोपनीयता के बारे में भी अन्वेषण करता है । विज्ञान में चेतनोत्पत्ति की व्याख्या करने की क्षमता नहीं है । इस सम्बन्ध में अमेरिका के विश्वविख्यात् वैज्ञानिक डॉ. जे. बी. राइन "The Search of Mind" में कहते हैं :- "Science cannot explain what the human mind really is and how it works with the brain. No one even pretends to know how consciousness is produced." और दर्शन के तात्त्विक स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए Theos Bernard अपने ग्रन्थ Hindu Philosophy में कहते हैं :-"Philosophy is seen as an art of life not a theory about the Universe, for it is the means of attaining the highest aspirations of man. It is not for the discovery but for the understanding of truth."[७] और अन्त में इन दोनों (दर्शन और विज्ञान) के मध्य तात्त्विक भेद को स्पष्ट करते हुए वाचस्पति गोरोला के शब्दों में कहा जा सकता है – "तात्त्विक दृष्टि से संसार के समस्त पदार्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – सचेतन और अचेतन । इन दोनों ही प्रकार के पदार्थों के बाहरी स्वरूप पर विचार करनेवाली विद्या को विज्ञान और उनकी सूक्ष्मताओं का अन्वेषण-परीक्षण करनेवाले शास्त्र को दर्शन कहते हैं ।"[८]

दर्शन को शास्त्र शब्द से भी कहा जाता है । इस शब्द की व्युत्पत्ति दो धातुओं से मानी जाती है – शास् (आज्ञा करना) तथा शंस् (प्रकट करना या वर्णन करना)।

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते ।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभि: ।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम् ।

अर्थात् विधि या निषेध के रूप में शास्त्र (आज्ञा) देनेवाले शास्त्र श्रुति (वेद) स्मृति (धर्मशास्त्र) रूप हैं इसीलिए "शासन" अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग वेद और धर्मशास्त्र के लिए किया जाता है और वर्णन या प्रकट करनेवाले शंसक (बोधक) शास्त्र का प्रयोग "दर्शन" के लिए किया जाता है । इसके द्वारा किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप को बताया जाता है । शासकशास्त्र (वेद, धर्मशास्त्रादि) क्रिया (अनुष्ठान) परक होता है और शंसक शास्त्र (दर्शन) ज्ञानपरक । दर्शन के साथ

"शास्त्र" शब्द का प्रयोग शंसक शास्त्र (बोधक शास्त्र) के रूप में ही किया जाता है। धर्मशास्त्र और वेद का कर्मकाण्डभाग कर्तव्याकर्तव्य का मुख्य रूप से विधान करने के कारण "पुरुष परतंत्र" है तथा "दर्शन शास्त्र वस्तु स्वरूप का वास्तविक और यथार्थ वर्णन करने के कारण (वस्तुतंत्र) है।[९]

अस्तु, शरीर, देह, और काय शब्द का व्यवहार लगभग समान.र्थक स्वरूप में ही किया जाता है। देह शब्द "दिङ्" धातु में "घञ" प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है - "देहं दहन्ति दहना इव गन्धवाह"। काय शब्द का निर्माण "चि" धातु में "घञ" प्रत्यय लगनेसे हुआ है जिसका अर्थ है - "चीयते-ऽस्मिन अस्थ्या दिकमिति काय:"। शरीर शब्द की निष्पत्ति "शृ" धातु में "ईश्त्" प्रत्यय लगने से हुई है। तत्त्वार्थसूत्र की टीका में शरीर की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जीव के क्रिया करने के साधना को शरीर कहते हैं। तत्त्वार्थवार्त्तिककार के अनुसार शरीर का अर्थ है "शीर्यन्ते इति शरीराणि" अर्थात् जो शीर्ण हो वह शरीर है। महाकवि कालिदास कुमारसम्भव में कहते हैं - "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्" अर्थात शरीर ही धर्म साधना के लिए आद्य (first and foremost)साधन है। न्यायसूत्र में भी शरीर को चेष्ठा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय कहा गया है "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय शरीरम्"।[१०] चेष्टाश्रय से तात्पर्य उन शरीरगत क्रियाओं से है जो उपादेय वस्तुओं के उपादान और हेय वस्तुओं के प्रहाण के लिए किये जाते हैं। यह प्रत्यक्षत: इन्द्रियाश्रय तो है ही, क्योंकि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ शरीर में ही निवास करती हैं। यह अर्थाश्रय भी है, क्योंकि इन्द्रियों और अर्थों के सन्निष्कर्ष से सुख-दुख का प्रतिसंवेदन शरीर में ही होता है। यह अर्थाश्रय साक्षात्रूप से नहीं, बल्कि उनके संयोग से सुख-दुख के अनुभवों का आधार होने से है। इन तीनों का आशय संक्षेप में यही है कि शरीर पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति के लिए एक सर्वोत्तम साधन है।

शरीर को मल की संज्ञा भी प्राप्त है जो भेद से तीन हैं - आणव, कार्मण तथा मायिक, जिनसे आवृत्त, कंचुकित (आच्छादित) शिव जीव कहलाता है। इसे पाश भी कहा जातात है जिसका भेद मल के भेद जैसा ही है।

अणु (अज्ञान) से उत्पन्न मल ही आणव मल है। आणवो नाम सदाशिवस्य स्वस्याऽनवमर्श अर्थात् जिसके द्वारा सदाशिव अपने को नहीं पहचानता, वही आणव मल कहलाता है। अणु के द्वारा चैतन्य-स्वरूप आत्मा को आत्मा न मानकर शरीर को आत्मा तथा अनात्मा देह को आत्मा माना जाने लगता है। इसे अविद्या भी कहा जाता है क्योंकि इसके कारण वह अपने को नहीं पहचानता, जैसा कि सौरसंहिता में कहा गया है --

'आत्मनोऽणुत्वहेतुत्वादणोर्मालिन्यतो मलम् ।'

'कार्मा नाम पुण्यपापवानहं प्रतीति' अर्थात् मैं पुण्यवान हूँ, मैं पापी हूँ - इस प्रकार की प्रतीति (विश्वास) ही कार्मण मल है । विहित और निषिद्ध कर्मोंके करने से उत्पन्न पुण्य और पाप के भेद से कार्मण मल भी दो प्रकार का हो जाता है ।

ईश्वर के अंश से उत्पन्न सम्पूर्ण जीवों में भेद बुद्धि रखना अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रथा रूप मायीय मल से स्वांगसदृश-जड़ वेद्यवर्ग में अनेक प्रकार की भेदवाली बुद्धि को माया कहते हैं, और उससे उत्पन्न मल ही मायिक मल है । इससे आच्छन्न जीव स्वयं देह-परिमित होकर अन्य अनन्त जीवों को भी देह परिमित जानता है । यही बाद में कार्मण मल भी कहलाने लगता है जब इससे मलिन जीव शुभाशुभ कर्मों को करते हुए उनसे उत्पन्न संस्कारवाला हो जाता है ।[११]

योनिज और अयोनिज भेद से शरीर दो प्रकार के हैं जिनमें रजोवीर्य से उत्पन्न होनेवाले शरीर योनिज हैं और उससे भिन्न औपपादुक शरीर अयोनिज । योनिज के भी चार भेद हैं -- जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज, तथा अयोनिज के अनेक भेद हैं । योनिज के सूक्ष्म भेद के अनुसार योनिज शरीर के भी विभिन्न प्रकार हो जाते हैं - जहाँ ऊर्ध्वलोक में कहीं दृष्टि से जन्म होता है, तो कहीं स्पर्श से ।

चार्वाक प्रमाण के रूप में एकमात्र प्रत्यक्ष के सिवा और कोई दूसरा प्रमाण मानता ही नहीं, अत: उनके यहाँ किसी दूसरे शरीर का प्रश्न ही नहीं उठता । वाचस्पति मिश्र स्थूल और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के शरीर मानते हैं । विज्ञान-भिक्षु इसके अतिरिक्त एक तीसरा शरीर भी मानते हैं - अधिष्ठान शरीर ।[१२] शंकराचार्य भी तीन ही शरीर मानते हैं - स्थूल, सूक्ष्म और कारण । वरदराज एक और शरीर मानते हैं - महाकारण शरीर । इस प्रकार एक ही सूक्ष्म शरीर अधिष्ठान की भिन्नता के आधारपर लिंग शरीर के नाम से एक और शरीर हो जाते हैं अत: सामान्य रूप से कुल पाँच शरीर हैं - स्थूल, सूक्ष्म, लिंग, कारण तथा महाकारण। इन शरीरों के निर्माण में चार्वाक से लेकर शाक्तदर्शन तक तत्त्वों की कुल संख्या चार से लेकर छत्तीस तक मानी गयी है । इसके अतिरिक्त विशेष रूप से और भी कई देह (शरीर) है ।

अद्वैत वेदान्तानुसार सम्पूर्ण चराचर सृष्टि का विकास दो आधारों पर व्यवहृत होता है जिसमें समष्टि के आधार पर जड़-जगत का विकास क्रमश: तीन अवस्थाओं में होता है - कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर और व्यष्टि के आधार पर यह सम्पर्क की अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है । अज्ञान जो कि समष्टि और व्यष्टि दोनों ही सृष्टियों की अभिव्यक्ति का कारण है, भी दो रूपों में वर्णित मिलता है -

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णम्" में अजा (प्रकृति) एकवचन होने से अनेक अज्ञानों की समष्टि का निर्देश करता है और "इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईर्षते" में माया का बहुवचन अज्ञान की अनेकता को सूचित करता हुआ व्यक्तिगत आधार का संकेत करता है ।

निरूपहित ब्रह्म के उपहित स्वरूप से यह सृष्टि सूक्ष्मतम से सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और स्थूल से स्थूलतर और स्थूलतम विकास को प्राप्त करती है । अर्थात् पंचभूतों के तन्मात्रादि रूप से लेकर स्थूल-प्रपंच एवं महाप्रपंच तक का विकास उससे होता है जो मूलगत अद्वैत तत्त्व सृष्टि का सभी क्रमिक विकास परम्परा में स्पष्ट अभिव्यक्त होता है ।[१३] --

१. कारणशरीर - ब्रह्म का उपाधि से सम्पर्क
२. सूक्ष्मशरीर - उपाधि से तन्मात्राओं का विकास तथा
३. स्थूलशरीर - तन्मात्राओं से स्थूल भूतों का विकास ।

स्थूल शरीर के सम्बध में सांख्यदर्शन कहता है कि माता-पिता से उत्पन्न यह पार्थिव शरीर ही स्थूल शरीर है ।[१४] शंकराचार्य इसका वर्णन करते हुए विवेक चूड़ामणि में कहते हैं - "मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा - इन धातुओं तथा चरण, जंघा, वक्षस्थल (छाती), भुजा, पीठ और मस्तक आदि अंगों पांगों से युक्त "मैं" और "मेरा"रूप से प्रसिद्ध इस मोह के आश्रयरूप देह ही स्थूल शरीर कहलाता है । योगवासिष्ठ और शारीरकोपनिषद भी ऐसा ही कहता है । सप्तधातुओं का समूह यह स्थूल शरीर मलमूत्र से भरे होने के कारण अति-निन्दनीय है । पंचीकृत भूतों से पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न यह शरीर आत्मा का स्थूलभोगायतन है। इसकी अवस्था जाग्रत है जिसमें स्थूल पदार्थों का अनुभव होता है । जाग्रतावस्था में इसकी प्रधानता होने के कारण जीव माला, चंदन तथा स्त्री आदि नाना प्रकार के स्थूल पदार्थों को बाह्येन्द्रियों से सेवन करता है । जन्म, जरा, मरण तथा स्थूलता आदि धर्म, बालकपन आदि अवस्थाएँ, वर्णाश्रमादि के निमित्त से अनेक प्रकार के यम-नियम तथा पूजा, मान, अपमान आदि विशेषताएँ इसी की हैं ।[१५]

अद्वैत वेदान्तानुसार आकाशादि के सूक्ष्म अंश परस्पर मिलने से पंचीकृत होकर स्थूल शरीर के हेतु होते हैं और इन्हीं की तन्मात्राएँ भोक्ता जीव के भोगरूप सुख के लिए शब्दादि पाँच विषय हो जाते हैं । जड़ का ही विकसित रूप होने से पंचीकृत भूतों का स्वरूप स्थूल है जिनमें क्रमशः आकाश में शब्द; वायु में शब्द, स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श, रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध अभिव्यक्त होते हैं, से क्रमशः स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम

कार्यों की उत्पत्ति होकर चौदह भुवनों से युक्त इस ब्रह्माण्ड में विभिन्न प्राणियों तथा अन्यान्य पदार्थों की सृष्टि हुई है । बौद्धदर्शनानुसार जीव पंच स्कन्धों से बना है जिसमें रूप, स्कन्ध, जिससे समस्त भौतिक पदार्थों का बोध होता है, से ही जीव का स्थूल शरीर बना है । इस रूप के ग्यारह भेद हैं - पाँच बाह्येन्द्रिय, पाँच विषय और एक अविज्ञप्ति ।

इन्हीं स्थूल भूतों से चार प्रकार के स्थूल शरीर उत्पन्न होते हैं, जिनकी समष्टि से घिरा हुआ चैतन्य जीव विश्व कहलाता है । दूसरे प्रकार से, एक-एक स्थूल देह में अहंभाव से वर्तमान "तैजस" जीव विश्व कहलाता है । इसे "तेजस" इसीलिए कहा गया है कि यह अन्त:करण में अभेद का अभिन्नान करनेवाला है । विश्व और वैश्वानर में केवल उपाधियों की भिन्नता है, तात्त्विक दृष्टि से दोनों में वही एक चैतन्य है ।

सामान्यत: शरीर से तात्पर्य स्थूल शरीर (पंचभूतों का समुदाय) से ही है । जैसा कि शारीरकोपनिषद कहता है ।[१६] न्यायदर्शन में भी तीनों के आश्रय के रूप में मुख्यत: यही पद वाच्य है ।[१७] इससे पृथक् इसमें इस शब्द का प्रयोग गौण रूप में होता है । यही सूक्ष्म शरीर का भी आश्रय है क्योंकि इससे पृथक् होकर वे अंपना काम कभी नहीं कर सकते ।[१८] इसमें कड़ापन पृथ्वी, द्रव जल, गर्मी तेज, संचरण वायु, सुषिरं आकाश है, अर्थात् अस्थि, चर्म, नाड़ी, रोम, मांस-पृथ्वी के; मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र, स्वेद - जल के; क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, मोह, मैथुन - अग्नि के; फैलाना, दौड़ना, चलना, उड़ना, पलकों को चलाना - वायु के तथा काम, क्रोध, मोह, भय - आकाश के अंश है ।[१९] कार्य और कारण भेद से भौतिक शरीर भी दो प्रकार का है । पुन: कार्य शरीर के भी स्थूल और सूक्ष्म शरीर विद्यमान है ।

अद्वैतवेदान्तानुसार सूक्ष्म-स्थूल रूप माया के कार्य हैं, चैतन्य के नहीं । सूक्ष्म से लेकर स्थूल पर्यन्त जो परिणाम दिखायी पड़ते हैं वह अव्यक्त माया का ही विस्तार है जो कि पहले सूक्ष्म रूप में व्यक्त होती है और तब स्थूल विषयों का रूप ग्रहण करती है । इसमें जब रजोगुण की प्रधानता रहती है तब माया की विक्षेप शक्ति से युक्त चैतन्य ब्रह्म के द्वारा आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की क्रमश: उत्पत्ति होती है जिसमें तीनों गुण अपने-अपने कारण से अपने-अपने कार्य में आ जाते हैं । ये भूत जो पहले सूक्ष्म रूप में ही रहते हैं, को ही तन्मात्रा, अपंचीकृत भूत या सूक्ष्म भूत कहा जाता है, से ही सूक्ष्म शरीर और स्थूलभूतों की उत्पत्ति हुई है ।

तन्मात्र विषयों के सूक्ष्मतत्त्व हैं । तन्मात्र का अर्थ होता है - "तदेव इति तन्मात्रम्" अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के जो पाँच विषय हैं वही तन्मात्राएँ हैं किन्तु ज्ञानेन्द्रियों

की अपेक्षा तन्मात्राओं में कुछ विशेषताएँ होती हैं, अन्यथा उनकी आवश्यकताओं के ज्ञानेन्द्रियाँ ही पूरा कर लेती । अहंकार में जो तामस अंश होता है, उससे ही तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति होती है, जो इतनी सूक्ष्म हैं कि केवल अनुमान के द्वारा ही उनको जाना जा सकता है । न्याय-वैशेषिक के अनुसार तन्मात्रा महाभूत से उत्पन्न होता है, परन्तु सांख्य के अनुसार महाभूत तन्मात्रा से ये साधारण जनों के लिए अप्रत्यक्ष और अयोग्य होने के कारण अविशेष कहलाते हैं । इसके विपरीत, भौतिक तत्त्व तथा उसके परिणाम सुख-दुख तथा मोह आदि विशेष धर्मों से युक्त होने के कारण ये विशेष कहलाते हैं । अर्थात् तन्मात्राएँ ही अविशेष (सूक्ष्म) और पंचमहाभूतही विशेष (स्थूल) हैं । ये विशेष सांख्यानुसार तीन रूपों में विभक्त हैं - स्थूल-महाभूत, स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म या लिंग शरीर ।

तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंच पंचभ्य: ।
एते स्मृता विशेषा: शान्ता घोराश्च मूढाश्च ।।

तन्मात्रा शब्द से संकेत मिलता है कि ये सूक्ष्मरूप से अलग-अलग अभिव्यक्त होते हैं । इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है । सांख्य के पंच महाभूत यद्यपि स्थूल हैं, परन्तु फिर भी न्याय-वैशेषिक के महाभूतों से वे सूक्ष्म हैं, अर्थात् न्याय-वैशेषिक के ये परमाणु हैं ।

तन्मात्राओं से ही ये भूत पंचीकृत होते हैं । सुरेश्वराचार्यकृत पंचीकरणवार्तिक के अनुसार तन्मात्राएँ शुद्धभूत आकाशादि की सृष्टि की अवस्था में अपंचीकृत रहते हैं । पंचीकरणावस्था में प्रत्येक भूत अपने अर्द्ध भाग के साथ शेष चारों भूतों में प्रत्येक से आठवाँ भाग लेकर अपने स्वत्व को पूरा करता है अर्थात् वे स्थूल आकाशादि अपने रूप को अपने और पराये अंशों को मिलाकर पूरा करते हैं ।[२०] इन्हीं पंचीकृत स्थूल भूतों से क्रमश: सम्पूर्ण विश्व एवं चतुर्विध शरीरों की सृष्टि होती है ।

सूक्ष्म शरीर में तत्त्वों की संख्या शारीरकोपनिषदानुसार सत्रह मानी गयी है,[२१] सांख्यानुसार अठारह[२२] और विवेक चूड़ामणि के अनुसार कुल सत्ताइस माने गये हैं।[२३] सांख्य मत से "सप्तदशैकं लिंगम्" सूत्र द्वारा लिंग (सूक्ष्म शरीर) का सूक्ष्म भाव स्वीकृत हुआ है । यह त्रिगुणात्मक होने से तीन तरह के हो जाते हैं जिसका अन्त ब्रह्मज्ञान से ही होता है ।[२४] इसका वर्णन करते हुए आद्यशंकराचार्य विवेक चूड़ामणि में कहते हैं - वागादि पंच कर्मेन्द्रियाँ, श्रवणादि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणादि पंचप्राण, आकाशादि पंच महाभूत, बुद्ध्यादि अन्त:करण चतुष्टय, अविद्या काम और कर्म, यह पुर्यष्टक अथवा सूक्ष्म शरीर कहलाता है । यह सूक्ष्म या लिंग शरीर अपंचीकृत भूतों से निर्मित है और वासनायुक्त होकर कर्मफलों का अनुभव करानेवाला

है। स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण यह आत्मा की अनादि उपाधि है। इसकी अभिव्यक्ति की अवस्था स्वप्न है जहाँ यह स्वयं ही बचा हुआ भासता है। स्वप्न में यह स्वयं प्रकाश परात्मा शुद्ध चेतन ही भासता है। बुद्धि जाग्रतकालीन नाना प्रकार की वासनाओं से कर्म आदि भावों को प्राप्त होकर स्वयं ही प्रतीत होने लगती है। बुद्धि ही जिसकी उपाधि है, ऐसा वह सर्वसाक्षी असंग होने के कारण उसके किये हुए कर्मों से तनिक भी लिप्त नहीं होता। यह लिंग शरीर बढ़ई के वसूले की तरह ही चिदात्मा पुरुष के सम्पूर्ण व्यापारों का कारण है।[२५]

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि वेदान्तियों की इन्द्रियादि रचना सांख्य और न्याय से सर्वथा भिन्न है। सांख्य में जहाँ अहंकार के वैकृत अंश से एकादश इन्द्रियों की रचना तथा उसी अहंकार के भूतादि से तन्मात्राओं की रचना बतायी गयी है, वे वेदान्त की रचना प्रक्रिया से सर्वथा अलग है। एक बात विशेष और है कि सांख्य में मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त पृथक्-पृथक् तत्त्व समझे जाते हैं, परन्तु वेदान्त में एक ही अन्त:करण वृत्ति की दो धारणाओं में से एक निश्चयात्मिकता होने से बुद्धि और दूसरी संकल्प-विकल्पात्मिका होने से मन कहलाती है। चित्त और अहंकार इन्हीं वृत्तियों के अन्तर्गत समझे जाते हैं, जैसा कि वेदान्तसार में सदानन्द कहते हैं - 'अनभोरेव चित्ताहकारभोरन्तभाव:'।[२६]

वेदान्तानुसार पंचप्राण स्वतंत्र है परन्तु सांख्यानुसार वे अन्त:करण के कार्य हैं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मन नित्य, अणु तथा निरवयव है; अत: भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ एक ही समय में वह संयोग नहीं कर सकता। दूसरी ओर सांख्य का विचार है कि मन न अणु है, न नित्य है और न निरवयव है, अत: उसकी उत्पत्ति और विनाश होती है। इसीलिए हमें एक ही क्षण में अनेक ज्ञान, इच्छाएँ और संकल्प हो सकते हैं। सांख्य में साधारणत: वे पूर्वोपर क्रम से चलते हैं, लेकिन न्याय - वैशेषिक में नहीं। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मन और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ ही इन्द्रिय है, परन्तु सांख्यानुसार इन्द्रियाँ ग्यारह हैं। न्यायानुसार ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति महाभूतों से होती है, लेकिन सांख्यानुसार इनकी उत्पत्ति अहंकार से मानी गयी है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति के संबंध में तैतिरीयोपनिषद कहता है - "तस्माद्वा एतष्माद आकाश: सम्भूत: आकाशाद वायु: वायोरग्नि: अग्नेराप: अदभ्य: पृथ्वी पृथिव्या अन्नम् अन्नादरेत: रेतस: पुरुष: स स्वायं पुरुषोऽन्नरसमय:।"[२७] अर्थात् उपाधिरूप या ज्ञानविशिष्ट ब्रह्म से क्रमश: आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी भूतों की तन्मात्राएँ अभिव्यक्त हुई। यही अवस्था जड़-जगत् की सूक्ष्म शरीरावस्था कहला सकती है। अद्वैतवेदान्तानुसार ज्ञानेन्द्रियों की सृष्टि आकाशादि के पृथक्-

पृथक् सात्त्विक अंशों से होती हैं। अर्थात इन तन्मात्राओं में जब सात्त्विक अंश की प्रधानता रहती है तब आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से क्रमश: श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ज्ञानेन्द्रियों की सृष्टि होती है जिनके द्वारा क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध विषयों का ज्ञान होता है। सांख्यानुसार इसकी उत्पत्ति वैकृत अहंकार से होती है। वस्तुत: ये ज्ञानेन्द्रियाँ प्रत्यक्ष आदि अवयवों में रहते हुए अप्रत्यक्ष शक्ति हैं।

ज्ञानेन्द्रियों से विषयों का ज्ञाना होता है जो प्रत्यक्ष अवयवों में रहकर विषयों को ग्रहण करती है। जैसे कर्ण गोलोक में रहती है और शब्द को ग्रहण करती है। अत: कर्ण, नेत्रादि इन्द्रियाँ नहीं, बल्कि उसकी सुनने, देखने की शक्ति है, जो अपंचीकृत भूतों से बनी होने के कारण इतनी सूक्ष्म है कि उनका केवल अनुमान लगाया जा सकता है, देखा नहीं जा सकता। जैसे रूप का ज्ञान करणजन्य है; क्योंकि वह क्रिया है। अत: जो भी क्रिया है, वह करणजन्य है, जैसे छेदन की क्रिया। इसी प्रकार अन्यान्य गुणों के संबंध में भी है।

ये इन्द्रियाँ बहिर्मुख होती हैं, परन्तु फिर भी कभी-कभी ये अन्तर विषयों को भी ग्रहण कर लेती है, जैसे कानों को हाथ आदि सेढँपलेने पर प्राणवायु तथा पेट की अग्नि का शब्द सुनायी देना।

पंचभूतों का साधारण कार्य है अन्त:करण और उसके प्रत्येक अंश के असाधारण कार्य का परिणाम है - पंचकर्मेन्द्रिय, जिसका झुकाव कर्मों की ओर रहता है। क्रिया प्रधान रहने के कारण ही उनको कर्मेन्द्रिय कहा गया है। अद्वैतवेदान्तानुसार इसकी उत्पत्ति आकाशादि के पृथक्-पृथक् भूतों के पृथक्-पृथक् रजोगुण के अंशों से होती है। अर्थात आकाशादि पंच तन्मात्राओं के व्यष्टिरूप राजस अंश से उपर्युक्त पंच कर्मेन्द्रियों की अलग-अलग उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार पंच ज्ञानेन्द्रियाँ पंच महाभूतों के सत्त्वगुण विशिष्ट अंशों से प्रसूत हुई हैं, उसी प्रकार पंच कर्मेन्द्रियाँ भी रजोगुण विशिष्ट अंश से उत्पन्न हुई। सांख्यानुसार इसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंकार से होती है।

वस्तुत: विषयों और इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण पुरुष की विषय-भोग की इच्छा ही है। पंच कर्मेन्द्रियाँ जो कि वास्तव में अप्रत्यक्ष शक्ति ही है, शरीर के इन अंगों में अवस्थित है - मुख हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ, जिसके द्वारा क्रमश: ये क्रियाएँ होती हैं - वाक्, ग्रहण, गमन, मल-निस्सारण तथा जनन।

आकाशादि पंच रजोगुण भूतों के पाँच अंश मिलकर जब कारण बनते हैं, तब उनसे प्राणों की उत्पत्ति होती है। मन की इन क्रियाओं को भिन्नता यानि अपने

विकारों के कारण सुवर्ण और जल आदि के समान स्वयं प्राण ही वृत्ति भेद से प्रधान और उपप्रधान रूप से दस नामोवाला हो जाता है, जिसमें मुख्य रूप से प्रथम पाँच ही विवेक चूड़ामणि के अनुसार सूक्ष्म शरीर से सम्बन्धित है।[२८] ये दस प्राण हैं - प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनंजय; जिसके स्थान एवं धर्म इस प्रकार हैं - प्राण का स्थान हृदय है जो श्वास को बाहर निकालकर भुक्त अन्न को पचाता है। अपान का स्थान गुदा है जिसका धर्म है श्वास को भीतर ले जाना और मल-मूत्र तथा गर्भ को बाहर निकालना आदि। समान नाभि में रहकर पचे हुए भोजन के रस को सब अंगों में बाँटता है। उदान जो कण्ठ में रहता है, वह मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बाहर निकालकर उसे दूसरे शरीर या परलोक में ले जाता है तथा व्यान सम्पूर्ण शरीर में रहकर शरीर के प्रत्येक भाग में रक्त का संचार करता है। उपप्रधान वायु में नाग का कार्य है डकार लेना, कूर्म का नेत्रों को खोलना व बन्द करना, कृकर का छींकना, देवदत्त का जम्हाई लेना तथा धनंजय उस प्राणवायु का नाम है जो मृत्यु के बाद भी शरीर में रहता है, जिससे मृत शरीर फूल जाया करता है। बात जो भी हो, लेकिन वास्तविकता यही है कि एक ही प्राणवायु के भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार उपर्युक्त भेद माने गये हैं।

अद्वैतवेदान्तानुसार अन्त:करण पाँच अपंचीकृत भूतों का योग है, जिसमें तीनों गुणों की सम्पन्नता रहने पर भी मुख्यत: इसमें तेजस गुण की ही विशेषता है। इसी कारण इसके भीतर भिन्न-भिन्न आकार ग्रहण करने की क्षमता पायी जाती है। साक्षी और अन्त:करण दोनों सापेक्षिक है और जीव इन दोनों का ही योग है जिसका संयोग जीव में किसी-न-किसी रूप में मुक्तिपर्यन्त बना ही रहता है। आत्मा जब अन्त:करण की वृत्तियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब वह परिवर्तनशील दिखायी देता है। वस्तुत: आत्मा अपरिवर्तनशील है, लेकिन वृत्तियों के परिवर्तन के कारण अज्ञानवश वह अपने को परिवर्तनशील समझ बैठता है। साक्षी को वृत्ति के माध्यम से ही बाह्यविषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। तैजस् अन्त:करण जब श्रोत्रादि इन्द्रियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर घटादि विषय तक जाता है तब उनके आकार में परिणत हो जाता है।

अन्त:करण के सम्बन्ध में शंकराचार्य कहते हैं कि यह अपनी वृत्तियों के कारण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (इन चार नामों से) कहा जाता है। संकल्प-विकल्प के कारण मन, पदार्थ का निश्चय करने के कारण बुद्धि, अहं-अहं (मैं-मैं) ऐसा अभिमान करने के कारण अहंकार और अपना ही चिन्तन करने के कारण

चित्त कहलाता है ।[२९] इन सबों की उत्पत्ति आकाशादि पंचतन्मात्राओं के संयुक्त अंश से होती है । उपर्युक्त वृत्तियाँ बाह्य संस्कार को प्रकाशित करानेवाली सत्त्वगुण प्रधान है, इसे वृत्ति इसीलिए कहते हैं कि ये विमर्श में संशय उत्पन्न कर देनेवाली प्रवृत्ति है । वस्तुत: यह मन का ही अपर स्वरूप है ।

संकल्प-विकल्पात्मिका वृत्ति मन की सृष्टि आकाशादि भूतों के मिले-जुले सात्त्विक अंशों से होती है । सांख्यकारिका में इसकी उत्पत्ति वैकारिक अहंकार से मानी गयी है जिसे वाचस्पति मिश्र भी मानते हैं, परन्तु सांख्यप्रवचनभाष्य में केवल इसे ही एकमात्र ऐसी इन्द्रिय मानी गयी है जो कि सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती है । यह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का प्रेरक होने से उसका अधिपति है । शारीरकोपनिषद के अनुसार मन का स्थान गले का अन्त है (मन: स्थानं गलान्तम्)। इसे आन्तर इन्द्रिय भी कहा जाता है क्योंकि बाह्य शब्दादियों में इंद्रियों के विना इसकी प्रवृत्ति नहीं होती । यह उभयात्मक भी है । ज्ञानेन्द्रिय के साथ कार्य करने से यह ज्ञानेन्द्रिय का रूप धारण कर लेता है और कर्मेन्द्रिय के साथ यह कर्मेन्द्रिय के समान हो जाता है । इसका कार्य संकल्प यानि सम्यक् कल्पना करना है । यह ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त निर्विकल्प संवेदनाओं को सविकल्प रूप देकर उसकी विशेषण-विशेष्य भाव से गुण-दोष का विवेचन करता है और यह विवेचन तब करता है जब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में लगी रहती हैं । इसके तीन गुण हैं जिसमें सत्त्वगुण से वैराग्य, क्षमा तथा औदार्य आदि शान्त प्रवृत्तियों का उदय होता है, रजोगुण से काम, क्रोध, लोभ, प्रयत्न आदि घोर प्रवृत्तियों की उत्पत्ति होती है और तमोगुण से आलस्य, भ्रांति तथा तंद्रा आदि मूढ़ वृत्तियों का जन्म होता है । शारीरकोपनिषद के अनुसार सात्त्विक सर्वश्रेष्ठ, राजस मध्यम और तामस अधम है क्योंकि इसमें क्रमश: सत्य,धर्म तथा मूढ़ ज्ञान है । इन्द्रियों द्वारा जितने विषयों का ग्रहण होता है, उन सब का अधिष्ठाता मन ही है ।[३०] अत: इसी को ही बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है ।[३१] वेद, पुराणों, उपनिषदों एवं दर्शनों में सर्वत्र इसी के निग्रह पर बल दिया गया है । इसकी समाधि ही परमयोग है जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है – 'परो हि योगो मनस: समाधि:' । 'मन एव हि संसार:' – यथार्थ में मन ही संसार है । प्रत्येक व्यक्ति का संसार वैसा ही है जैसा उसका मन होता है ।[३२] मन मानो वह दर्पण है जिस पर उसी का प्रतिबिम्ब पड़ता है जो उसके सामने आता है । यदि संसार है तो संसार का पड़ेगा और यदि परमात्मा है तो परमात्मा का पड़ेगा; परन्तु एक समय में उस पर एक ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा, स्वार्थ का तो परमार्थ का नहीं, संसार तो संसार-सार का नहीं, असत् का पड़ेगा तो सत् का नहीं ।

योगवासिष्ठ के अनुसार मनन शक्ति को धारण करने के ही कारण इसे मन कहा गया है । संकल्प मात्र का नाम ही मन है । जहाँ संकल्प है वहीं मन है । जिस प्रकार द्रव्य तथा वायु से स्पन्दन भिन्न नहीं है, उसी प्रकार संकल्प से मन भिन्न नहीं है । जिस विषय के लिए संकल्प होता है उसमें मन संकल्प रूप से स्थित रहता है। मन के संयोग के विना कर्म भी फलदायक नहीं होता । मन ही बंधन है ओर मन ही तम होता है । मनु भी कहते हैं – 'मन:पूतं समाचरेत् ।' बृहदारण्यकोपनिषद में भी कहा गया है – 'काम: संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रिर्धीर्भीरित्येतत्सर्व मन एव ।' चरक निश्चयात्मक ज्ञान के उद्भव में इसे ही कारण मानते हैं जिसके दो व्यापार है – ऊहा और विचार ।

मन की शुद्धता या अशुद्धता की निर्भरता अन्न पर ही है । कहा भी गया है जैसा अन्न वैसा मन । वैज्ञानिकों ने भी बहुत हद तक इस तथ्य की पुष्टि कर दी है, जो शेष है उसकी खोज जारी है । छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है । उसका जो स्थूल भाग है वह मल बनता है, जो मध्यम भाग है वह मांस बनता है और जो सूक्ष्म भाग है सो मन बन जाता है ।

अद्वैतवेदान्तानुसार बुद्धि आकाशादि पंचतन्मात्राओं के संयुक्त सात्त्विक अंशों से उत्पन्न निश्चयात्मिका वृत्ति है । सांख्यानुसार सृष्टि का सर्वप्रथम आविर्भूत तत्त्व महत् ही व्यष्टि रूप में बुद्धि कही जाती है । उसका उदय सत्त्वगुण की अधिकता के कारण होता है । इसका स्वाभाविक धर्म स्वयं के साथ-साथ अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता हैं । यह प्रकृति का सूक्ष्मतम तत्त्व है जो पुरुष के चैतन्य को स्वच्छ दर्पण के समान स्वयं में प्रतिबिम्बित कर लेती है जिससे अचेतन बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होती है । इसी के कारण निर्गुण पुरुष सीमित, साकार, ज्ञाता और भोक्ता जीव के रूप में प्रतीत होने लगता है । यह नित्य और अनित्य दोनों है । इसके दो कार्य हैं – निश्चय और अवधारण । यह अध्यवसायात्मक है । विज्ञानभिक्षु इसमें संस्कार भी मानते हैं । प्रत्यभिज्ञा और स्मृति भी इसी में रहते हैं । इसी के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय का भेद किया जाता है और किसी विषय का निर्णय भी लिया जाता है । इसकी विशेषता बतलाते हुए सुभाषित की ये पंक्तियाँ कहती हैं –

'जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेत: प्रसादयति दिधु तनोति कीर्ति
सत्संगति: कथय किं न करोति पुंसाम् ।।

–भर्तृहरि-, नीतिशतकम् /२३

अर्थात् बुद्धि जड़ता को हरती है, वाणि में सत्य का सिंचन करती है, सम्मान की वृद्धि करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है, दिशाओं में कीर्ति फैलती है, कहो सत्संगति मनुष्य के लिए क्या कुछ नहीं करती है। सत्वगुण की वृद्धि होने पर उसमें धर्मादि गुण बढ़ते हैं और तमस् बढ़ने पर ठीक इसके विपरीत गुण उत्पन्न होते हैं।

इसके ज्ञानविषयक मत को स्पष्ट करते हुए दासगुप्ताजी कहते हैं कि "यह युक्तिसंगत बात है कि बुद्धि का प्रधानतया सत्त्वांश का परिणाम होने से स्वच्छ स्फटिक या दर्पण के समान निर्मल होना स्वभावसिद्ध है। स्वभावसिद्ध निर्मलता के कारण उसमें चित्त का प्रतिबिम्ब भी निर्बाध है, परन्तु यह प्रतिबिम्ब पुरुषगत ज्ञानानुभव की समस्या को सुलझाने में तब तक असमर्थ रहेगा जबतक हम उस विषयोपरक्त बुद्धि का पुरुष में प्रतिबिम्ब न माने। पुरुष भी चेतन होने से प्रतिबिम्ब के आधान में समर्थ तो है ही। पुरुष अपने ही भीतर विषयोपरक्त प्रतिबिम्ब को देखकर उस विषयोपरक्ति को अपना समझ उस अनुभव को "मैं यह जानता हूँ" आदि रूपों में अभिव्यक्त करता है। दूसरी जगह पड़े हुए अपने प्रतिबिम्ब या छाया को 'अहं' को समझने की अपेक्षा अपने पर पड़े प्रतिबिम्ब को "अहं" समझना अधिक संगत मालूम पडता है। इसलिए विषयोपरक्त बुद्धि में चित्प्रतिबिम्ब के कारण अपने साक्षात् अनुभव की कल्पना से उस उपर्युक्त बुद्धि का अपने में प्रतिबिम्ब देखकर मानना ठीक है।[33]

योग की सम्मति में सभी बाह्य पदार्थों की प्रतिकृति बुद्धि में प्रतिबिम्बित होती है, जैसे जलाशय में ज्यों-के-त्यों प्रतिबिम्बित हुआ करते हैं —

तस्मिंश्चदर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥ योगवासिष्ठ– १-४

अर्थात् बाह्य वस्तुएँ उस विशाल दर्पण (बुद्धि) मे 'इमास्ताः' (प्रत्यक्षतः ये वही है इस रुप में) इसी तरह प्रतिबिम्बित होती है जैसे झील में तट स्थित वृक्ष। भाव यह है कि बुद्धि इन्द्रियों के द्वार से बाह्य पदार्थों से संपृक्त होकर तदाकार हो जाती है, उन्हीं के रूप-रंग को धारण कर लेती है।

वस्तुतः इन्द्रियाँ ही वे प्रणालिकाएँ हैं जिनसे जाकर चित्त बाह्य वस्तुओं से मिलकर बाह्य वस्तुओं के रंग में रंग कर इन्द्रियों की सहायता से अर्थाकार परिणाम को ग्रहण करती हैं। योग की भाषा में प्रायः चित्त का अर्थ बुद्धि, अहंकार और इन्द्रिय है या यों कहना ठीक होगा कि चित्त से बुद्धि का अर्थ लिया जाता है जिसमें इन्द्रिय और अहंकार का भी समावेश माना जाता है।

शरीर, चित्त और पुरुष भिन्न-भिन्न होते हुए भी तीनों इस प्रकार मिलजुलकर रहते हैं कि इसमें से किसी को भी एक दूसरे से अलग करना कठिन हो जाता है। वस्तुत: सब कार्य-व्यापार शरीर और चित्त से ही संचालित होते हैं । चित्त का किसी वृत्ति में परिणत हो जाने पर आत्मा वास्तव में यही समझता है कि यह मेरा ही अनुभव है जो एक भ्रांति (अज्ञान) है, के कारण ही वह जन्म-मरण के चक्कर में घूमता रहता है । यह पुनर्जन्मका चक्कर यद्यपि सूक्ष्म शरीर का ही है परन्तु फिर भी अज्ञानतावश यह असंग-पुरुष उसके साथ यों ही खिंचा खिंचा घूमता है ।[३४]

सांख्य-योग और शारीरकोपनिषद् में एकादश इन्द्रियों और बुद्धि का नाम स्पष्ट तौर पर अंकित है, परन्तु सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों में सांख्य में प्राण का तभी शारीरकोपनिषद में तन्मात्रा और अहंकार का नाम विवेक चूड़ामणि के अनुसार अलग से उल्लेखित नहीं है । विवेक चूड़ामणि में चित्तादि वृत्ति अन्त:करण में आते हैं और योग में चित्त का अर्थ जो अन्त:करण से है, में भी, इससे इन तीनों के मिश्रित रूप का ही बोध होता है । अत: सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सांख्य-योग विवेक चूड़ामणि में वर्णित सूक्ष्म शरीर के तत्त्वों का प्रकारान्तर से समर्थन अवश्य करते हैं, क्योंकि अहंकार का क्षेत्र इतना व्यापक है कि इसमें ये सब कुछ समा सकते हैं ।

अद्वैत वेदान्त में चित्त अन्त:करण की वृत्तियों के ही अन्तर्गत समझे जाते हैं जिसे अपना ही चिन्तन करने के कारण चित्त कहा जाता है । परन्तु सांख्ययोग में चित्त को एक पृथक् तत्त्व के रूप में माना गया है । बौद्धों के मतानुसार चित्त (बुद्धि) ही सत्तावान् है और सभी पदार्थ उसी के प्रसूत हैं । उसी की प्रेरणा से जगत् के सारे कार्य-व्यापार सचालित होते हैं, लेकिन योग, जो कि दर्शन मात्रा की सम्पत्ति रहा है, में चित्त को आत्मा से भिन्न माना गया है और यह स्थित किया गया है कि केवल चित्त से ही कार्य नहीं चल सकता । चित्त की वृत्तियों का भोक्ता एवं ज्ञाता पुरुष है क्योंकि वह अपरिणामी है और इसलिये वह इसके परिणामों का साथी और विभु भी है । सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभो पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।

योगमनोविज्ञान ने सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व चित्त प्रकृति का प्रथम प्रसूत है, में सत्त्वगुण की प्रधानता रहती है, जो स्वभावत: जड़ होते हुए भी आत्मा के निकटतम सम्पर्क में रहने के कारण उसके प्रकाश से प्रकाशित रहता है । उसका जिस विषय से सम्पर्क होता है वह उसी के आकार का हो जाता है । विषयों के अनुरूप चित्त-विकारों से ही आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है । योगसूत्र के अनुसार चित्त-विकारों से ही आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है । योगसूत्र के

अनुसार यद्यपि आत्मा में स्वतः कोई विकार नहीं होता तथापि परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों में उसके प्रतिबिम्बित होने के कारण उसमें परिवर्तन का आभास होता है, जैसे नदी की लहरों से प्रतिबिम्बित चन्द्रमा हिलता हुआ जान पड़ता है ।

पुरुष के साथ इसका सम्बन्ध अनादिकाल से चला आ रहा है । इन्हीं वृत्तियों के बल पर वह सदा से अपनी संसारयात्रा को करता आ रहा है । प्रकृति से आविर्भूत सृष्टि के भोगपक्ष का निर्वाह पुरुष ने इन्हीं वृत्तियों की ममता में किया है। त्रिगुणात्मक चित्त में ही अपनी प्रज्ञा, प्रवृत्ति और स्थिति रूप से पुरुष के लिए ऐश्वर्य के भोग को उपस्थित किया है । तमस् की अधिकता हो जाने पर इसी ने इसके लिए अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य के दुख परिणाम तथा रजस की प्रधानता से युक्त होकर धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य को उपस्थित किया है ।[३५] वास्तव में चित्त एक ऐसी नदी है जो दोनोंही ओर (कल्याण और पाप) प्रवाहित होती है।

वृत्ति करणों का ज्ञानात्मक परिणाम है जो प्रवृत्तियों के कारण होती है क्योंकि वे धर्माधर्म तथा वासनाओं को उत्पन्न करनेवाली है । ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट रूप है और पाँच प्रकार की है । ये "कर्माशय प्रचय" को उत्पन्न करने के कारण क्लिष्ट और "ख्याति" देने के कारण अक्लिष्ट कहलाती है । रात-दिन और दिन-रात के चक्र की भाँति ही वृत्तियों से संस्कार और संस्कार से वृत्तियाँ होती हैं । इस चक्र का अन्त तभी संभव है जब वृत्तियों का निरोध हो जाय । ये वृत्तियाँ पाँच हैं - प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, जिसमें प्रमाण सत्य ज्ञान है, विपर्यय मिथ्या ज्ञान है, विकल्प विविध प्रकार की कल्पाना है । वस्तु समान होने पर भी शब्द ज्ञान के महत्त्व के कारण चलनेवाला व्यवहार ही कल्पना का अभिप्रेत है । जब हम कहते हैं कि चैतन्य पुरुष का स्वरूप है, चिति ही पुरुष है, तब उसका स्वरूप चैतन्य है । इस प्रकार का षष्ठी का व्यवहार कल्पना मात्र है, का ही नाम विकल्प है । निद्रा में बोधात्मक (प्रत्ययावलम्बन) वृत्ति का अभाव रहता है ।[३६] यह वृत्ति प्रमाणादि चारों वृत्तियों से प्रभावित होती है ।

अहंकार अभिमानात्मिका वृत्ति है । शरीर के अन्दर इन चक्षु आदि इन्द्रियों में चिदाभास के तेज से व्याप्त हुआ अन्तःकरण जो मैंपन का अभिमान करता हुआ-स्थिर रहता है, वही अहंकार कहलाता है । वही कर्ता, धर्ता और अभिमानी तथा सत्त्व आदि गुणों के योग से तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है । विषयों की अनुकूलता से वह सुखी और प्रतिकूलता से दुखी होता है ।[३७] सांख्यदर्शन में भी ऐसा ही भाव है - अभिमानोहंकारः । यही संसार के समस्त व्यवहारों का मूल है। सांख्य में इसकी उत्पत्ति महत् (बुद्धि) से मानी गयी है जबकि अद्वैतवेदान्तानुसार

इसकी सृष्टि का कारण आकाशादि पंचतन्मात्राओं के संयुक्त सात्त्विक अंश को माना गया है ।

गुण भेद से यह भी तीन प्रकारका है - वैकृत, तैजस और भूतादि, जो क्रमशः सत्त्व, रज और तम की विशिष्टता से युक्त है । समाष्टि रूप में वैकृत अहंकार ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है और व्यष्टि रूप में शुभ कर्मों को । भूतादि समष्टि रूप में पंचतन्मात्राओं को तथा व्यष्टि रूप में प्रमाद, आलस्य तथा विषादादि को और तैजस समष्टि रूप में सात्त्विक एवं तामस गुणों को शक्ति देता है जिससे वे अपने कर्मों को उत्पन्न करते हैं और व्यष्टि रूप में अशुभ कर्मों का जनक है । सांख्यकारिका के इस क्रम को वाचस्पति मिश्र भी मानते हैं, लेकिन विज्ञानभिक्षु ने सांख्यप्रवचनभाष्यमें मन को ही एकमात्र ऐसी इन्द्रिय माना है जो कि सात्त्विक अहंकार मे उत्पन्न है ।[३८]

यह अहंकार इतना सूक्ष्म है कि इसकी तृप्ति सिर्फ कर्तृत्व-भावना से ही नहीं होती है, अनेकानेक सूक्ष्मभाव, सूक्ष्मातिसूक्ष्म रससिक्त कर इसे जीवित रखता है, जिनमें अपरोक्ष-से-अपरोक्ष स्तुति और किसी का मात्र मौन नमन भी एक है । जबतक अहंकार का अस्तित्व है, तबतक कोई-न-कोई शरीर बना ही रहता है, चाहे वह स्थूल सूक्ष्म या कारण शरीर ही क्यों न हो । यह अहम् जीव को विश्व के सुविस्तृत परिधि से पृथक् कर संकीर्णता में आबद्ध कर देता है, मानो सु (विस्तृत) + ख (आकाश) से उसे दुः (दुर=दुष्ट, संकीर्ण)+ ख (आकाश) में ला देता है ।[३९]

(क्रमशः)

सुधीशचन्द्र मिश्र

ग्राम- नवटोल,
पो. राजे, भाया-सरिसबपाही
जिला - मधुबनी (बिहार)
पिन - ८४७४२४.

टिप्पणियाँ

१. नपुंसके भावेक्तः २.२.११६ | पाणिनि अष्टाध्याया
ल्यूट च - ३.२.११७
करणाधिकरणयोश्च - ३.३.११७

२. भारतीय दर्शनों का इतिहास : डा. श्रीकान्त पाण्डेय, पृ. १-२

३. मुण्डकोपनिषद, - २.२.७

४. मुण्डकोपनिषद - २.२.९

५. -''- - ३.२.६
६. श्रीमद्भगवद्गीता, - ७.२
७. हिन्दू फिलॉसॉफी : थियोस बरनार्ड - पृ. - १५
८. भारतीय दर्शन : वाचस्पति गैरोला, -पृ. - १५
९. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली : बालप्रिया हिन्दी व्याख्या : मुसलगाँवकर,पृ. ६-७
१०. न्यायसूत्र : महर्षि गौतम, १.१.११
११. कल्याण : परलोक और पुनर्जन्मांक, पृ - १५६-५७
१२. सूक्ष्म शरीर के एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाने पर यही अधिष्ठान शरीर उसका आलम्बन होता है ।
१३. भारतीय दर्शनों का इतिहास : डा. पाण्डेय - पृ. ४०८
१४. सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण - ३९
१५. विवेक चूड़ामणि, ७४-७६, ८९-९३, मैत्रेयी उपनिषद, १.३, योगवासिष्ठ: उत्पत्ति प्रकरण, शारीरकोपनिषद, ।
१६. अथात: पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम् : शारीरकोपानिषद - ।
१७. न्यायसूत्र, १.१.११
१८. सांख्यतत्त्वकौमुदि, सांख्यकारिका, सांख्यप्रवचन भाष्य
१९. शारीरकोपनिषद - १६
२०. पंचीकरणवार्तिक: सुरेश्वराचार्य, १.२७.१
२१. बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपंचकैमनसा धिया । शरीरं सप्तदशभि: सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ।। - शारीरकोपनिषद - १६
२२. सांख्यतत्त्वकौमुदि, सांख्यकारिका - ३८.४१, सांख्यप्रवचन भाष्य - ३.११
२३. विवेकचूड़ामणि - ९८
२४. सांख्यकारिका : ईश्वरकृष्ण - ३९
२५. विवेक चूड़ामणि : शंकराचार्य - ९९-१०२
२६. भारतीय दर्शनों का इतिहास : श्रीकान्त पाण्डेय - पृ. ४१०
२७. तैत्तिरीयोपनिषद, २.१.१
२८. विवेक चूड़ामणि, ९७
२९. -''- ९५-९६, तथा शारीरकोपनिषद, - ४
३०. श्रीमद्भगवद्गीता - ३.४०
३१. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो: । बन्धातविषययासक्तं मुक्तौ निर्विषयं स्मृतं ।। - शाट्यायनीयोपनिषद - ।

३२. मैत्रेयी उपनिषद - १.९
३३. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी दासगुप्ता, भाग - १, पृ. २६०
३४. भारतीय दर्शनों का इतिहास : श्रीकान्त पाण्डेय, पृ. ३१०-२१
३५. योगसूत्र तथा व्यासभाष्य, ३.४५
३६. योगसूत्र, महर्षि पतंजलि, १.१०
३७. विवेकचूड़ामणि, ९५-९६, १०५-१०७
३८. भारतीय दर्शन : नन्दकिशोर देवराज, भारतीय दर्शन : वाचस्पति गैरोला, भारतीय दर्शन के मूलतत्त्व : रामनाथ शर्मा, भारतीय दर्शन : चन्द्रधर शर्मा
३९. कल्याण, निष्काम कर्मयोग पृ. २६५

*फिलॉसॉफी नहीं, दर्शन; क्योंकि दोनों में बहुत अन्तर है। दर्शन उस सत् की खोज का नाम है जिसमें सनातन सुख और शांति है। दर्शन उस विद्या का परिचायक है, उस ज्ञान का नाम है जो मनुष्य के अन्तःकपाट को उद्घाटित करके हृदय में भूमा का दर्शन कराता है। दर्शन वह है जो समस्याओं के भीड़ में अपने पथ से विचलित होकर भटके हुए मानव को विवेक की प्राप्ति कराता है, जो किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में हमारे करणीय का उपदेश देता है, प्रमाण और तर्क के सहारे ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित कर अज्ञान के अंधकार में मानव का पथप्रदर्शन करता है। इस सम्बन्ध में डा. राधाकृष्णन् कहते हैं।- "Philosophy is an attempt - to explain and appreciate life and the universe as a whole. For Shankar, Philosophy is an exposition of the eternal nature of reality or the innermost essence of the World. It is Brahma-Vidya."

*

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं ।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंको के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१ ४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें -

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

ग्रंथ समीक्षा

-१-

विट्गेन्स्टाइन, लुडविग, 'ऑन सर्टेन्टि', अनुवादक, अशोक वोहरा, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, नई दिल्ली, १९९८ पृष्ठ XIX + 126 + 109h, मूल्य, रु.३००/- ।

'ट्रैक्टेटस लॉजिको फिलॉसॉफिकस' एवं 'फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' की गहन चिन्तनपरक टिप्पणियों से सम्पूर्ण विश्व में दार्शनिक सोच को एक नई दिशा प्रदान करने वाली बीसवीं सदी के प्रखर प्रतिभा सम्पन्न दार्शनिक लुडविग विट्गेन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम डेढ़ वर्षों में जिस दार्शनिक समस्या पर गहन चिन्तन परक विचार अभिव्यक्त करते रहे, वह था - ज्ञानमीमांसा में संशयवाद द्वारा प्रस्तुत चुनौतियाँ । यद्यपि विट्गेन्स्टाइन की टिप्पणियों में प्रारंभिक चिन्तन से ही संशयवाद द्वारा प्रस्तुत चुनौतियों पर विचार-विमर्श उपलब्ध हैं, जैसा कि ट्रैक्टेटस ६.५१ में उन्होंने अभिव्यक्त किया है - "जब संशयवाद ऐसे स्थानों पर संशय करता है, जहाँ कोई प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता है, तो उसका खण्डन नहीं किया जा सकता और वह कोरी बकवास हो जाता है ।" परन्तु ज्ञान, निश्चयात्मकता-अनिश्चयात्मकता, संदिग्धता-असंदिग्धता पर विषय केन्द्रित विचार उनके जीवन के अन्तिम दिनों में लिखित टिप्पणियों में ही स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है । इन्हीं टिप्पणियों का संकलन है 'ऑन सर्टेन्टि' । सर्वप्रथम १९६९ में इसकी जर्मन-अंग्रेजी आवृत्ति डेनिस पाल एवं जी. ई. एन्स्कोम्ब द्वारा प्रस्तुत की गयी, जिसका श्रमसाध्य हिन्दी अनुवाद प्रो. अशोक वोहरा ने किया है ।

डा. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि अनुवाद एक श्रम-साध्य कार्य है एवं किसी भी भाषा में मौलिक लेखन की अपेक्षा अधिक कठिन है, क्योंकि एतदर्थ दो अपरिहार्य शर्तें हैं- प्रथम, दोनों (मूलग्रन्थ की एवं अनुवाद हेतु प्रयुक्त भाषा) का अधिकारिक ज्ञान एवं पुस्तक में प्रतिपादित विषय-वस्तु की सम्यक् समझ एवं मूल भावों को यथावत् संप्रेषित कर पाने की क्षमता । अनुवादकीय कार्य के साथ न्याय करने में प्रो. वोहरा पूरी तरह सफल हैं । दूसरी शर्त, जिसका संकेत प्रो. वोहरा अपने अनुवादकीय निवेदन में भी करते हैं, (पृष्ठ XII) साथ ही वे विट्गेन्स्टाइन

की विशिष्ट शैली को यथासंभव यथावत् बनाये रखने का उद्देश्य भी लेकर आगे बढ़ते हैं। जहाँ तक विट्गेन्स्टाइन के विशिष्ट शैली को हिन्दी भाषा के अनुवाद में बनाये रखने का प्रयास है, निश्चित ही प्रो. वोहरा इसमें भी सफल हैं। इस तथ्य की पुष्टी न केवल 'ऑन सर्टेन्टि' के हिन्दी अनुवाद पढ़ने से होती है, अपितु इसका पूरा परिचय 'फिलॉसॉफिकल इन्वेस्टिगेशन्स' के हिन्दी अनुवाद से भी मिलता है। दोनों ही पुस्तकों में उन्होंने विट्गेन्स्टाइन की विशिष्ट शैली को यथावत् बनाये रखा है।

भाषा का अधिकार एवं विशिष्ट शैली को यथावत् बनाये रखने से कहीं अधिक कठिन होता है- मूलभावों को अनुवादित ग्रंथ में भी यथावत् संप्रेषित कर पाना, जिसे एम. हेलिडे दो पाठों के बीच एक सम्बन्ध कहते हैं, अनुवाद कार्य की इस कसौटी पर प्रो. वोहरा काफी हद तक सफल रहे हैं। हमारे ऐसा कहने का प्रबल आधार है कि हम उनकी पुस्तक में अधिकांश टिप्पणियों में मूल भावों का सहज, सरल और सतर्क संप्रेषण पाते हैं। अनुच्छेद १४४ इस दृष्टिकोण से एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है- "शिशु अनेक बातों पर विश्वास करना सीखता है। धीरे-धीरे इन विश्वासों की एक प्रणाली बन जाती है और कुछ बातें कमोबेश बदलती रहती हैं। स्थिर हो जाने वाली बातों का कारण उनकी मूलभूत स्पष्टता या विश्वसनीयता न होकर उनका परिवेश होता है।" यह मात्र एक उदाहरण है, सम्पूर्ण ग्रन्थ में अधिकांश टिप्पणियों का अनुवादित रूप इतना सटीक है कि उनमें एक भी शब्द जोड़ना-घटाना या इधर-उधर करना उचित नहीं जान पड़ता है।

परन्तु कहीं कहीं अनुवाद के लिए प्रयुक्त शब्द उचित नहीं जान पड़ते या दूसरे शब्दों में विशिष्ट शैली को यथावत् बनाये रखने की यांत्रिकता इतनी हावी है, कि मूल भावों को बाधित करती हुई प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए प्रथम पृष्ठ की प्रथम टिप्पणी में Curious remarks के लिए 'अटपटी टिप्पणी' का प्रयोग अटपटा सा लगता है, इसके स्थान पर जिज्ञासु, विलक्षण या अधिक से अधिक 'व्यंग्यात्मक टिप्पणी' का प्रयोग अधिक उचित होता। कहीं-कहीं विट्गेन्स्टाइन द्वारा जिस बात पर जिस प्रकार जोर दिया जाता है, ठीक वैसे ही अनुवाद में अभिव्यक्त नहीं हो पाया है, जैसे टिप्पणी ४३ में 'यह तार्किक प्रतिज्ञप्ति होनी चाहिए' के स्थान पर 'यह अवश्य ही तार्किक प्रतिज्ञप्ति होनी चाहिए' उचित होता क्योंकि यहाँ must surely का एक साथ प्रयोग हिन्दी भाषा में 'अवश्य होना ही चाहिए' के - समानार्थक अर्थ को अभिव्यक्त करता है। ऐसे ही अनुच्छेद १० में unitelligible एवं अनुच्छेद ५४ में ceased to be concievable के लिए 'कल्पना भी नहीं की जा सकती है' उचित नहीं है क्योंकि कल्पना का प्रयोग कम से कम दर्शनशास्त्र में अज्ञेय, दुर्बोध

या दुरूह से अत्यंत भिन्न अर्थ में किया जाता है । एक अन्य उदाहरण अनुच्छेद ३१४ का अन्तिम भाग लिया जा सकता है, जहाँ "सम्भवत: अध्यापक अधीर हो जाए, किन्तु उसे विश्वास रहेगा कि धीरे-धीरे विद्यार्थि ऐसे प्रश्न पूछना बन्द कर देगा" के स्थान पर "संभवत: अध्यापक कुछ अधीर हो जाए, परन्तु सोचेगा कि धीरे-धीरे विद्यार्थि ऐसे प्रश्न पूछना बन्द करते हुए आगे बढ़ेगा ।" मूलभाव के संप्रेषण प्रवाह में किंचित् बाधा के बावजूद भी अनुवादित विषय-वस्तु में कहीं अर्थ का अनर्थ नहीं हुआ है ।

पुस्तक का प्रारूप तीन बातों के लिए विशिष्ट है । प्रथम, अनुवादकीय निवेदन में सम्पूर्ण विषय-वस्तु का पृष्ठभूमि के साथ संक्षिप्त परिचय । उदाहरण के लिए संशयवाद के चुनौतियों का देकार्त व मूअर के प्रत्युत्तर का संक्षिप्त परिचय । मूलत: मूअर की बाह्य-जगत् की सत्ता से सम्बन्धित सहज ज्ञान प्रतिज्ञातियों पर प्रतिक्रिया एवं विचार-विमर्श इस पुस्तक की विषय-वस्तु है । अत: संक्षिप्त पृष्ठभूमि के अभाव में इसे समझना अधिक कठिन होता । द्वितीय, आंग्ल व हिन्दी भाषा के रूपान्तर आमने-सामने पृष्ठ पर प्रस्तुत करना, ताकि एक भाषा के भावाभिव्यक्ति से सम्बद्ध सम्भावित संशय का, दूसरे भाषा के पाठ से तुलना कर, निवारण किया जा सके । तृतीय, पुस्तक के अंत में वर्णित विषय-वस्तु की सपृष्ठ विस्तृत अनुक्रमणिका प्रस्तुत करके प्रो. वोहरा ने इसे और अधिक उपयोगी बना दिया है ।

'ऑन सर्टेन्टि' में ज्ञान व असंदिग्धता से सम्बन्धित विट्गेस्टाइन की कुल ६७६ टिप्पणियाँ संकलित हैं । अपनी टिप्पणियों में वे उन परिस्थितियों का संकेत देते हैं, जिन पर व्यावहारिक नहीं अपितु मूलभूत तार्किक कारणों से संशय करना निरर्थक होगा । अपनी इस प्रतिस्थापना पर पहुँचने के लिए वे अपना चिन्तन मूअर की जगद्विषयक सहज-ज्ञान प्रतिज्ञाप्तियों के विश्लेषण से प्रारंभ करते हैं । इस सन्दर्भ में मूअर द्वारा 'ए डिफेन्स ऑफ कॉमनसेंन्स' एवं प्रूफ ऑफ एन एक्सटर्नल वर्ल्ड मे विवेचित प्रतिज्ञप्तियों को विट्गेन्स्टाइन व्यावहारिक मानते हैं जो अनुभव का विवरण देने के बजाय अनुभव का विवरण प्रस्तुत करने वाली प्रणाली का विवरण है ।

विट्गेन्स्टाइन अपना तर्क इस पक्ष में प्रस्तुत करते हैं कि हमारी सन्दर्भ प्रणाली या जीवनशैली से जुड़ी कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिन पर संदेह की संभावना नहीं होती है । उनके औचित्य-अनौचित्य का कोई आधार नहीं है, वे हमारे ज्ञान का आधार होती हैं । अत: उनका निराकरण हो जायेगा । ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी अन्य कृतियों में विट्गेन्स्टाइन जिन ज्ञानात्मक प्रत्ययों को कभी केवल तर्क और गणित के अनिवार्य सत्यों पर और कभी हमारे तत्कालीन अनुभव पर लागू करते थे,

उन्हें ही 'ऑन सर्टेन्टि' में सम्पूर्ण ज्ञानमीमांसा के परिप्रेक्ष्य में लागू करते हैं ।

काल एवं विषय-वस्तु के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण टिप्पणियों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है- प्रथम, १ से ६५ तक टिप्पणियों को विट्गेन्स्टाइन ने सन् १९४९ में वियन्ना प्रवास के दौरान लिखा है, जिसमें उन्होंने मल्कम के साथ विचार-विमर्श के आधार पर जानना, आश्वस्त होना, गणितीय प्रतिज्ञप्ति, भौतिक प्रतिज्ञप्ति, उनके प्रयोग की उपयुक्त-अनुपयुक्त स्थिति, अभिव्यक्ति में त्रुटि की संभावना, अभिव्यक्ति क्षमता, भाषा खेल, नियम एवं इसके प्रायोगिक दोष, निश्चितता इत्यदि विषयों पर अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है (पृष्ठ भूमि में मूअर की जगद्विषयक सहज ज्ञान प्रतिज्ञप्तियाँ निरन्तर विद्यमान हैं) । ६६ से २९९ तक टिप्पणियाँ १९५० की ग्रीष्म ऋतु में लिपिबद्ध की गयीं एवं उनमें यह स्थापित किया गया है कि मूअर की प्रतिज्ञप्तियों के निषेध से हमें असत्य प्रतिज्ञप्तियाँ ही नहीं, अबोध्य प्रतिज्ञप्तियों की प्राप्ति होती है । विट्गेन्स्टाइन का मानना है कि संदर्भ-प्रणाली के औचित्य-अनौचित्य निर्धारण उस प्रणाली की सीमा में ही सम्भव है । ३०० से ६७६ तक टिप्पणियाँ १०.३.५१ से २७.४.५१ के बीच तिथिवार लिखी गयी है, जिनमें इस विषय की स्थापना है कि कुछ परिस्थितियाँ ऐसी हैं, जिन पर तार्किक कारणों से संशय करना निरर्थक होता है क्योंकि निश्चितता भाषा-खेल की प्रकृति में निहित है (४५८) । इन टिप्पणियों में विट्गेन्स्टाइन दार्शनिक चिन्तन को मात्र शब्दों, वाक्यों से हटाकर उनके प्रयोग के अवसरों एवं संदर्भों और परिप्रेक्ष्य पर केन्द्रित कराना चाहते हैं । इन तीनों भागों में टिप्पणियों का भाव बिना किसी विशेष अर्थहानि के अभिव्यक्त हुआ है जो हिन्दी भाषी अध्येताओं के लिए निःसन्देह उपयोगी है ।

डा. वोहरा के एक लम्बे व कठिन परिश्रम के परिणाम स्वरूप विट्गेन्स्टाइन कृत 'ऑन सर्टेन्टि' हिन्दी भाषी लोगों के लिए उपलब्ध हो पाया है, जो निश्चय ही विट्गेन्स्टाइन के दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन, विवेचन एवं शोध में एक नये आयाम का आधार बनेगा । आशा एवं विश्वास है कि प्रबुद्ध पाठक एवं शोधकर्ता इस श्रमसाध्य, अनुवादित ग्रन्थ का स्वागत करेंगे ।

डा. इन्दु पाण्डेय

दर्शनशास्त्र विभाग
हे.न.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढ़वाल) उ.प्र.
पिन-२४६१७४

-२-

वर्मा सुरेन्द्र, भारतीय जीवन-मूल्य, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, १९९६, पृ.२२०, मूल्य रु. ७५/-

हम प्राय: मानवी जीवन का पाशवी जीवन से भेद करते आये हैं। हम यह भी सोचते हैं कि मानवी जीवन का स्तर पाशवी जीवन की तुलना में ऊँचा है । इस के कारण की खोज शास्त्रीय दृष्टि से करने की जरूरत है । प्राणि-जीवन जिन शारीरिक तथा जैविक प्रेरणाओं से निर्धारित होता है, उस से आगे चलकर मनुष्य उनका निरोध कर के उन में परिवर्तन ला सकता है और अपने जीवन को प्राकृतिक रूप से भिन्न स्वरूप दे सकता है । मानवी जीवन के बारे में जब सोचा जाता है तब इसी स्वरूप को सामने रखकर सोचा जाता है । जब मनुष्य अपने प्रयत्नों से अपने प्राकृतिक जीवन में परिवर्तन करता है तब उस के पीछे कुछ आकांक्षाएँ होती हैं और सामने उद्दिष्ट होते हैं । इसी भूमिका से मनुष्य-जीवन में 'मूल्य' का पदार्पण होता है।

भारतीय परंपरा का यह विशेष रहा है कि जीवन को उस ने हमेशा मूल्यदर्शी बनाए रखा है । अत: इस के दर्शन में मूल्यव्यवस्था एवं मूल्यचिंतन काफी प्रगल्भ रहा है । समूचे मनुष्य-जीवन को ही मूल्य से बनाये ढाँचे में ढालकर जीने की कोशिश की गयी है । यही है भारतीय परंपरा का पुरुषार्थ विचार । पुरुषार्थ-विचार को इस दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रशंसनीय प्रयास प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने किया है।

वस्तुत: भारतीय परिवेश में पुरुषार्थ का चिंतन कुछ काल तक विकसित होता रहा है । आज जिस मायने में हमें पुरुषार्थ-व्यवस्था देखने को मिलती है वह उस का आदि से स्वरूप नहीं था । बहुतेरे विद्वान् मानते हैं कि 'मोक्ष' पुरुषार्थ का समावेश संस्कृति के वयस्क चरण में हुआ है । अत: त्रिवर्ग का विचार पुरुषार्थ का प्राथमिक संग्रह है । इस का विवेचन करते हुए लेखक धर्म, अर्थ और काम इन संकल्पनाओं का मूल्यलक्ष्यी विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं । जिसे हम आदर्श के रूप में प्राप्त करने की कोशिश करते हैं और उस में कुछ त्यागने के लिए भी तैयार रहते हैं, ऐसे इष्टों का श्रेय तथा प्रेय में विभाजन करते हैं । इस में भी श्रेय तर-तम भाव से श्रेष्ठ है । यह इष्ट जिस पुरुष के लिए है उस पुरुष को भी केवल प्राणि के रूप में समझा नहीं जाता बल्कि सामाजिक जीवन में वह व्यक्ति है, जिस का कोई व्यक्तित्व होता है और स्वरूपत: वह आत्मा भी है । इस तरह के विवेचन से लेखक प्रथम दो अध्यायों के विषय स्पष्ट करने के उपरान्त चतुर्विध पुरुषार्थों का स्वतंत्र रूप

से विस्तारपूर्वक विवेचन करते हैं ।

धर्म पुरुषार्थ का विवेचन करते हुए लेखक बताते हैं कि वह किस तरह साधन-मूल्य के रूप में विभिन्न दार्शनिक परंपराओं में स्थापित है । प्रभाकर मीमांसा और भगवद्गीता की दृष्टि में धर्म साध्य-मूल्य है । उसी तरह अर्थ पुरुषार्थ का भी विचार है । धन-संपत्ति रूप अर्थ को मूल्य मानने में भारतीय परंपरा अपनी विशेषता दिखाती है । धर्म और अर्थ में एक विशेष आंतरिक संबंध भी है । अर्थ का अपरिग्रह से संबंध दिखाकर लेखक ने चिंतन के एक अनूठे आयाम को छू लिया है । वस्तुत: इस से कठीन काम है काम पुरुषार्थ के विवेचन का मनुष्य जाति की जैविक प्रेरणा और सुखेच्छा का पिपासा या लोलुपता में परिणत होना नयी बात नहीं है । लेकिन उसे मूल्यवाद के रूप में विकसित करना एक चुनौती है । इस चुनौती को निभाते हुए लेखक अपने अगले अध्याय में काम संकल्पना को ठीक तरह से विश्लेषित करते हुए उस का पुरुषार्थ की दृष्टि से विवेचन करता है । इस में कला एवं उस से प्राप्त सौंदर्यानुभूति का विषय चर्चा में लिया गया है । सौंदर्यानुभूति से प्राप्त आनंद को काम पुरुषार्थ मानना यह सचमुच सही और आज के वास्तव में महत्त्वपूर्ण बात है । इसे उठाकर लेखक ने अपनी दार्शनिक भूमिका ही मानो स्पष्ट की है ।

मोक्ष पुरुषार्थ का विचार दर्शन की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है । अंतिम मुक्ति के रूप में मोक्ष का विचार बहुतेरे दर्शनों में आया है । उस में दु:खमुक्ति तथा कर्मबंध से मुक्ति पाना यह दृष्टिकोन रहा है । इस कल्पना का दूसरा-विधायक-अंग है आनंदानुभूति जिस का मूल आत्मानुभूति में है । आत्मानुभव याने आत्मज्ञान से आत्मानुभूति संपन्न होती है । इस तरह इस चरम पुरुषार्थ का विचार ज्ञान-व्यवहार से जुडा है । इसमें जीवन-मुक्ति की कल्पना भी कुछ दर्शनों ने स्थापित की है । इस का साधार विचार करते हुए लेखक पंचकोषों की चर्चा पुरुषार्थ के संबंध में विस्तार से करते हैं ।

इस पुस्तक की यह विशेषता है कि प्राचीन भारतीय दर्शनों में चर्चित पुरुषार्थ-विचार को प्रस्तुत करने के साथ ही लेखक ने 'कुरल' इस तमिल प्राचीन रचना में किये गये पुरुषार्थ-विचार को भी प्रस्तुत किया गया है । मानवीय मूल्यों की विशेष विवेचना करनेवाले ग्रंथ पर अध्याय का होना इस पुस्तक के लिए स्पृहणीय बात है । हिंदी पाठकों के लिए यह अध्याय विशेष लाभप्रद रहेगा । इस के बाद जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पुरुषार्थ-विचार प्रस्तुत किया है । इस के बाद पंचव्रतों पर अध्याय है जिस में हिंदु, जैन तथा बौद्ध दर्शनों या परंपराओं के व्रतों का उपयुक्त

सामान्य वाचक, दर्शन के विद्यार्थी, प्राध्यापक तथा संशोधक इन सभी तरह के पाठकों के लिए यह पुस्तक विशेष लाभदायक होगी । हम आशा करते हैं कि अपने इन गुणों के कारण इस पुस्तक को अच्छा प्रतिसाद मिलेगा ।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-४११००७

सुभाषचंद्र भेलके

-३-

राजयशसूरीश्वरजी म. सा. जीवन निर्माण, लब्धि - विक्रम संस्कृति केन्द्र, T/7A, शांतिनगर, अहमदाबाद - १३, पृ. १६५, मूल्य लिखा नहीं ।

बदलते समय और बदलते परिवेश में मनुष्य जीवन अधिक जटिल और व्यस्त बनने लगा है । विशेषत: जब हमारे सद्य:कालीन जीवन की औद्योगिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक धारणाएँ बदलने लगी हैं, तब जीवन किस तरह से व्यतीत किया जाय ? हमारी जीवन प्रणाली किस तरह की हो ? कौनसे मूल्यों को जीवन का आधार बनाएँ ? इस तरह के प्रश्न सहज उत्पन्न होते हैं । यहीं पर जीवन निर्माण के संदर्भ में भी अनेक प्रश्न मन में उठते हैं । इन प्रश्नों तथा उनके उत्तरों के विषय में चिंतन की आवश्यकता महसूस होती है । वास्तव जीवन-पद्धति और प्राचीन मूल्य उनमें क्या हम कोई सुवर्ण-मध्य ला सकते हैं ? यह प्रश्न अनेकोंके मन में होता है । प्रस्तुत पुस्तक जीवन निर्माण में लेखक का यही प्रयत्न रहा है कि आज के संदर्भ में और जैन धर्म के प्रकाश में कोई जीवन निर्माण की पद्धति बताई जा सके ।

इस पुस्तक में उन्नीस छोटे अध्याय हैं । यद्यपि जैन धर्म का आधार लिए इस पुस्तक का प्रवास चलता है, तथापि कई ऐसे सिद्धांत बताए गए हैं जो किसी एक विशिष्ट धर्म की व्यक्ति को ही उपयुक्त नहीं हैं बल्कि सभी व्यक्तियों को वह मार्गदर्शक बन सकते हैं । किंबहुना इस पुस्तक की यह एक उपलब्धि है कि अत्यंत सहज भाषा और शैली में जीवन निर्माण के विषय में मार्गदर्शन किया गया है ।

लेखक बताते हैं कि मनुष्य-जीवन मोक्षलक्षी है । अत: जिस क्षण में आत्मचेतना जागृत हो जाती है वही क्षण सर्वश्रेष्ठ है । जीवन निर्माण के लिए कभी भी आयु अथवा परिस्थिति का बंधन नहीं है । आवश्यकता है जागृत मन और दृढ

निश्चय की । लेखक का यह भी मानना है कि हमारे जीवन का उद्देश्य महान् होना चाहिए । उसका लक्ष आत्मोन्नति ही होना चाहिए । उसे वीतरागी बनना है । जीवन को भोग का साधन न मानते हुए उसे यज्ञ माना जाए, यह धारणा रखते हुए लेखक कर्तव्य-तत्परता पर विशेष जोर देते हैं । विवेकशीलता, माधुर्य, चातुर्य, औदार्य इन गुणों के विकास का प्रतिपादन किया है । ज्ञान की व्याख्या बताते हुए लेखक कहते हैं 'ज्ञान वही है जो आत्मबोध कराए । लेखक का यह भी कहना है कि मनुष्य को सदा आनंद में ही रहना चाहिए । सुख और दुख दोनों प्रकार के ऊर्जास्रोत मनुष्य के भीतर समाए हैं । दैनंदिन जीवन में हमारा आहार-विहार तथा दृष्टिकोन अधिक सहज हो, कृत्रिमता से परे हो इस विचार पर जोर देते हुए लेखक जैन धर्म में बताए गए कई नियमों का भी उल्लेख करते हैं । इस प्रकार देखा जाए तो हम यह कह सकते हैं कि इस पुस्तक में आरंभ से लेकर अंत तक लेखक का यही प्रयत्न रहा है कि लोगों को कुछ जीवन-मार्गदर्शन के तत्त्वों का उपदेश किया जाए ।

मनुष्य स्वभाव तथा उसका आचरण, जीवन-पद्धति और उसकी मर्यादाएँ इससे उत्पन्न होनेवाले प्रश्न और उनके संभाव्य उत्तर, इस संदर्भ में मार्गदर्शक तत्त्वोंकी आवश्यकता, इस स्वरूप की कोई विश्लेषणात्मक चर्चा इस पुस्तक में की जा सकती थी । किंतु फिर भी लेखक ने अपनी सहज सुबोध शैली में विवरण करते हुए यह पुस्तक लोगों के लिए उपयुक्त और प्रेरणादायी बनाया है ।

पुस्तक के अन्त के दो अध्याओं में कई गुरुओंके प्रवचन से कुछ विचार उद्धृत किए गये हैं । उनके जीवन चरित्र को भी संक्षिप्त रूप में बताया गया है । इस तरह से पुस्तक वैविध्यपूर्ण तथा प्रेरणादायी बनाने की कोशिश की गयी है ।

पुस्तक की बनावट में उसे अधिक सौंदर्यपूर्ण बनाने का प्रयास रहा है । प्रत्येक अध्याय से पहले उस अध्याय के महत्त्वपूर्ण विचारोंको संक्षिप्त रूप में बताया गया है । इस तरह अनेक दृष्टि से यह पुस्तक निश्चित रूप से पठनीय और स्वागतयोग्य है।

कलिका कोकाटे
शोध छात्रा
दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे-७

*

प्रतिक्रिया एवं परिचर्चा

परामर्श, जून १९९८, में प्रो. राजेन्द्र प्रसादजी का लेख 'दार्शनिक अन्वेषणा : परिकल्पनात्मक व संप्रत्ययात्मक,' पढकर सुखद आश्चर्य हुआ कि हिंदी में रूढ़ियों व पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर चिंतन करने वाले दार्शनिक भी मौजूद हैं और 'परामर्श' जैसी पत्रिका व उसके संपादक भी हैं जो ऐसे लेखों का स्वागत करते हैं। प्रो. प्रसाद ने डॉ. राधाकृष्णन जैसे विद्वानों द्वारा दर्शन को धर्म का अनुगामी बनाने के हानिकारक प्रयास को बखूबी रेखांकित किया है। इस देश में डॉ. राधाकृष्णन को दार्शनिक माना जाता है जबकि वे प्राचीन भारतीय दर्शन के एक भाष्यकार मात्र थे। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने भी कार्ल जास्पर्स से लिये गये इंटरव्यू में बताया है कि जास्पर्स ने डॉ. राधाकृष्णन को दार्शनिक माना जाना हास्यास्पद बताया (अज्ञेय : एक बूंद सहसा उछली)

खैर, प्रो. राजेन्द्र प्रसाद ने दार्शनिक चिंतन के स्वरूप व विषयवस्तु (Subject-matter) की बाबत अत्यन्त मौलिक स्थापना रखी है। डॉ. सुभाषचंद्र भेलके ने परामर्श, मार्च १९९७ के संपादकीय में भी दर्शन के स्वरूप व विषयवस्तु की बाबत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये थे और तभी से मैं इस प्रश्न पर सोचने लगा था और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि दार्शनिक चिंतन द्वितीय-स्तर (Second-order) का चिंतन है लेकिन विटगीनस्टीन जैसे प्रमुख दार्शनिक ने इस मत को नकारा। उनके अनुसार "One might think if, Philosophy speaks of the use of the word 'Philosophy' there must be a Second-order philosophy. But it is not so it is, rather like, the case of orthography which deals with the word "orthography" among others without then being Second-order.' (L. wittgenstein, Philosophical Investigations, Sec.121) और मैं उलझन में था कि विटगीनस्टीन के तर्क का खंडन कैसे करूँ ? और विटगीनस्टीन के तर्क में दमखम भी दिखता था क्यों कि समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, प्राकृतिक विज्ञानों में उन उन शास्त्रों या विज्ञानों की परिभाषाअें दी जाती है या कि उनका स्वरूप निर्धारण किया जाता है। लेकिन इसीसे उक्त प्रयास सम्बन्धित शास्त्रों या विज्ञानों का द्वितीयस्तर चिंतन नहीं बन जाता न ही ऐसे प्रयास को क्रमशः सामाजिक-दर्शन, राजनीति-दर्शन, विज्ञान-दर्शन ही कहा जाता है। गिलबर्ट राईल द्वारा संपादित पुस्तक ' Contemporary aspects of philosophy; Oriel Press Ltd.,

Routledge and Kegan Paul Ltd., 1976; में भी Meta-Philosophy के अध्याय में M. Markovic व H.D. Lewis ने भी समग्र-दर्शन-प्रणाली (System-building) रचना संभव है या नहीं व अंतिम सत्य की चर्चा क्या दर्शन के लिये पूर्णतया वर्ज्य है ? इन्हीं प्रश्नों पर चर्चा की है न कि दर्शन का दर्शन (Meta-Philosophy) अथवा द्वितीय-स्तर का दर्शन संभव हो सकता है या नहीं, इस प्रश्न पर चर्चा की। लेकिन जब प्रो. राजेन्द्र प्रसाद के उपरोक्त लेख में पढ़ा कि 'संप्रत्ययों का प्रयोग एक स्तर की चीज़ है और उनके व्यवहार या उनकी कार्यप्रणाली को विवेचन दूसरे स्तर की । आंशिक विवेचन भले ही प्रयोग के साथ साथ कर लिया जाय किन्तु सांगोपांग विवेचन नहीं हो पाता । सांगोपांग विवेचन दर्शन करता हैं । प्रयोग के स्तर पर प्राय: हम काम-चलाऊ या संक्रियात्मक विश्लेषण या विवेचन से संतोष कर लेते हैं । यदि कोई विचारक दोनों कार्य-प्रयोग व विवेचन साथ साथ करता है तो भी ये तर्कत:, सिद्धान्त: एक-दूसरे से भिन्न हैं ।' (परामर्श, जून, ९८ पृ. २१) तो मेरी समझ में पड़ी गांठ खुल गई या कि मेरी उलझन दूर हो गई । विटगीनस्टीन द्वारा प्रस्तुत दर्शन के स्वरूप विषयक मत का खंडन हो सकता है या कि प्रो. राजेन्द्र प्रसाद ने किया है, ऐसा आत्मविश्वास मुझमें जागा ।

प्रो. राजेन्द्र प्रसाद ने दर्शन को पारंपरिक तत्त्वमीमांसा से अभिन्न किये जाने का सशक्त खंडन किया हैं । वे कहते हैं कि ' दर्शन को चरम सत्ता का संपूर्ण, सदा सत्य ज्ञान देनेवाला कहा गया है । किन्तु यह विवरण दर्शन के सभी खण्डों के विषय में सत्य नहीं है । उदाहरण के लिये, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, भाषा-दर्शन, विज्ञान-दर्शन आदि में किसी का भी लक्ष्य, चरम सत्ता या सत्ता का ज्ञान प्रस्तुत करना नहीं है ।' (वही, पृ. ६) अत: ' चरम सत्ता या सत्ता के ज्ञान'को दर्शन का विषय न मानने से उसके विषय शून्य हो जाने का भय बिल्कुल निराधार है '। (वहीं, पृ. १९)

सचमुच दर्शन के पास न विषयवस्तु (subject-matter) का अभाव है न अपनी विशिष्ट पद्धति का । तत्त्व मीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र (सौंदर्यशास्त्रीय प्रश्न एक बड़ी सीमा तक नीतिशास्त्र की तर्ज पर विवेचित चन होते हैं) व तर्कशास्त्र वादातीत रूप से दर्शन की विषय वस्तु है और युक्ति युक्त विचार (जो आगमन व निगमन तर्क शास्त्रों से भिन्न हैं) व उपमाओं के प्रयोग की मिलीजुली पद्धति उसकी अपनी पद्धति है । दर्शन की विषयवस्तु के सम्बन्ध में यह कहकर भी शंका ली जाती है कि तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र व तर्कशास्त्र क्रमश: विश्व उत्पत्ति विज्ञान (cosmogony), मनोविज्ञान, सामाजिक-मनोविज्ञान, जीवविज्ञान व कानून द्वारा

हथिया लिये जा सकते हैं और तब दर्शन वास्तव में विषय शून्य हो जायगा। लेकिन यह शंका भी निराधार है। नीतिशास्त्र (अपने तीनों रूपों में यथा नियामक नीतिशास्त्र, अधिनीतिशास्त्र वे सद्गुण विषयक नीतिशास्त्र (virtue ethics) तो किन्हीं भी समाज-विज्ञानों व जीव-विज्ञान में घटाया (reduce) नहीं जा सकता। उसी तरह मनोविज्ञान ने स्वयं इतने संप्रत्ययात्मक संभ्रम (confusions) पाल रखे हैं कि उसने मनस् - दर्शन (Philosophy of mind) के लिये राह खलीकर दी। तर्कशास्त्रों को गणित जैसी सुनिश्चितता देने का प्रयास सर्वमान्य न होने से दार्शनिक-तर्कशास्त्र (philosophical logic) जैसा विषय फल-फूल रहा है। रही तत्त्व-मीमांसा (Meta physics) की बात, तो फिनॉमिनॉलॉजीकीय तत्त्वमीमांसा की अर्थपूर्णता व महत्त्व को अस्वीकार करना दार्शनिक हठधर्मिता मात्र है। विश्लेषणवादी खेमे की तत्त्वमीमांसा तो तत्त्वमीमांसा ही नहीं है। स्ट्रॉसन की वर्णनात्मक तत्त्वमीमांसा वस्तुतः तत्त्व मीमांसा न होकर संप्रत्ययों का स्पष्टीकरण मात्र है। अतः दर्शन की चार शाखाअें या खण्ड हैं यथा तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र व तर्कशास्त्र जिन्हें कोई भी विज्ञान या गणित अपने में समा नहीं सकता। इतना ही नहीं दर्शन की स्वायत्तता तो इससे भी सिद्ध होती है कि दर्शन केवल इन चार शाखाओं का सामान्य नाम मात्र नहीं है बल्कि उनसे पृथक व स्वतंत्र होता है अर्थात् दर्शन अपनी चार शाखाओं में निःशेष (exhaust) नहीं हो जाता। यह दार्शनिक तर्क शास्त्र, अधिनीतिशास्त्र (meta-ethics), ज्ञान-दर्शन, प्रत्यक्ष-दर्शन आदि दर्शनों से भी सिद्ध होता है, साथ ही साथ दर्शन का दर्शन (meta philosophy) भी उसकी स्वयत्तता की पुष्टी करता है।

दर्शन की स्वायत्तता प्रो. ए. सी. युईंग ने बड़े विनोदी ढंग से प्रतिपादित की है। उनके अनुसार 'A sarcastic person might define it (philosophy) as "everything" and/or "nothing"' (A.C. Ewing; The fundamental questions of philosophy', page 9; Allied publishers, Bombay, 6th impression, 1964)। यहाँ 'nothing' श्लेष के रूप में प्रयुक्त हुआ है। एक अर्थ में 'nothing' से तात्पर्य दर्शन की कोई विषयवस्तु न होना है तो दूसरे अर्थ में उसका तात्पर्य स्वयं 'nothing' (शून्य) भी दर्शन की विवेच्य विषयवस्तु होता है। मेरे मत में ज्यां पॉल सार्त्र द्वारा चेतना को शून्य, रिक्त, 'अतिक्रामी कुच नाहीं' रूपी सत् (being) के रूप में प्रतिपादित किया जाना भाषा-दार्शनिकों के लिये पहाड़-सी चुनौती है।

खैर, मैं यहाँ अत्यन्त नम्रता-पूर्वक गुरु-तुल्य प्रो. राजेन्द्र प्रसाद से असहमति दर्शाना चाहूँगा कि भाषा-दर्शन व विज्ञान-दर्शन ये दर्शन की शाखाअें नहीं हैं जैसा

कि उनके उपरोक्त उद्धरण में प्रतिपादित किया गया है । जैसा कि मैंने कहा है कि दर्शन की चार शाखाएें हैं यथा तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र व तर्कशास्त्र तथा दर्शन इन चार शाखाओं में विभाजित होकर भी उनमें नि:शेष नहीं हो जाता । अब भाषा-दर्शन व विज्ञान-दर्शन ये दर्शन की शाखाएें वैसे ही नहीं है जैसे राजनीति-दर्शन, सामाजिक-दर्शन, भौतिक व जीवविज्ञान-दर्शन इयादि । ये सभी शास्त्र स्वतंत्र शास्त्र हैं तथा उनके स्वरूप, सैद्धान्तिक विरोधाभासों व लक्ष्यों का विस्तृत विवेचन उनका अपना अपना दर्शन बन जाता है । तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा, नीतिशास्त्र व तर्कशास्त्र ये स्वतंत्र शास्त्र नहीं है, इस अर्थ में कि इन्हें महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, भौतिक-विज्ञान व जीव-विज्ञान आदि की तरह स्वतंत्र रूप से नहीं पढ़ाया जाता । हाँ, मानविकीशास्त्रों व प्राकृतिक-विज्ञानों के विद्यार्थियों में मूल्य-चेतना का विकास करने या सुस्पष्ट चिंतन करने का प्रशिक्षण देने के लिये नीतिशास्त्र या तर्कशास्त्र गौण विषय के रूप में पढ़ाए जा सकते हैं लेकिन ये विषय मूलत: दर्शन की शाखा बने रहते हैं ।

यहाँ भाषा-दर्शन के अर्थ को मैं थोड़ा और स्पष्ट करना चाहूँगा । भाषाशास्त्र-दर्शन (Philosophy of linguisties) को भाषा-दर्शन (Philosophy of language) समझने की भूल की जाती है । वस्तुत: दर्शनों का नामकरण न केवल सम्बन्धित मूल शास्त्रों के आधार पर किया जाता है यथा सामाजिक-दर्शन, राजनीति-दर्शन, विज्ञान-दर्शन आदि, बल्कि दर्शन की शाखाओं व उपशाखाओं तथा दार्शनिक पद्धतियों के आधार पर भी किया जाता है । भाषा-दर्शन यह नाम भाषा-विश्लेषण या भाषा के जीवन-संदर्भों में प्रयोग के यथातथ्य वर्णन की पद्धति के आधार पर पड़ा है । और जब यह नामकरण संभ्रम पैदा करने वाला लगा तो गिलबर्ट राईल व जे. एल. ऑस्टिन ने इसे क्रमश: फिनॉमिनॉलजी व भाषिक-फिनॉमिनॉलजी (Linguistic Phenomenology) कहे जाने का आग्रह किया था । (Gilbert Ryle, Collected Papers, Vol. 1, Page 188, Hutchinson and Co. Ltd. 1971 तथा J. L . Austin, Philosophical Papers, page 182, Ed. Urmson and Warnock, Ox ford University Press, third edition, 1979) । यही संभ्रम फिनॉमिनॉलजी की बाबत भी है जिसे कभी विषयवस्तु तो कभी दर्शन-पद्धति के अर्थ में प्रयोग किया जाता है । सार्त्र ने इसी संभ्रम को दूर करने के लिये अपने दर्शन की विषयवस्तु को 'अस्तित्ववाद' कहा तो दर्शन-पद्धति को फिनॉमिनॉलजी ।

२, श्रद्धानंद पेठ,
नागपूर-४४००१०

डॉ. सुरेश कुमार थोरात

*

डा. देवराज - एक श्रद्धाञ्जलि

आज जब जीवन के हर क्षेत्र में उपभोक्ता संस्कृति का दबाव बढता जा रहा है, एक ऐसी जीवन दृष्टि की आवश्यकता अनुभव की जा रही है जो प्राचीन भारतीय सिद्धान्तों की अन्धभक्ति से मुक्त हो तथा वैज्ञानिक युग की समीक्षा-दृष्टि से सम्पन्न हो किन्तु हमारी संस्कृति से पूर्णतया विमुक्त न हो। डा. देवराज उन गिने-चुने मौलिक चिन्तकों में से थे जिन्होंने उक्त चुनौती का सामना अपनी विविध कृतियों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया। जहाँ 'दि माइन्ड एन्ड स्पिरिट आफ इंडिया' (१९६७) 'हिन्दुइज्म एन्ड माडर्न एज' (१९७५) और 'ह्यूमॅनिज्म इन इन्डियन थाट' (१९८८) में भारतीय चिन्तन परम्परा की मानववादी व्याख्या करने का प्रयास उन्होंने किया, वही 'फिलासफी आफ कल्चर' (१९६३) में उन्होंने भारतीय परम्परा की भूमि पर एक पुष्ट मानववादी वैचारिक दर्शन 'सृजनात्मक मानववाद' विकसित करने का सार्थक प्रयत्न किया। उनके अनुसार दर्शन का विषय मनुष्य और उसका जीवन है। आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक और परम्परागत मोक्ष को दर्शन न भी स्वीकारे तो भी उसे जीवन के लक्ष्य और सार्थकता के बारे में विचार करना ही होगा। मनुष्य स्वतंत्र एवं सृजनशील प्राणी है, उसकी सृजनशीलता के विविध आयाम हैं, व्यक्ति जीवन की सार्थकता इसमें है कि वह विपुल प्रतीकाश्रित सांस्कृतिक आत्म् के कुछ चुने हुये आयामों में अपनी चेतनावृत्ति का विस्तार एवं चरितार्थन करे, इस प्रकार का चरितार्थन ही मानव की स्वयं निर्मित नियति कही जा सकती है।

डा. देवराज का जन्म ३ जून १९१७ को रामपूर (३०९०) में हुआ था, बनारस हिन्दू वि.वि. में उन्होंने स्नातक की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पाकर उत्तीर्ण की और दर्शनशास्त्र में परास्नातक की उपाधि इलाहाबाद वि.वि. से प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर प्राप्त की। साथ ही व्याकरण मध्यमा और शास्त्री की परीक्षायें भी उन्होंने उत्तीर्ण कीं जिसमें वे प्राचीन भारतीय शास्त्रीय वाङ्मय को उसके मूल रूप में अध्ययन कर सके। १९४२ में इलाहाबाद वि.वि. से आचार्य शंकर पर उन्होंने डाक्टरेट की उपाधि अर्जित की। लेकिन दार्शनिक प्रश्नें के प्रति तीव्र जिज्ञासा ने उन्हें भारतीय दर्शन तक ही सीमित न रहने दिया और उन्होंने पाश्चात्य दर्शन परम्परा का भी गहरा अध्ययन किया। दोनों परम्पराओं के अध्ययन-मनन का परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो उन्होंने सांस्कृतिक परम्परा के प्रति दर्शनशास्त्र की आलोचनात्मक भूमिका की वकालत की तो दूसरी ओर उच्चतर मूल्यों की

उपलब्धि हेतु प्रतियोगितापरक मूल्यों के स्थान पर कयोवेश सीमित वैराग्य पर जोर दिया ।

आरा (बिहार) में दर्शनशास्त्रके प्राध्यापक पद से अपने कार्यकारी जीवन का प्रारम्भ कर, कुछ वर्ष लखनऊ वि.वि. में सहायक प्रोफेसर (१९४८-६०) रहने के पश्चात वे बनारस हिन्दू वि.वि. में दर्शनशास्त्र के अध्यक्ष पद हेतु चुने गये । वहाँ उन्होंने दर्शनशास्त्र के उच्चतर अध्ययन केन्द्र के डायरेक्टर के पद को भी (१९६७-७२) सुशोभित किया । १९८३-८४ में वे हवाई वि.वि. द्वारा विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में आमंत्रित किये गये । अपनी दार्शनिक एवं साहित्यिक कृतियों के लिये उन्हें अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुये । उन्होंने कई पत्रिकाओं का सम्पादन ('युगचेतना', 'युगसाक्षी') किया तथा कई नयी पत्रिकाओं के सम्पादकीय मंडल के सम्मानित सदस्य भी रहे । १९७२ में वे इन्डियन फिलासोफिकल कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये । उच्चतर अध्ययन संस्थान शिमला के वे फेलो रहे और कुछ वर्ष पूर्व तक भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद के सीनियर -फेलो भी रहे ।

अपनी विविध कृतियों के माध्यम से डा. देवराज जीवन पर्यन्त मूल्यों सम्बंधी समस्या का सकारात्मक समाधान खोजने में प्रयत्नशील रहे । 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन' (१९६०) में उन्होने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि हमारे मूल्यबोध और तत्सम्बंधी निर्णयों का वस्तुगत आधार होता है । 'फ्रीडम, क्रियेटिविटी एन्ड वॅल्यू' (१९८८) में विस्तार से यह प्रतिपादित किया गया कि जिसे हम तथ्य बोध या तथ्यों का ज्ञान कहते हैं वह मूलत: मूल्यबोध से अधिक वस्तुगत नहीं है । इसके लिये सभी तथ्यों में व्यक्तिगत घटक को स्वीकारते हुये उन्होंने व्यक्तिनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के विभिन्न स्तर स्वीकारे तथा 'तथ्य' की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की । इसी अन्तर ने उन्हें भौतिक एवं मानवीय की अन्वेषण एवं व्याख्या पद्धति में भेद करने को बाध्य किया ।

डा. देवराज के अनुसार मूल्यों की सृष्टि और अर्थवत्ता मनुष्य की सर्जनात्माकता के कारण है, इसके लिये कोई भी ईश्वरीय व्यवस्था आवश्यक नहीं । क्या नैतिक / अनैतिक का भेद युग और संस्कृति-सापेक्ष है ? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि कुछ नैतिक मान्यताओं की समय-सापेक्षता असंदिग्ध है किन्तु समस्त सापेक्षताओं से परे कुछ ऐसे व्यवहार-नियम हैं (जैसे दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें) जिन्हें सार्वभौम नैतिकता कहा जा सकता है । उनकी स्पष्ट मान्यता है कि नैतिक मूल्यबोध सार्वभौम है, वह मानव स्वभाव की आन्तरिक आवश्यकता है । नैतिकता की उच्चतम भूमि परहित साधन

की प्रवृत्ति है, संतचरित्र इसकी पराकाष्ठा है। मूल्य सम्बंधी उक्त सापेक्षता के कारण विभिन्न जातियों एवं संस्कृतियों के पारस्परिक मतभेदों को बुद्धिगम्य और स्वीकार्य कैसे कराया जाय कि मानव एकता सम्भव हो, अपनी अंतिम पुस्तक 'लिमिट्स आफ डिसएग्रीमेंन्ट्स (१९९३) में इस प्रश्न पर डा. देवराज ने विस्तार से विचार किया है।

समादृत दार्शनिक होने के अलावा डा. देवराज कवि, कथाकार और आलोचक भी थे। उनके उपन्यास 'अजय की डायरी' व 'पथ की खोज', कविता पुस्तकें 'उर्वशी ने कहा' और 'इतिहासपुरुष' उल्लेखनीय रहे हैं। उनकी पुस्तक 'छायावाद का पतन' अपनी मौलिकता एवं स्पष्टता के लिये बहुचर्चित हुयी थी। अनेक परिवारिक - आर्थिक कष्टों के बावजूद अपने जीवन के अंतिम दिनों तक वे वैचारिक रूप से सक्रिय रहे। प्रचण्ड मेधा के साथ-साथ वे अत्यंत सरल, आत्मीय, परहितकारी और एक खुले व्यक्तित्व के स्वामी थे जिसने कई दार्शनिक पीढियों के साथ निरन्तर संवाद किया और उन्हें प्रेरणा दी। उनके निधन से दर्शन जगत् को अपूरनीय क्षति हुयी है किन्तु उनके कर्तृत्व की प्रकाश-रश्मि वर्तमान सांस्कृतिक संकट के अंधेरे में अभी तक हमारा मार्गदर्शन करी रहेगी।

डा. आलोक टण्डन

५३,अशराफ टोला
हरदोई (उ. प्र.)- २४१००१

*

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७.
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
५. संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

मैं सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

सुभाषचन्द्र भेलके

भाषा की सार्वजनिकता

१-विषय प्रवेश

भाषा सामाजिक व्यापार है, इसे तो सभी स्वीकार करेंगे क्योंकि भाषा का प्रयोग समाज की अपेक्षा रखता है, और समाज, सामाजिक व्यवहार, भाषा की। सामाजिक जीवन जीने के लिए अनिवार्य साधन होने से कहा जा सकता है कि भाषा सार्वजनिक साधन भी है क्योंकि सार्वजनिक न होने पर उसका सामाजिक प्रयोग संभव नहीं हो पायेगा। यह सत्य है, किन्तु उसकी सार्वजनिकता की पूर्ण व्याख्या इतना कहने मात्र से नहीं हो जाती। भाषा की सार्वजनिकता उसकी अनुभूत सामाजिकता का परिणाम मात्र, उसके सामाजिक प्रयोग को संभव करने वाला साधन मात्र, नहीं है। भाषा का प्रयोग समाज में होता है, वह सब के लिए सुलभ है, ये चीजें तो सतही हैं। वह एक अत्यन्त ही गंभीर, महत्त्वपूर्ण, अर्थ में सार्वजनिक है: भाषा की सार्वजनिकता उसके नियमानुशासित होने का तार्किक परिणाम है और नियमानुशासित होना उसके (भाषा के) संप्रत्यय में, उसकी प्रकृति में निहित है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पहले हम नियमानुशासन के संप्रत्यय की परीक्षा करेंगे।

२-'नियमानुशासन' - संप्रत्यय का विश्लेषण

अब तक के प्रकाशित लेखों में, हमने देखा है कि भाषा नियमानुशासित प्रतीकों की समष्टि है। प्रतीक जो भाषा के अवयव हैं, उनके प्रयोग नियमों द्वारा अनुशासित हैं। इस सत्य से कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि नियमानुशासित होना भाषा का एक आगमनात्मक, आनुभविक, तथ्यात्मक गुण है। अर्थात् जिन-जिन भाषाओं से हम परिचित हैं, उनके विषय में हमारा अनुभव बतलाता है कि वे नियमानुशासित हैं। इसीलिए आगमनात्मक चिंतन द्वारा हम मानने लगतें हैं कि अन्य भाषाएँ भी, जिनसे हम परिचित नहीं हैं, नियमानुशासित होगीं। इस दृष्टिकोण से नियमानुशासन को भाषाओं का आगमनात्मक गुण, वैसा गुण जिसका ज्ञान हमें भाषाओं के विषय में आगमनात्मक अनुमान से होता है, मानने पर किसी भाषा के लिए नियमानुशासित होना अनिवार्य नहीं होगा। हो सकता है कि भविष्य में ऐसी कोई भाषा से हम परिचित हो जाएँ जो नियमानुशासित न हो, जैसे बहुत दिनों तक

लोग आगमन के आधारपर मानते रहे कि सभी बत्तकें उजली होती हैं, किन्तु एक समय आया जब आस्ट्रेलिया में काली बत्तकें भी पाई गई।

किन्तु भाषा के विषय में यह सोचना, कि नियमानुशासन उसका आगमनात्मक गुण है, गलत है। यह कहने के लिए कि भाषा नियमानुशासित होती है हमें कई भाषाओं से संबंधित अपने अनुभवों के आधार पर आगमनात्मक सामान्यीकरण की अपेक्षा नहीं होती। जिसे केवल एक भाषा का ज्ञान है वह भी इसे सत्य मानेगा कि सभी भाषाओं के लिए, भाषा मात्र के लिए, नियमानुशासन आवश्यक है। इसका कारण है कि नियमानुशासित होना भाषा के संप्रत्यय से ही निष्कृष्ट होता है। जब भाषा के संप्रत्यय के विषय में हम सोचते हैं, परीक्षा करते हैं कि किस प्रकार इस संप्रत्यय का व्यवहार होता है, तो हम देखते हैं कि भाषा के लिए नियमानुशासित होना तर्कत: अनिवार्य है, उसी तरह जिस तरह किसी खेल के लिए नियमानुशासित होना अनिवार्य है। यह कहने के लिए कि खेल नियमानुशासित होते हैं, खेलों के विषय में तथ्यात्मक परीक्षा, यह परीक्षा कि विभिन्न खेल किस प्रकार खेले जाते हैं, आवश्यक ही है। जो खेल के संप्रत्यय से परिचित हैं, चाहे वह एक ही खेल खेलता हो, या एक भी नहीं, वह यह जानता है कि खेल मात्र के लिए नियमानुशासित होना जरूरी है। ऐसा इसलिए है कि खेल के संप्रत्यय से ही नियमानुशासित होना निगमित होता है; जिस क्रिया-कलाप में नियमानुशासन नहीं है उसे हम खेल नहीं कहेंगे। उसी तरह नियमानुशासन से विरहित होने पर भाषा भाषा न रह कर कुछ और ही हो जाएगी। यह वाक्य कि अमूक भाषा में किसी प्रकार के नियम नहीं हैं असंगत है। हम कल्पना करें किसी भाषा के सारे नियमों को उससे हटा देने की और अपने से पूछें कि उस स्थिति में उसे हम भाषा की संज्ञा देंगे या नहीं। इस आत्मनिरीक्षण का, आंतरिक चिंतन का, जो एक प्रकार का संप्रत्ययात्मक विश्लेषण है, स्पष्ट उत्तर निषेधात्मक होना।

भाषा खेल नहीं है। खेल की उपमा इसकी प्रकृति को समझाने के लिए इसलिए दी जाती है कि जिस प्रकार बिना नियमों के कोई खेल नहीं खेला जा सकता, उसी तरह बिना नियमों के किसी भाषा का प्रयोग नहीं हो सकता। यह लक्षण, भाषा का, या टेबल का, अनिवार्य है, आनुषंगिक नहीं है। इसीलिए कहते हैं कि नियमानुशासित होना भाषा के, खेल के, संप्रत्यय में विचार में, ही निहित है। नियमों के प्रयोग में गलतियाँ हो सकती हैं, किन्तु नियमों की पूरी अवहेलन नहीं की जा सकती। बिना किसी भी नियम के गेंद इधर-उधर मारना खेल नहीं होगा, हाथ-

पैरों का चलाना मात्र हो जाएगा । उसी तरह बिना किसी भी नियम के शब्दों को उच्चारते जाना भाषा का प्रयोग नहीं, बल्कि मुँह से आवाज निकालना मात्र हो जाएगा ।

चूँकि नियमानुशासित होना भाषा का तार्किक गुण है, नियमानुशासन रहित भाषा असंभव है । किन्तु भाषा का यह गुण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, और इसके तार्किक परिणाम भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं ।

भाषा के नियम स्पष्टतया प्राकृतिक नियमों की तरह नहीं हैं । यह प्राकृतिक नियम है कि पानी नीचे की ओर बहता है । यह पानी का, उसकी प्रकृति का, धर्म है। इस में अपवाद नहीं हो सकता, न इसका उल्लंघन किया जा सकता है । इस प्रकार के नियमों का उपयोग सही और गलत का भेद करने के लिए नहीं होता । उक्त नियम के आधार पर हम नहीं कह सकते कि कोई घटना गलत है या सही । प्रकृति के सारे नियम वर्णनात्मक या कथानात्मक होते हैं । वे प्रकृति में वर्तमान् नियमितताओं का वर्णन करते हैं, इसीलिए उन्हें प्राकृतिक नियम कहते हैं । प्राकृतिक नियम प्रकृति पर अनुशासन नहीं करते, क्योंकि अनुशासन में उल्लंघन की संभावना निहित है । 'अनुशासन' का प्रयोग वहीं तर्कसंगत होता है जहाँ पर अनुशासित व्यापार का निरोधी व्यापार भी संभव हैं । गूंगे पर 'चुप रहो' नियम द्वारा अनुशासन लगाने का कोई अर्थ नहीं होता । इसलिए यह कहना कि प्रकृति नियमानुशासित है, तार्किक दृष्टि से गलत है । यदि ऐसा कोई कहता है तो उसे लाक्षणिक अर्थ में ही समझना चाहिए । उसका अर्थ यही होगा कि प्रकृति के व्यापार अनियमित नहीं हैं, अर्थात् प्रकृति में नियमितताएँ हैं । पानी सदा नीचे की ओर ही बहता है, ऐसा नहीं कि कभी गंगोत्री से हरिद्वार की ओर कभी हरिद्वार से गंगोत्री की ओर ।

भाषा के नियमों का उल्लंघन संभव है । वस्तुत: 'भाषा के नियम' पद भी लाक्षणिक है । भाषा के नियम हमारे, भाषा के प्रयोक्ताओं के, नियम हैं । उन नियमों का पालन या उल्लंघन हम करते हैं । वे हमारे भाषीय व्यवहार के नियम हैं, और ऐसे कि हम चाहें तो मानें, चाहे तो तोडें । भाषा का नियमानुशासन हमारे भाषीय व्यवहार का, भाषीय प्रयोगों का, नियमानुशासन है । यदि कोई चाहे तो किसी प्रश्नवाचक वाक्य को 'सत्य - असत्य' का विशेषण दे सकता है । भले ही ऐसा करने का परिणाम अर्थाघात होगा, किन्तु अर्थाघात करना, निरर्थक बातें करना, तर्कत: ही नहीं, वस्तुत: भी, संभव है ।

भाषीय नियमों का उपयोग गलत और सही प्रयोगों में भेद करने के लिए होता

है। बल्कि, भाषा सीखने और सिखाने की प्रक्रिया में उनका यह उपयोग बडा ही सामान्य है। प्राकृतिक नियमों से वे भिन्न हैं क्योंकि उनका उल्लंघन संभव है, फिर भी वे, अन्ततः वर्णनात्मक ही होते हैं। यह नियम कि प्रश्नवाचक वाक्यों को 'सत्य - असत्य' विशेषणों से विशेषित नहीं किया जा सकता है 'प्रश्नवाचक', 'सत्य', 'असत्य' पदों से व्यक्त संप्रत्ययों के प्रचलित व्यवहार का वर्णन ही करता है। इसका आधार यही है कि इन संप्रत्ययों का जैसा व्यवहार है, उसके अनुसार किसी प्रश्नवाचक वाक्य के विशेषण 'सत्य' या 'असत्य' पद नहीं हो सकते, और यदि कोई इसके बावजूद उन्हें उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त करता है, तो जो वाक्य बनेगा (उदाहरण के लिए: 'क्या आज शनिवार है?' सत्य (असत्य) है) वह निरर्थक होगा। इसलिए भाषीय नियम वर्णनात्मक हैं, यद्यपि उनका उल्लंघन संभव है। उनका उल्लंघन हम इसोलिए वर्जित समझते हैं कि उल्लंघन करने से अर्थाघात होता है, और अर्थाघात होने पर भाषीय संप्रेषण नहीं हो पाता है। शब्दों के अर्थहीन संघात के माध्यम से कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

किसी विशिष्ट भाषा, जैसे हिन्दी, के व्याकरणिक नियम भी वर्णनात्मक ही होते हैं। 'विशेष्य' के अनुसार विशेषण का लिंग होता है। हिन्दी के विशेषण पदों के लौकिक व्यवहार का वर्णन करते हैं -- एक प्रचलन, अभ्यास, का उल्लेख करते हैं, और चूंकि यह प्रचलन भाषीय प्रयोगों में लोक व्यवहार द्वारा प्रतिष्ठित हो गया है, इसका उल्लंघन भी हमें खटकता है, और अर्थबोध में बाधक होता है। यदि कोई 'काली घोडा' पद का प्रयोग करता है तो हम इससे 'काली घोडी' या 'काला घोडा' समझकर ही उसके गलत प्रयोग को अपनी भाषीय चेतना में मार्जित कर उसका अर्थ ग्रहण करते हैं।

भाषीय नियमों के उल्लंघन का दंड होता है अर्थाघात और अर्थाघात की मात्रा घट- बढ सकती है। कुछ नियमों के उल्लंघन से कम अर्थाघात होता है, कुछ से अधिक। परीक्षा में पूछे गये प्रश्नों के उत्तरों की परीक्षार्थियों की भाषा प्रायः कई नियमों का उल्लंघन करती है। किन्तु परीक्षक उनका अर्थ समझ लेता है जब तक कि अर्थाघात इतना नहीं होता कि उनके संपूर्ण उत्तर, या किसी उत्तर का कोई अंश — यह भी कभी कभी होता ही है —, बिल्कुल अर्थहीन हो जाय। बोलचाल में हम गलत हिन्दी बोलते हैं, फिर भी एक-दूसरे की बातें समझ ही लेते हैं। ऐसा इसलिए संभव हो पाता है कि भाषीय नियमों की अपनी समझ द्वारा श्रोता गलत प्रयोगों को ठीक कर लेता है, या स्वयं गलत प्रयोगों का ही आदी रहता है।

विशिष्ट भाषाओं के आंतरिक नियमों को उस भाषा के प्रयोग में दक्षता प्राप्त करने के लिए सीखना जरूरी है । हिन्दी में प्रवीण होने के लिए हिन्दी के नियमों को जानना आवश्यक है । अंग्रेजी व्याकरण का ज्ञान उसके लिए न तो आवश्यक है, न पर्याप्त । विशिष्ट भाषा के किसी नियम का उल्लंघन अर्थाघात करता है, किन्तु यह अर्थाघात स्थानीय, उसी भाषा के संबंधित खंड, तक सीमित रहता है । 'काला घोडी चरता है' में हिन्दी व्याकरण के दो नियमों का उल्लंघन होता है । और उससे उत्पन्न दोष हिन्दी के एक विशिष्ट प्रयोग का दोष है ।

किन्तु 'काला चरता है' में विद्यमान अर्थाघात एक संप्रत्ययात्मक नियम के उल्लंघन का परिणाम है । यह संप्रत्ययात्मक नियम है कि विशेषण पदों से व्यक्त संप्रत्ययों के साथ क्रिया-पदों द्वारा व्यक्त संप्रत्ययों का विधान नहीं किया जा सकता, अर्थात् विशेष्यशून्य विशेषण पदों का विधेय कोई क्रियापद नहीं हो सकता - क्रियापद किसी संज्ञा सर्वनाम, या संज्ञा-जैसे व्यवहार करनेवाले पद-समूह विधेय हो सकता है । यह नियम संप्रत्ययात्मक होने से भाषा मात्र के लिए वैध है, इसके उल्लंघन से दूषित वाक्य किसी भी भाषा में अर्थाघात उत्पन्न करेगा । उपर्युक्त वाक्य को जिस किसी भाषा में अनूदित करें, उसका अर्थ कुछ नहीं होगा । संप्रत्ययात्मक दोष अधिक गंभीर होते हैं, और उनसे उत्पन्न अर्थाघात भी । भाषाओं के घरेलू नियमों के उल्लंघन से उत्पन्न दोषों की अपेक्षा अर्थबोध में वे अधिक बाधक होते हैं । वे प्रायः उसे दूषित वाक्य को पूर्णतः अर्थहीन कर देते हैं । उनका निदान भी कठिन होता है क्योंकि जिन नियमों के उल्लंघन से वे उप्तन्न होते हें उनको किसी ग्रंथ में नहीं ढूंढा जा सकता । उनको ढूंढने के लिए भाषा का संप्रत्ययात्मक विश्लेषण आवश्यक होता है जिसके लिए तार्किक प्रौढता, न कि मात्र व्याकरणीय प्रौढता, अपेक्षित होती है ।

नियमानुशासन में कुछ न कुछ बाध्यता अवश्य रहती है । जो नियम आदर्श निर्धारक होते हैं, जिनमें किसी मूल्य की भावना, या चाहिए कि भावना रहती हैं, उनमें तो बाध्यता स्वाभाविक है । किन्तु भाषीय नियमों की विचित्रता है कि वर्णनात्मक होने पर भी उनमें बाध्यता रहती है । इस बाध्यता के चलते ही कुछ लोग समझते हैं कि भाषीय नियम 'चाहिए' सूचक हैं, किन्तु यह गलत है ! किसी भाषीय नियम के पक्ष में दिया गया तर्क किसी 'चाहिए' — वाक्य के समर्थन में दिए तर्क से बिल्कुल भिन्न होता है । विशेषण पद का विधेय क्रियापद नहीं हो सकता; इस नियम के समर्थन या उसकी व्याख्या के लिए हम अपने भाषीय अन्तर्ज्ञान, अपनी

भाषीय चेतना, का सहारा लेकर बतलाते हैं कि इसके उल्लंघन का परिणाम अर्थाघात होता है और वह इस प्रकार के हैं कि विशेषण-पद का विधेय क्रियापद को बनाना तर्कतः असंगत होता है । इस तरह का तर्क किसी चाहिए-वाक्य (जैसे 'दूध पीना चाहिए') के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त होगा । किसी चाहिए-वाक्य के लिए दिए गए तर्क में आधार वाक्य के रूप में कम से कम एक, किसी अन्य, 'चाहिए' वाक्य या मूल्य वाक्य का प्रयोग करना आवश्यक होता है (जैसे दूध पीना चाहिए क्योंकि स्वस्थ रहना चाहिए, या स्वस्थ रहना वांछनीय है जो दूध पीने का परिणाम है । [2]भाषीय नियमों की बाध्यता कुछ तो अभ्यासजनित होती है, कुछ इसलिए कि इनके उल्लंघन का परिणाम बडा अप्रिय होता है । हमने कहा है कि विशिष्ट भाषाओं के नियमों में कोई तार्किक अनिवार्यता नहीं होती । हम घोडे को 'घोडा ' शब्द से पुकारें, या कर्ता का 'ने' चिन्ह सकर्मक क्रिया के सामान्यभूत में लगावें, इसके लिए कोई अनिवार्यता नहीं है । किन्तु फिर भी हम घोडे को 'गदहा' शब्द से पुकारने में, या उपर्युक्त स्थिति में 'ने' चिन्ह छोड देने में, भय खाते हैं । घोडे को घोडा कहने में, या 'राम ने आम खाया' कहने में हम बाध्य महसूस करते हैं । संप्रत्ययात्मक नियमों के पालन करने की बाध्यता अधिक सूक्ष्म किन्तु अधिक तीव्र होती है क्योंकि उनके उल्लंघन के परिणाम होते हैं तार्किक असंगति और उससे उत्पन्न संप्रेषण की विफलता ।

वर्तमान अन्वेषण में, एक - दूसरी से जुडी हुई मेरी दो पूर्वमान्यताएँ हैं जिन्हें मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ । वे हैं (१) मनुष्य की बौद्धिकता और (२) भाषा का अर्थपूर्ण तथा संगत व्यवहार कहने की उसकी प्रतिबद्धता । मैं यह मान कर चल रहा हूँ कि वह बौद्धिक (केवल बौद्धिक नहीं) प्राणि है और भाषा के संगत, अर्थपूर्ण, व्यवहार के लिए प्रतिबद्ध है । जो बौद्धिक नहीं है, जो यह नहीं मानता है भाषा का संगत, अर्थपूर्ण व्यवहार उसका दायित्व या कर्तव्य है, उसके लिए भाषीय नियमों का उल्लंघन न करने के पक्ष में दिए गए किसी भी तर्क की वैधता प्रमाणित नहीं की जा सकती । बल्कि ऐसे व्यक्ति के संदर्भ में इस प्रकार का तर्क देना अनर्गल होगा।

भाषीय नियमों - भाषा के संप्रत्ययात्मक नियमों - का उल्लंघन वर्जित है क्योंकि उसके परिणाम होते हैं असंगति और तज्जनित अर्थहीनता । यदि कोई पूछे कि भाषा का अर्थपूर्ण प्रयोग वह क्यों करें, तो पहले हम यही कहेंगे कि भाषीय प्राणि, सामाजिक प्राणि, होने के नाते भाषा के अर्थपूर्ण प्रयोग के लिए वह प्रतिबद्ध है । चूंकि भाषीय संप्रेषण सामाजिक जीवन का अनिवार्य अंग है, हर एक सामाजिक

प्राणि अर्थपूर्ण संप्रेषण के लिए प्रतिबद्ध है । किन्तु यदि वह इस प्रतिबद्धता को अस्वीकार करे तो हमें कुछ-कुछ इस प्रकार की तर्कना देनी पडेगी : यदि सामाजिक जीवन जीना है तो भाषीय संप्रेषण करना ही होगा । असंगत, अर्थहीन, भाषीय प्रयोगों से, जो भाषीय नियमों के उल्लंघन के अनिवार्य परिणाम हैं, भाषीय संप्रेषण न हो पाएगा । भाषा के प्रयोग का लक्ष्य होता है सफल भाषीय संप्रेषण करना । वैसे साधन (असंगत, अर्थहीन प्रयोग) का व्यवहार जिससे लक्ष्य (भाषीय संप्रेषण) की सिद्धि बाधित हो जाय अबौद्धिक है । और, बौद्धिक प्राणि अबौद्धिक कार्य नहीं करता है । इसलिए यदि आप ऐसा करते हैं तो उस संदर्भ में बौद्धिक प्राणि न रह जायेंगे और ऐसी स्थिति में आप के साथ किसी प्रकार का तार्किक विवेचन या विवाद नहीं किया जा सकता ।

यदि ध्यान से देखा जाय तो उपर्युक्त मान्यताएँ ऐसी नहीं हैं कि उन्हें स्वीकारने में हमारी चिंतन - शक्ति पर कोई अनुचित या अत्यधिक दबाव पडता हो । वे तो वस्तुत: किसी भी अन्वेषण, साहित्यिक, कलात्मक वैज्ञानिक, न कि केवल संप्रत्ययात्मक, के लिए अनिवार्य हैं । जो लक्ष्य के अनुकूल साधन और अर्थपूर्ण भाषा के प्रयोग के लिए अपने को आबद्ध नहीं मानता उसके साथ किसी भी प्रकार का संप्रेषण संभव न हो पाएगा, उसके साथ कोई बात-चीत ही नहीं हो सकती । ऐसे व्यक्ति को अचेतन रूप में या शिष्टाचारवश भले ही हम मनुष्य की संज्ञा दे दें, हमारी तर्कबुद्धि उसे मनुष्य कहने में सदा हिचकेगी ।

३-सार्वजनिकता : नियमानुशासन से निष्कृष्ट

जहाँ कहीं भी नियमानुशासन संभव है, वहाँ संबद्ध नियमों द्वारा अनुशासित होनेवाले दृष्टान्तों का होना तर्कत: आवश्यक है । दृष्टान्तों से मेरा मतलब उन पदार्थों से है जिनका अनुशासन उन नियमों द्वारा होता है या हो सकता है । चूँकि भाषा अनुभूत वास्तविकता का एक खंड है, भाषीय नियमों द्वारा अनुशासित दृष्टान्तों की वास्तविकता भी सिद्ध है ।

किसी भी पदार्थ को किसी नियम के अनुशासन में लाने के पहले निश्चयात्मक रूप से यह जान लेना आवश्यक है कि वह उस नियम का उपयुक्त दृष्टान्त है । किन्तु यह तभी संभव है जब हमारे पास संबद्ध दृष्टान्तता के लिए, उपयुक्त दृष्टान्तों को परखने के लिए, सार्वजनिक निकष या मापदंड हों । उदाहरण के लिए, प्रश्नवाचक वाक्यों के 'सत्य' - 'असत्य' विशेषणों से विशेषित न हो सकने के नियम को ही लें । इस नियम से अनुशासित दृष्टान्त प्रश्नवाचक वाक्य है । इसलिए जब तक हमें

यह तय करने के सार्वजनिक तरीके लक्ष्य न हों कि कोई वाक्य प्रश्नवाचक है या नहीं, उक्त नियम का प्रयोग नहीं हो सकता । अर्थात् प्रश्नवाचकता की पहचान के लिए सार्वजनिक मापदंड का होना अनिवार्य है ।

कोई पूछ सकता है कि मापदंड सार्वजनिक क्यों हो? क्यों नहीं हम अपना बिल्कुल निजी मापदंड बना सकते हैं ? सार्वजनिक मापदंड का मतलब वैसे मापदंड से नहीं है जो किसी को भी अस्वीकार्य न हो । सार्वजनिक मापदंड से तात्पर्य वैसे मापदंड से है जिसका किसी दृष्टान्त द्वारा संतुष्ट या न संतुष्ट होने की, उस के अनुरूप या प्रतिकूल होने की, सार्वजनिक परीक्षा हो सके । इस अर्थ में निजी मापदंड वह होगा जिसकी सार्वजनिक परीक्षा असंभव होगी । अगर हम मापदंड के संप्रत्यय के विषय में गंभीरतापूर्वक सोचें तो पाएँगे कि उसके संतुष्ट या न संतुष्ट होने की सार्वजनिक वस्तुनिष्ठ, परीक्षणीयता, उसका अनिवार्य लक्षण है । मापदंड के प्रयोग में गलतियाँ हो सकती हैं, किसी दृष्टांत के उपयुक्त-अनुपयुक्त होने के विषय में संदेह हो सकता है । यदि मापदंड सार्वजनिक नहीं है, तो न उसके प्रयोग में कभी कोई गलती हो सकती है, न कभी कोई संदेह ।

किसी व्यक्ति द्वारा बनाए गए बिल्कुल स्वैच्छिक मापदंड की भी सार्वजनिक परीक्षा यदि हो सकती है तो उसे सार्वजनिक ही कहेंगे । यदि कोई अपना मापदंड रखे कि किसी वाक्य के शब्दों की संख्या विषम होगी, तभी उसे प्रश्नवाचक कहेगा, तो यह मापदंड भी सार्वजनिक ही होगा क्योंकि शब्दों की संख्या के विषम होने या न होने की सार्वजनिक परीक्षा हो सकती है । कोई भी गिनकर बता सकता है वह विषम है या नहीं । बिल्कुल वैयक्तिक मापदंड वह होगा जिसके संतुष्ट हो पाने की परीक्षा उसको बनानेवाले के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा तर्कतः असंभव हो । चूँकि ऐसे मापदंड के विषय में, उस व्यक्ति को, क्योंकि उसने इसे बनाया है, और उसी को क्योंकि परिभाषतः यह उसी तक सीमित है, पूर्ण ज्ञान रहेगा, किसी दृष्टान्त द्वारा उसके संतुष्ट-न-संतुष्ट होने के विषय में औरों से मतैक्य-मतभेद या वाद-विवाद, कोई गलती या संदेह, का होना तर्कतः असंभव हो जायेगा । ऐसे मापदंड को मापदंड न कहेंगे, क्योंकि मापदंड के प्रयोग के विषय में मतसाम्य, मतभेद, वादविवाद, संदेह, आदि की तार्किक संभावना मापदंड के संप्रत्यय से ही आपादित है । वस्तुतः वैयक्तिक मापदंड की कल्पना ही असंगत है । अतः भाषीय पदार्थों, दृष्टान्तों की पहचान के सार्वजनिक मापदंड या लक्षणों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । यह संभव है और तथ्य भी कि इन लक्षणों को सभी साफ-साफ वर्णित या

शब्दबद्ध नहीं कर सकते, यद्यपि इनका प्रयोग अवश्य करते हैं । किसी मापदंड को ठीक-ठीक वर्णित कर पाने की योग्यता उसका प्रयोग कर लेने की योग्यता से भिन्न है । पहला कार्य अधिक वैश्लेषिक और बौद्धिक है जिसे भाषा दर्शन और कुछ अंश तक सैद्धान्तिक भाषिकी में होता है ।

भाषीय पदार्थों: दृष्टान्तों, के पहचान के लक्षणों, मापदंडों की सार्वजनिकता वस्तुतः भाषा की सार्वजनिकता है । विभिन्न भाषीय, संप्रेषणात्मक, क्रियाएँ विभिन्न प्रकार के भाषीय संरचनाओं के प्रयोग द्वारा संपन्न की जाती हैं । प्रश्न पूछने की क्रिया भाषीय संप्रेषण की क्रिया है और उसे हम प्रश्नवाचक वाक्य के प्रयोग द्वारा करते हैं । भाषीय क्रियाओं के साधक सभी संरचनाएँ नियमानुशासित ढंग से प्रयुक्त होती हैं और उन सब के पहचान के लिए मापदंड होते हैं । मापदंडों के अभाव में हम यह नहीं जान पाएँगे कि कौन-सा शब्द-समूह किस प्रकार की भाषीय संरचना का सूचक है, और उसका परिणाम होगा कि हम उससे यथोचित भाषीय क्रिया न कर पाएँगे । यदि प्रश्नवाचकता की पहचान के लिए हमारे पास कोई मापदंड न हो तो हम यह नहीं जान पाएंगे कि कोई वाक्य प्रश्नवाचक है या नहीं, जिसके फलस्वरूप प्रश्न पूछने की भाषीय क्रिया कर सकने में हम असमर्थ हो जाएँगे । इस प्रकार मापदंडों के अभाव में, सार्वजनिक तरीके से परीक्षणीय लक्षणों के अभाव में, भाषा भाषा न रह पाएगी ।

भाषीय नियमों के दृष्टान्तों की पहचान में ही नहीं बल्कि नियमों के प्रयोग में भी गलत और सही का भेद किया जा सकता है । इससे भी भाषा की सार्वजनिकता सिद्ध होती है ।

जहाँ कहीं भी नियमानुशासित होना संभव है, वहाँ गलत-सही का होना संभव है । जिस नियम का केवल सही प्रयोग, या केवल गलत प्रयोग ही संभव हो, उसे नियम नहीं कह सकते । जैसे, जिस खेल में केवल विजयी होना, या केवल हार खाना, ही संभव हो, उसे खेल नहीं कहेंगे । किन्तु सार्थक ढंग से गलत-सही का भेद तभी हम कर सकते हैं जब उनकी परीक्षा सार्वजनिक ढंग से की जा सके । सार्वजनिक संदर्भ में ही 'गलत' - 'सही' का प्रयोग हो सकता है । कभी-कभी कुछ भाषीय नियमों का अपवाद भी हो सकता है, किन्तु अपवाद भी सही अर्थ मे अपवाद तभी होगा जब उसके पहचान के सार्वजनिक लक्षण मौजूद हों, नहीं तो कोई किसी भी गलत प्रयोग को अपवाद कहकर अपने प्रयोग को सही कह सकता है । किन्तु इससे भाषा में गलत-सही का भेद ही मिट जायेगा । उदाहरण के लिए

कभी-कभी किसी वर्णनात्मक वाक्य का प्रयोग वर्णन के लिए नहीं बल्कि मूल्यांकन के लिए किया जा सकता है । जैसे, 'आप उस समय वहाँ थे' का प्रयोग आपके वहाँ होने का कथन या वर्णन करने के लिए नहीं बल्कि यह बतलाने के लिए भी हो सकता है कि वहाँ उस समय जो अशोभन घटना घटी उसे आपने घटने दिया और इसीलिए आप अपराधी हैं । किन्तु ऐसी स्थिति में यह तय करने के लिए कि उक्त वाक्य, जो साधारणतया वर्णनात्मक है, अपवादस्वरूप, या असाधारण प्रयोग में, मूल्यांकन बन गया है, सार्वजनिक तरीके उपलब्ध रहते हैं । हिन्दी के व्याकरणिक नियम 'दीर्घ ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं' के अपवाद भी हैं जैसे 'दही', किन्तु ये अपवाद सार्वजनिक प्रयोग में स्वीकृत हैं । यदि कोई जब जी चाहे जिस दीर्घ ईकारांत शब्द को पुल्लिग की तरह प्रयोग करने लगे तो उसकी भाषा को समझना दुष्कर हो जायगा ।

भाषीय नियमों का प्रयोग निगमनात्मक तरीके से नहीं होता है । हम इस प्रकार नहीं सोचते : कोई भी प्रश्नवाचक वाक्य 'सत्य' - 'असत्य' विशेषण का विशेष्य नहीं बन सकता, 'व' वाक्य प्रश्नवाचक है, इसीलिए 'व' 'सत्य' - 'असत्य' का विशेष्य नहीं बन सकता । इस तरह के तर्क का प्रयोग हम किसी दूसरे व्यक्ति को 'व' के सत्य-असत्य न हो सकने को सिद्ध करने के लिए, या उसकी गलती को स्पष्ट करने के लिए, करते हैं । निजी प्रयोग में तो किसी वाक्य को प्रश्न वाचक स्वीकार करने का अर्थ होता है उसे उससे संबंधित भाषीय, संप्रत्ययात्मक, नियमों के अनुशासन में लाना । ऐसा हम कभी-कभी न कर पाते हैं तो उसका कारण होता है पर्याप्त संप्रत्ययात्मक या वैश्लेषिक प्रौढता का अभाव, जिसे दुर्बल भाषाबोध या तर्कबोध भी कह सकते हैं । ऐसा इसीलिए होता है कि सभी भाषीय प्रयोग, सभी भाषीय संरचनाओं के व्यवहार, और सभी भाषीय नियम, अपने वास्तविक स्वरूप को सदा, हरएक को, स्पष्टतया प्रदर्शित नहीं करते ।

४. पूर्णत: वैयक्तिक भाषा की तार्किक असंभावना

भाषा की सार्वजनिकता वस्तुत: सिद्ध होने पर भी भाषा को अनिवार्यत: सार्वजनिक कहना बहुतों को गलत लगता है । इसका कारण भाषा के संप्रत्यय को या वैयक्तिक भाषा के संप्रत्यय को, ठीक से नहीं समझना है । चूँकि भाषा के संप्रत्यय का विवेचन हम कर चुके हैं, अब वैयक्तिक भाषा के संप्रत्यय को लेंगे ।

वैयक्तिक भाषा से कभी-कभी हमारा आशय वैसी भाषा से होता है जिसे कोई व्यक्ति अपने किसी गुप्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए बना लेता है । इसके पदों के अर्थ

औरों को नहीं मालूम होते । जैसे, यदि मुझे श्यामसुन्दर शुक्ल से कोई झगडा है और अपनी डायरी में 'श्यामसुन्दर शुक्ल ' के लिए 'शु' का प्रयोग करूँ, उनके नाम झूठा मुकदमा दायर करने के लिए 'म' का, गवाहों पर खर्च करने के लिए 'ग' का, और डायरी में 'शुमग' लिख डालूँ तो किसी भाषा का शब्द न होने से इसका अर्थ किसी शब्दकोष में नहीं मिलेगा । मेरे सिवा किसी अन्य को इसका अर्थ नहीं मालूम होगा । इस तरह की अपनी एक सुविकसित भाषा मैं बना सकता हूँ । ऐसी वैयक्तिक भाषा निस्सन्देह संभव ही नहीं है बल्कि कई लोगों द्वारा वस्तुतः बनाई भी जाती है। किन्तु यह सचमुच पूर्णतः वैयक्तिक नहीं है, क्योंकि इसका रूपांतर सार्वजनिक भाषा में संभव है । यह अपने निर्माता को भी इसीलिए सार्थक होती है कि वह इसका रूपांतर सार्वजनिक भाषा में करता है और सार्वजनिक भाषा के नियमों द्वारा ही इसका अनुशासन भी करता है । यदि वह कोई ऐसा भी नियम बना लेता है जो उसकी सार्वजनिक भाषा में नहीं होता है, तो वह नियम भी अन्ततोगत्वा सार्वजनिक भाषा के किसी नियम में रूपांतरणीय होगा । यदि उसके सारे शब्द, सारे नियम नए हैं और किसी भाषा में रूपांतरणीय नहीं हैं तो उस भाषा का अर्थ वह भी न समझ पाएगा । इसीलिए गुप्त भाषा के रूप में तो वैयक्तिक भाषा संभव है किन्तु ऐसी भाषा के अर्थ में नहीं जिसका सार्वजनिक भाषा में रूपांतर तर्कतः असंभव हो । जब मैंने वैयक्तिक भाषा को असंभव कहा था तो मेरा मतलब ऐसी ही भाषा से था । ऐसी ही, सार्वजनिक में अरुपांतरणीय भाषा को पूर्णतः वैयक्तिक भाषा कहेंगे जो संभव नहीं है ।

किसी भी भाषा के लिए अनिवार्य है कि वह सीखी-सिखाई जा सके । यदि मनस्तुष्टि के लिए हम मान भी लें कि पूर्णतः वैयक्तिक भाषा की रचना की जा सकती है तो उसे किसी को सिखाया नहीं जा सकता, क्योंकि अपने रचनाकार से भिन्न किसी अन्य के लिए उसका सुबोध होना तर्कतः असंभव है और जिस भाषा को सिखाया नहीं जा सकता, उसे सीखा भी नहीं जा सकता । किन्तु जिसे सीखा - सिखाया न जा सके उसे भाषा कहने में भाषा का हमारा स्वाभाविक संप्रत्यय विद्रोह करता है । जिसे खेला - खेलाया न जा सके उसे 'खेल' कौन कहेगा?

भाषा सदा दो-तरफी होती है और सिद्धांततः बहु-तरफी । दो-तरफी होने का अर्थ है कि भाषीय प्रयोग में सदा कम से कम दो व्यक्तियों, वास्तविक या काल्पनिक, की अपेक्षा होती है, वक्ता और श्रोता (लेखक-पाठक) की धारणा निहित रहती है । जहाँ एक ही व्यक्ति अपने अंदर बिना मुँह से बोले, भाषा का

प्रयोग करता है, वह किसी श्रोता की कल्पना कर लेता है, या अपने को ही दो भागों में बाँट लेता है - एक भाग कहता है और दूसरा भाग सुनता-समझता है । ऐसी भाषा भी सिद्धांततः बहु-तरफी होती है क्योंकि सिद्धांततः जो एक भाग कहता है वह औरों द्वारा भी कहा जा सकता है और जो दूसरा भाग सुनता-समझता है वह औरों द्वारा सुना-समझा जा सकता है । जहाँ यह संभव नहीं है वहाँ भाषा का अस्तित्व भी संभव नहीं है । इसी तथ्य को यों भी कह सकते हैं कि इस संभावना को झुठलाने वाली भाषा संभव नहीं है ।

स्टेडियम मेन गेट के सामने
प्रेमचन्द पथ, राजेन्द्र नगर
पटना (बिहार) ८०००१६

राजेन्द्र प्रसाद

टिप्पणियाँ

१. यही पत्रिका, खंड १९, २०

२. 'Justification in Ethies' in my book Karma, Causation and Retributive Morality (ICPR.N.Delhi)

शून्यता दर्शन तथा ब्रह्मवाद- एक पुनर्मूल्यांकन

आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक या शून्यता-दर्शन तथा आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद अपने अपने स्तर पर बहुत ही प्रभावशाली दर्शन के रूप में हमारे समक्ष उभरते हैं। परंतु यह खेद की बात है कि नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन को आक्षरिक अर्थ में शून्यवाद मानकर हमारे दार्शनिक परंपरा में इसकी अनेक प्रकार से अयथार्थ समालोचना की गयी है और उसके साथसाथ निर्गुणब्रह्मवाद को भी शून्यवादी कहकर तथा वेदान्त दर्शन को शून्यवादी ढाँचे में ढालकर उसका भी छक्का छुडाया गया है। पहले हमें देखना है कि वेदान्ती तथा अन्य अनेक वेदवादी दार्शनिक शून्य का आक्षरिक अर्थ लगाकर माध्यमिक दर्शन को जैसे उपहास का पात्र बना दिया है, वह कितना सही है। ब्रह्मसूत्रभाष्य में आचार्य शंकर ने तो शून्यतादर्शन को समीक्षा या खण्डन का भी योग्य नहीं समझा, "शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण विप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादर: क्रियते"।[१] मध्वाचार्यने शंकरवेदान्त को मायावाद कहकर निर्गुण ब्रह्म को शून्यवादियों के शून्यता के साथ एकीभूत कर दिया, "यत् शून्यवादिन: शून्यं, तदेव ब्रह्म मायिन:", पहले तो मैं शंकर के ब्रह्मवाद को मायावाद की आख्या देकर शंकर जैसे ब्रह्मवादियों को 'मायिन:' कहने का विरोध करूँगा। हां, माया का स्थान अद्वैतवेदान्त में जरूर है, परंतु ब्रह्म ही यहाँपर मुख्य प्रतिपाद्य है जो कि 'तत्तु समन्वयात्' सूत्र से ही ज्ञात हो जाता है। माया का स्थान तो यहाँपर गौण ही समझा जायेगा। जगत् की अनिर्वचनीयता ही 'माया' शब्द से व्यक्त की जाती है और जब माया ब्रह्म की शक्ति के रूप में हमारे समक्ष आती है, वहाँपर भी वह सगुण ब्रह्म की ही अनिर्वाच्य शक्ति के रूप में हीं उभरती है। जैसे कि आचार्य ने स्वयं कहा है —"सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो, भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो, सांगाप्यनंगाप्यत्रयात्मिका नो, महाद्भूतद्निर्वचनीयरूपा।"[२] अस्तु, माया तो सगुणब्रह्म की ही अनिर्वाच्य शक्ति है और इसलिए वेदान्त दर्शन में इसका स्थान ब्रह्म के समक्ष गौण ही समझा जाएगा। फिर निर्गुण ब्रह्म को आक्षरिक अर्थ में शून्यवादियों के शून्यता मानकर वेदान्त के निर्गुण ब्रह्मवाद तथा नागार्जुन के शून्यता दर्शन दोनों के प्रति एक साथ महान् अन्याय किया गया है, यह मेरा मानना है। आचार्य शंकर स्वयं ही तुरीय आत्मतत्त्व या ब्रह्म को शून्य से पृथक् करते हुए, अपने

ही द्वारा उत्थापित प्रश्न —"शून्यमेव तर्हितत् ?" (क्या यह शून्यमात्र है ?) के उत्तर में कहते हैं —"न, मिथ्या विकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः" ।[3] परमार्थ तत्त्व शून्य हो नहीं सकता, क्योंकि मिथ्या विकल्प का भी निराश्रय तथा निरालम्ब होना सम्भव नहीं है और सबकुछ शून्य होने पर भी उसका साक्षी तो शून्य नहीं हो सकता। "किंचित् हि परमार्थमालंब्य अपरमार्थः प्रतिषिच्यते"[4]— असत् या अनृत का खण्डन करके परमार्थतत्त्व की स्थापना की जाती है और इसीलिए परमार्थतत्त्व जो कि सच्चिदानन्द-स्वरूप है, वह शून्यमात्र नहीं हो सकता ।

अब शून्यतादर्शन के बारे में भी यह विचार करना जरुरी हो जाता है कि क्या यह आक्षरिक अर्थ में शून्यवाद है ? इस विषय पर स्वयं आचार्य नागार्जुन ही मूलमध्यम कारिका में प्रकाश डालते हुए कहते हैं— "शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्, उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ।" नागार्जुन का कहना है कि उनके माध्यमिक दर्शन जिस तत्त्व की ओर इशारा कराता है, उसे न शून्य कहना चाहिए, न उसे अशून्य भी कहा जा सकता है, वह उभय या अनुभय भी नहीं है । केवल प्रज्ञप्ति मात्र के लिए ही यह कथन अभिप्रेत है । शून्यता दर्शन आक्षरिक अर्थ से शून्यवाद नहीं है । शून्यता निःस्वभावता का नामान्तर मात्र है । इसीलिए शून्यता दर्शन के साथ निर्गुण ब्रह्मवाद को एकीभूत करने का प्रयास दोनों ही दर्शनों के प्रति महान् अविचार ही है ।

अस्तु, अब देखना है — शून्यतादर्शन वास्तव में है क्या? क्या यह अद्वैत ब्रह्मवाद की तरह कोई पराजागतिक निरपेक्ष परतत्त्व की तरफ इशारा करता है जिसे श्रुति 'अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ' या 'अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य' या नेति, नेति' आदि कहकर निषेधात्मक ढंग से ही निर्देश करता है ? टी.आर.व्ही.मूर्ति, सि.डि. शर्मा आदि विद्वानों के अनुसार शून्यता एक ऐसा पराजागतिक परमतत्त्व है जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता । मूर्ति के अनुसार शून्यतादर्शन 'नो रियालिटी डॉक्ट्रिन' अर्थात् सत्ता-शून्यता का सिद्धांत नहीं है; यह तो 'नो-विड-एबाउट-रियालिटी' अर्थात् सत्ता की अगोचरता, अव्यपदेश्यता का सिद्धांत ही है ।[5] उपनिषद् में जिस परम सत्ता के बारे में 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहा गया है, शून्यता दर्शन में शून्य केवल वैसे ही एक परमसत्ता के प्रति इशारा करता है जो सब मानस-प्रत्ययों से परे है और जिसके बारेमें कोई भी दार्शनिक सिद्धांत लागू नहीं हो सकता । "अस्ति, नास्ति, उभय,अनुभय, इति चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं शून्यत्वम्" । परम सत्ता तो है, किंतु उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह बद्धि के परे है । शून्यता दर्शन को ऐसा एक

परमसत्तावादी सिद्धांत मानने पर उसमें और निर्गुणब्रह्मवाद में ज्यादा कुछ अन्तर रह नहीं जाता । इस अर्थमें शून्य और ब्रह्म में कोई अन्तर न होने के कारण शून्यवाद ब्रह्मवाद का ही नामान्तर मात्र बन जाता है । राधाकृष्णन्, सेर्वाट्स्कि जैसे अद्वैतवादियों से ही ऐसी भावधारा आधुनिक काल में चलने लगी, परंतु इसकी पुष्टि तो टि.आर.व्ही. मूर्ति तथा सि.डि. शर्मा जैसे विद्वानों के हाथ हुई । इसीलिए यहाँपर सि.डि. शर्मा के मत की थोडी सविस्तर आलोचना करना जरूरी समझता हूँ ।

डा. शर्मा का कहना है – "शून्यवाद विशुद्ध विज्ञान को ही तत्त्व मानता है । नागार्जुन ने तत्त्व का लक्षण जो अपरोक्ष, निर्विकल्प, प्रपंचातीत आदि शब्दों से किया है वह विशुद्ध विज्ञान के अतिरिक्त और किसका हो सकता है ?"[६] आगे चलकर वे कहते हैं – "हमारे मत से शून्यवाद और अद्वैत वेदान्त में केवल आग्रह का भेद है मत का भेद नहीं ।" "शून्यवाद दर्शन विकास की पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तरभूमि ।" बौद्ध तथा वेदान्त दर्शन दोनों ही भगवति श्रुति से ही प्रेरणा पाने के कारण उनमें वास्तव में भेद ही नहीं है, इस मत की पुष्टि करते हुए डा. शर्मा कहते हैं – "प्रत्येक बौद्ध प्रकट वेदान्ती है और प्रत्येक वेदान्ती प्रकट बौद्ध है । बौद्ध और वेदान्त दर्शनों की जननी श्रुति है; दोनों ने इसी माता का स्तनपान किया है; दोनों एक ही केंद्रीय विचार की छत्रछाया में पलकर बडे हुये है ; दोनों एक ही मत के पोषक रहे हैं ; दोनों एक ही दर्शन के विकास के विभिन्न रूप हैं ।"[७] मेरा तो इस बारे में यह वक्तव्य है कि बौद्ध तथा वेदान्त दोनों ही अपने अपने स्तर पर महान् हैं और उनकी विशेषताओं को नष्ट करके उन्हें एकाकार करने का यह प्रयास दोनों के प्रति घोर अविचार है । हाँ, यह अवश्य मानना होगा कि उपनिषदों के प्रभाव इन दोनों दर्शनों के ऊपर किसी न किसी प्रकार से होना, चाहे वह प्रत्यक्ष रूप से हो या परोक्षरूप से, स्वाभाविकही है. । परंतु इससे यह साबित नहीं होता कि इनमें वास्तव में कोई भेद ही नहीं है । ऐसी एकीकरण की प्रक्रिया से हमारे महान् दार्शनिक परंपराओं को कोई लाभ नहीं पहुँचनेवाला है, बल्कि हानि ही होगी, क्योंकि इससे हमारे विभिन्न दर्शनों की अपूर्व विशेषताओं को देख पाना हमारे लिए असम्भव हो जायेगा । शून्यता दर्शन के संबंध में मेरा यह कहना है कि अगर शून्यता को आक्षरिक अर्थ में शून्य समझना गलत है, 'तो उसे एकमेवाद्वितीय परब्रह्म या आत्मतत्त्व के समान कोई पराजागतिक परमसत्ता या परमतत्त्व समझना भी उससे कम भ्रमात्मक नहीं है । जहाँ तत्त्व के संबंध में चंद्रकीर्ति अपने भाष्य में स्पष्ट कहते हैं, "तदेवमनानार्थता तत्त्वस्य लक्षणं वेदितव्यं, शून्यतैकरसत्वात्", वहाँ चंद्रधर शर्मा जैसे वेदान्ती दार्शनिकों ने कहाँ से और कैसे विशुद्ध विज्ञान को तत्त्व के रूप में ला

कर खडा कर दिया, यह मरी समझ के बाहर है । ऐसे दुराग्रहों की समालोचना करते हुए चंद्रकीर्ति ने **प्रसन्नपदा** में जैसे अत्यन्त ही रोचक ढंग से शून्यता की व्याख्या की है, वह प्रणिधानयोग्य है – "यो 'न किंचिदपि ते पण्यं दास्यामी'त्युक्तः, स चेद् 'देहि भी स्तदेव मध्यं' न किंचिन्नाम पण्यमिति ब्रूयात्, स केनोपायेन शक्यः पण्याभावं ग्राहयितुम्"[९] । प्रज्ञाकरमति का कहना है कि सब धर्मों की निःस्वभावता जो कि अकृत्रिम वस्तुरूप है, वही परमार्थ है – "परमः उत्तमोऽर्थः परमार्थः, अकृत्रिम वस्तुरूपम्, सर्वधर्माणां निःस्वभावता"[१०]। धर्मों के निःस्वभावता के अतिरिक्त और कोई पराजागतिक परमसत्ता माध्यमिक या शून्यतादर्शन को मान्य नहीं है।

नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है और यही शून्यता ही मध्यमाप्रतिपद् है । "यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे । सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥"[११] – नागार्जुन की यह कारिका सुप्रसिद्ध है । सब कुछ प्रतीत्यसमुत्पन्न या परस्परापेक्ष होने से उनका अपना कोई स्वभाव नहीं रह जाता और निःस्वभावता ही वस्तुतत्त्व या वस्तुस्थिति होने से अस्ति, नास्ति आदि कोटियों की कल्पना का अवकाश नहीं रह जाता । जब कोई इन विभिन्न कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है, तभी निर्वाण की प्राप्ति होती है । "निरवशेष कल्पनाक्षयरूपमेव निर्वाणम्"[१२] **प्रसन्नपदा** में निरवशेष कल्पनाक्षय को ही निर्वाण कहा गया है । इस अवस्था में परतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न अस्तित्व, नास्तित्व आदि अवधारणाओं से मुक्त होकर प्रज्ञावान् व्यक्ति मध्यम पंथ का ही अनुसरण करता है । "परमार्थो ह्यार्याणां तुष्णींभावः" – चंद्रकीर्ति **प्रसन्नपदा** में जो 'तुष्णींभाव' को परमार्थ बतलाते हैं, यह कोई अज्ञता या परतत्त्व की अगोचरता के कारण या अज्ञेयवादी अथवा रहस्यवादी तुष्णींभाव नहीं है, यह तो धर्मों के निःस्वभावता के ज्ञान होने पर दृष्टियों के निःसरण के कारण वादों के बीच तटस्थता का ही तुष्णींभाव है । **प्रसन्नपदा** में आचार्य चंद्रकीर्ति तथागत के संपर्क में कहते हैं – 'तत्र तथागतो न कल्पयति न विकल्पयति, सर्व कल्पविकल्पजालवासनाप्रपंचविगतो हि शान्तमते तथागतः" । तथागत सब कल्पना विकल्पजाल तथा वासना प्रपंच से मुक्त होते हैं । निःस्वभावता का ज्ञान होने पर कल्पनाओं से मुक्ति मिलती है और यही निर्वाण है । निर्वाणप्राप्ति के लिए संसार- त्यागी संन्यासी बनकर किसी पराजागतिक तत्त्व के पीछे न दौडना पडता है और न कोई अपरिवर्तनीय, चिरंतन तथा शाश्वत परमसत्ता जिसके बारे में कठोपनिषद् "अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेत्वस्थितम्" आदि शब्दों में कहते हैं उसीको ब्रह्मात्मैक्यअवबोध के द्वारा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति यहाँपर लक्ष्य के रूप में बताया गया है । स्थायी तथा अपरिवर्तनीय स्वभाव को मानने से ही संसार और निःस्वभावता जो कि प्रतीत्यसमुत्पाद

तथा शून्यता का ही नामान्तर है उसीका ज्ञान होने से यहींपर निर्वाण प्राप्ति हो जाती है। प्रज्ञादृष्टि का ही भेद है। इसीलिए नागार्जुन ने **मूलमध्यम कारिका** में स्पष्ट ही कह दिया — ''न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्, न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम्, । निर्वाणस्य च या कोटि: कोटि: संसरणस्य च, न तयो: अन्तरं किंचित् सुसूक्ष्ममपि विद्यते ।'' सब धर्मों के नि:स्वभावता का ज्ञान ही यहाँपर चतुष्कोटि तर्क का लक्ष्य है ।

माध्यमिक दर्शन जो कि शून्यता-दर्शन का नामान्तर ही है लोकसंवृत्ति सत्य और परमार्थ सत्य, व्यवहार और परमार्थ सत्य, व्यवहार और परमार्थ में भेद तो करता है। ''द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना । लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थत:'', ''यहेनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोर्द्वयो: । ते तत्त्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धशासने'' ।। ''व्यवहार मनाश्रित्य परमार्थ: न देश्यते, परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते'' आदि कारिकाओं से स्पष्ट है कि व्यवहार और परमार्थ का विभाग यहाँपर भी अत्यन्त गुरुत्वपूर्ण माना जाता है। व्यवहार को आश्रय करके ही परमार्थ की देशना हो सकती है, और परमार्थ - ज्ञान के विना निर्वाण प्राप्ति हो नहीं सकती। इसीलिए व्यवहार और परमार्थ दोनों ही अपने अपने स्तर पर महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु यहाँपर परमार्थ ज्ञान का अर्थ कोई परमसत्ता या परमतत्त्व का ज्ञान नहीं है और इसीलिए ब्रह्मवाद तथा शून्यतादर्शन में अनेक सादृश्य रहते हुए भी उनमें भेद अत्यन्त ही गहरा है, यह याद रखना होगा। नि:स्वभावता के अतिरिक्त यहाँपर अन्य कोई परमात्मतत्व है ही नहीं । शून्यता दर्शन प्रज्ञापारमिता का दर्शन है । ''प्रज्ञा यथाभूतं अर्थं प्रजानाति'' — प्रज्ञा से यथार्थ ज्ञान होता है और यहाँ यथार्थ या यथाभूत ज्ञान ब्रह्म या आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं, नि:स्वभावता का ही ज्ञान है, यह समझ लेना जरूरी है । ''तथागतो नि:स्वभावो नि:स्वभावमिदं जगत्''[१३] — सिर्फ जगत् ही नहीं, तथागत भी यहाँपर नि:स्वभाव है ।

ब्रह्मवाद में ब्रह्मस्वरूप या ब्रह्मात्मैक्य भाव का ज्ञान होनेपर जीवन्मुक्ति होती है। शून्यतादर्शन में नि:स्वभावता ही एकमात्र परमार्थ होने के कारण उसीके ज्ञानसे ही सर्वकल्पनाशून्य निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्म सच्चिदानंद स्वरूप है, शून्यता दर्शन में कोई स्थायी स्वरूप या स्वभाव है ही नहीं। अगर 'स्वभाव' शब्द का प्रयोग करके भेद या अन्तर समझना जरूरी होगा, तो यह कहना पडेगा कि जहाँ वेदान्त में मेरा स्वभाव सच्चिदानंदरूप है, वहाँ माध्यमिक शून्यतादर्शन में नि:स्वभावता ही मेरा स्वभाव है। प्रज्ञाकरमति कहते हैं — ''नि:स्वभावतैव सर्वभावानां निजं पारमार्थिकं रूपमवतिष्ठते । तदेव प्रधान पुरुषार्थतया परमार्थ: उत्कृष्टं प्रयोजनं अभिधीयते ।

अत्रापि नाभिवेष्टव्यम् । अन्यथा भावाभिनिवेशो वा शून्यताभिनिवेशो वा इति न कश्चिद् विशेषः, उभयोरपि कल्पनात्मकतया सांवृतत्वात्''[१४] । यह समझ लेना बहुत ही जरूरी है कि अस्ति, नास्ति आदि किसी भी कोटि में जबतक कल्पना विचरण करती रहती है, तबतक माध्यमिक शून्यता-दर्शन के अनुसार प्रपंच का उपशमन नहीं हो सकता। ''अस्तीति नास्तीति उभेदपि अन्ता, शुद्धीअशुद्धीति इमेदपि अन्ता । तस्मादुत्रे अन्त विवर्जयित्वा, मध्येदपि स्थानं न करोति पण्डितः''[१५] ।। इसीलिए शून्यता को सही ढंग से समझने के संबंध में बहुत ही सावधानी बरतने का उपदेश दिया गया है । नागार्जुन का कहना है —''विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम् । सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ।।''[१६] शून्यता को सही ढंग से समझने के लिए नागार्जुन की जो कारिका विशेष ध्यान देने योग्य है, वह इस प्रकार है — ''शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः, येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ।''[१७] शून्यता प्रज्ञा है, जिसमें सब दृष्टियों का सब वादों का निःसरण, अप्रवृत्ति या निवृत्ति अन्तर्निहित है । इस शून्यता को अगर किसी दृष्टि, वाद या सिद्धांत के रूप में देखा जाये या बाँध दिया जाय तो वह फिर प्रज्ञा ही नहीं रह जाती । वह तो फिर एक दृष्टि या वादविशेष बन कर अविद्या या अज्ञान का ही कारण बन जाती है । चंद्रकीर्ति इसी कारिका का भाष्य करते हुए आर्यरत्नकूट सूत्र से बुद्धवचन का जो उल्लेख करते हैं, वह शून्यता को सही ढंग से समझने के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा, इसीलिए उसे मैं कुछ विस्तार से ही यहाँपर रखना ठीक समझता हूँ । बुद्ध भगवान् स्वयं **आर्यरत्नकूटसूत्र** में काश्यप से कहते हैं — ''सर्वदृष्टिकृतानां हि, काश्यप शून्यता निःसरणम् । यस्य खलु पुनः शून्यतैव दृष्टिः, तमहमचिकित्स्यमिति वदामि । तद् यथा, काश्यप,ग्लानः पुरुषः स्यात् । तस्मै वैद्यो भैषज्यं दद्यात् , तस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य स्वयं कोष्ठगतं न निःसरेत् । तत्किं मन्यसे, काश्यप, अपि तु स पुरुष स्ततो ग्लान्यान मुक्तो भवेत् ? 'नो हीन् दं, भगवन् । गाढतरं तस्य पुरुषस्य ग्लान्यं भवेत- , यस्य तद् भैषज्यं सर्वदोषानुच्चार्य कोष्ठगतं न निःसरेत् ।' भगवानाह- 'एवमेव, काश्यप, सर्वदृष्टिकृतानां शून्यतानिःसरण्य यस्य खलु, पुनः शून्यतैव दृष्टि, तमहमचिकित्स्यमिति वदामि इति''।

शून्यता सब वादों से, सब दृष्टियों से परे है । शून्यता को अस्ति, नास्ति, उभय, अनुभय आदि दृष्टियों के अन्तर्युक्त करने से शून्यता दर्शन का लक्ष्य- सब दृष्टियों से, सब कल्पनाओं से मुक्ति - यह लक्ष्य ही व्याहत हो जाता है । 'शून्यता' - दर्शन न अस्तित्ववादी है, न नास्तित्ववादी है । ''अस्तीति नास्तीति कल्पनावतामेवं चरन्तान न दुःखशाम्यति ''- इस बुद्धवचन पर भाष्य करते हुए चंद्रकीर्ति ने सभी

अस्तित्ववादी तथा नास्तित्ववादियों के सिद्धांतों का खण्डन किया है, शून्यता-दर्शन आक्षरिक अर्थ से शून्यवाद तो नहीं है । क्योंकि माध्यमिक दर्शन होने के नाते यह सब वादों में तटस्थता का ही प्रस्थापन करता है । ब्रह्मवाद न तो शून्यवादी है, न ही माध्यमिक दर्शन के रूप में तटस्थता इसे स्वीकार है । यह तो आत्मदर्शन, परमात्मदर्शन, बह्मात्मैक्यदर्शन है । इसीलिए शंकरवेदान्त निर्गुण ब्रह्म को परमतत्त्व के रूप में स्वीकृति देने के साथसाथ चित्तशुद्धि तथा आत्मदर्शन में सहायक के रूप में चित्तशुद्धि, ईश्वर-भक्ति को भी स्थान देता है । **ब्रह्मसूत्रभाष्य** में आचार्य शंकर जी का कहना है कि अविद्यावस्था में ही ब्रह्म का उपास्य उपासकादिलक्षण सब व्यवहार संभव होता है । यह तो आचार्य शंकर का परमार्थतत्त्व है... फिर भी आचार्य ने वहीं पर यह भी कहा है कि "एक एव तु परमात्माईश्वर: तै: तै: गुण विशषै: विशिष्ट उपास्यो यद्यपि भवति, तथापि यथागुणोपासनमेव फलानि भिद्यन्ते, 'तं यथायथोपासते तदेव भवति' इति श्रुते: - - स्मृतेश्च - यंयंवापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तंतमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:" (गीता) यद्यप्येके आत्मा सर्वभूतेषु, स्थावरजंगमेषु गूढ:, तथापि चित्तोपाधि विशेष - तारतम्यादात्मन: कूटस्थनित्यस्यैकरूपस्याप्युत्तरोत्तरमाविष्कृतस्य तारतम्यमैश्वर्य शक्तिविशैषै: श्रूयते - "तस्य य आत्मानयाविस्तरां वेद' (ऐ. आ.) इत्यत्र । स्मृतौ अपि - "यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जित मेब वा" (गीता) इति यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशय: सस ईश्वर इत्युपास्यतथा, चोद्यते ।" "एवमेवमपि ब्रह्म अपेक्षितोपाधिसंबंधं निरस्तउपाधिसंबंधं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते"।[१८] आचार्य शंकर के ब्रह्मवाद या आत्मदर्शन में ही भगवदुपासना या भक्ति का स्थान हो सकता है, चाहे वह पारमार्थिक सत् न भी हो । व्यवहार के स्तर पर भी वेद, स्मृति आदि श्रुति स्मृतियों का स्थान माध्यमिक दर्शन में या बौद्धदर्शन के किसी भी स्तर पर संभव नहीं है ।

इसी तरह वेदान्त दर्शन में जीवन्मुक्ति का जों आदर्श है इसमें निर्गुण परब्रह्म का तत्त्वज्ञान या ब्रह्मात्मैक्यानुभव अनिवार्य है । बौद्ध महायान दर्शन जिसमें आचार्य नागार्जुन के माध्यमिक शून्यवाद एक मुख्य धारा है - इसमें बोधिसत्त्व का जो आदर्श उपस्थापित किया गया है, वह यथाभूतदर्शी है और यह यथाभूतदर्शन किसी निर्गुणब्रह्मदर्शन या ब्रह्मात्मैक्यानुभव नहीं है, यह प्रणिधानयोग्य है । यथाभूतदर्शी धर्मों के नि:स्वभावता का ही दर्शन करता है । यहाँपर धर्मों के स्वभाव या प्रकृति को नि:स्वभावता या शून्यता बताया गया है । चंद्रकीर्ति के निम्नोक्त भाष्य से ही यह स्पष्ट हो जाता है - "या सा धर्माणां धर्मता नाम सैव तत् स्वरूपं । अथ केयं धर्माणां धर्मता? धर्माणां स्वभाव:, प्रकृतिं: । का चेयं प्रकृति: । येद्यं शून्यता । केयं शून्यता?

नै:स्वाभाव्यं । किमिदं नै:स्वाभाव्यं? तथता । केयं तथता? 'तथाभावोह विकारित्वं सदैव स्थायिता, सर्वदानुत्पाद एव परनिरपेक्षत्वात् अकृत्रिमत्वात् स्वभाव इत्युच्यते ।''[१९] यथाभूतदर्शी बोधिसत्त्व में इस वस्तुस्वरूप - नि:स्वभावता का ज्ञान होने से प्राणिमात्र के प्रति महाकरुणा होती है । ''समाहितचेतसो यथाभूतदर्शनं भवति। यथाभूतदर्शिनो बोधिसत्त्वस्य सत्त्वेषु महाकरुणा प्रवर्त्तते''[२०] - प्रज्ञाकरमति। शान्तिदेव **बोधिचर्यावतार** में कहते हैं - ''शून्यता दु:खशमनी''। यहाँ पर दु:ख का विनाश ब्रह्मत्मैक्यानुभवजन्य नहीं है, शून्यता या नि:स्वभावता - ज्ञानजन्य है - शून्यतादर्शन तथा ब्रह्मवाद को एकाकार करने के प्रबल दुराग्रह के कारण हमें इस भेद को बार बार दुहराने की जरुरत होती है । ''करुणा परतंत्रतथा परदु:खदु:खिन: सर्वदु:खापहरणाय यत्न:''[२१]। प्रज्ञाकरमति के अनुसार बोधिसत्त्व जिसे नि:स्वभावता का ज्ञान हो गया हो, वह करुणापरवश होकर दूसरों के दु:ख से दु:खी होने के कारण ही सबके दु:ख अपहरण करने में लग जाता है । यहाँ पर 'यत्न' शब्द के प्रयोग से यह सूचित होता है कि दूसरों का दु:खापहरण अनायास नहीं होता है, इसके लिए करुणापरवश होकर बोधिसत्त्व को चेष्टा करनी पड़ती है । आचार्य शंकर के द्वारा दी गयी वसन्तऋतु की उपमा से (वसन्तवल्लोकहितं चरन्त:[२२]) तथा सुरेश्वराचार्य के 'अयत्नतो' शब्दप्रयोग से वेदान्त के जीवन्मुक्त के द्वारा परार्थसाधन आदि सत्कर्म अनायास ही होता है, ऐसा सूचित होता है । ''उत्पन्नात्मप्रबोधस्य त्वद्वेष्टृत्वादयो गुणा:, अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिण: ।''[२३]

बोधिसत्त्व में और एक विशेषता लक्ष्य करने की बात है, वह अपने निर्वाण के लिए लालसी भी नहीं होता क्योंकि करुणा परवश होकर दूसरों के दुख मिटाने के लिए यत्नशील होना ही उसका लक्ष्य है । परार्थसाधिका प्रवृत्ति बोधिसत्त्व में कूटकूट कर भरी हुई है । जीवन्मुक्त में भी परार्थसाधिकाप्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से रहती है और वह भी अनायास ही दूसरों के दु:खमोचन के आगे अपने मोक्ष को तुच्छ समझता है । उसके विचार में प्राणियों के दु:ख मिट जानेसे उसे इतना पर्याप्त सुख मिलेगा जो सिर्फ अपने मोक्ष से नहीं मिल सकता । शान्तिदेव **बोधिचर्यावतार** में कहते हैं - ''मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते त्पामोद्यसागर:, तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम् ''[२४]। इसीलिए भी जीवन्मुक्त तथा बोधिसत्त्व में सादृश्य रहते हुए भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेद अवश्य है । बोधिसत्त्व सुपुष्पचंद्र बहुतों के दु:ख मिटाने के लिए राजा से विपदा की संभावना जानते हुए भी अपने दुखों की उपेक्षा करके प्राणोत्सर्ग करने की बात **बोधिचर्यावतार** में देखने को आती है । ''अत: सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापदम् । आत्मदु:खं न निहतं बहूनां दु:खिनां व्ययात्''[२५] - **पंजिका** व्याख्या में तो

बोधिसत्त्व सुपुष्पचंद्र के घातक के द्वारा अत्यन्त ही निठुर तरीके से बध किये जाने का वर्णन मिलता है – "तेन तदाज्ञामनुवर्तमानेन करचरणादिच्छेदक्रमेण अक्षीणि च संदंशिकेन उद्धृत्य जीविताद् व्यपरोपितः", "पदार्थैकान्त तृष्णा"[२६] अर्थात् दूसरों के मंगल के लिए अपने मुक्ति को तुच्छ कर देना बोधिसत्त्व आदर्श की विशेषता है। फिर भी दूसरों के हित साधन करते हुए बोधिसत्त्व में न कोई घमंड होता है, न ही विस्मय होता है – बोधिसत्त्व की यह परार्थसाधिकाप्रवृत्ति अत्यन्तही स्वाभाविक होने के कारण – "अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः"[२७] बोधिसत्त्व की यह परार्थसाधिका प्रवृत्ति जो अपने मोक्ष को भी तुच्छ समझे – यह बौद्ध धर्मदर्शन की एक विशेषता है – ऐसा मेरा मानना है। वास्तव में यह बुद्ध भगवान् के महाकरुणा में ही अन्तर्निहित है, जिसके कारण आचार्य नागार्जुन अपने **मूलमध्यमकारिका** की समाप्ति पर गौतम को नमस्कार करते हुए सर्वदृष्टिप्रहाण तथा अनुकंपा या महाकरुणा के कारण ही उन्होंने सद्धर्म का उपदेश दिया था, इसीका ही विशेष भाव से उल्लेख करते है। "सर्वदृष्टिप्रहाणाय यः सद्धर्मपदेशयत्। अनुकंपामुपादाय तं नमस्यामि गौतमम्।"[२८] आचार्य चंद्रकीर्ति अपनी **प्रसन्नपदा** में 'अनुकंपा' की व्याख्या करते हुए कहते हैं– "अनुकंपामुपादाय महाकरुणामेवाश्रित्य प्रियैकपुत्राधिकतर प्रेमपात्रसकलत्रिभुवनजनः, न लाभसत्कारप्रत्युपकारादिलिप्सया।" बोधिसत्त्व का आदर्श तो इसीमें ही अन्तर्निहित है, यह स्पष्ट हो जाता है।

अन्त में दर्शन, विशेष करके इस प्रकार के दर्शन की उपयोगिता के विषय में मेरा कुछ वक्तव्य है। चाहे वेदान्त का ब्रह्मात्मैक्यदर्शन हो या बौद्ध माध्यमिकों का निःस्वभावता – दर्शन हो, उसका कुछ सुप्रभाव समाज में तभी महसूस हो सकता है, जब सामाजिक स्तर पर कुछ हद तक तत्त्वज्ञान के आधार पर लोक-चरित्र प्रतिष्ठित हो। लोकाधार का संपूर्ण विलोप किसी भी आदर्श स्थानीय दर्शन का लक्ष्य नहीं हो सकता, और ऐसा लक्ष्य कहीं पर भूल से भी दिखाई दे, तो वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। तत्त्वज्ञान के आधार पर लोक-चरित्र को कुछ हद तक आधारित करना तथा इसका संशोधन करना ही आदर्श स्थानीय दर्शन का लक्ष्य होता है और यह संपूर्ण असाध्य भी नहीं है। अग्नि का उष्ण होना आचार्य शंकर तथा आचार्य चंद्रकीर्ति किसे मान्य नहीं है? किन्तु जहाँ शंकर के लिए यह त्रिकालाबाधित न होने के कारण इसे स्वभाव मानना परमार्थ नहीं है। चंद्रकीर्ति **प्रसन्नपदा** में स्पष्ट कहते हैं – "ननु च गोपालांगनाजनप्रसिद्धमेतद् अग्नेरौष्ण्यं स्वभावमिति। किं खलु अस्माभिरुक्तं न प्रसिद्धमिति? एतत्तु वयं ब्रूमः – नामं स्वभावो मवितुमर्हति, स्वभावलक्षणवियुक्तत्वात्"[२९] स्वभाव का लक्षण है कि वह आगन्तुक नहीं है और अविचलितरूप है, जैसे कि

प्रज्ञाकारमति कहते हैं – "स्वभावस्य च सर्वदा अनागन्तुकतया अविचलितरूपत्वात्।"[30] आचार्य शंकर तो यह स्पष्ट कहते हैं कि अग्नि का उष्ण होना लोक में सम्यक्ज्ञान के रूप में मान्य है – "एकरूपेण व्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः । लोके तद्विषयं ज्ञान सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते – यथाग्निरुष्ण इति ।"[31] केवल त्रिकालाबाधित न होने के कारण ही उसे परमार्थ तत्त्वज्ञान मानना ठनके लिए सम्भव नहीं है । एक तरफ जहाँ आत्मतत्त्व 'अपेत ब्रह्मक्षत्रादि भेद होने से जीवन्मुक्ति का बीज उसके ज्ञान में अन्तर्निहित है, वहाँ दूसरी तरफ स्वभाववाद के बंधन से ऊपर उठकर बोधिसत्त्व महाकरुणा से प्रेरित हो कर कर्म करना भी बौद्ध शून्यतादर्शन में निहित ही है। तत्त्वज्ञान के आधार पर लोकचरित्र को कुछ हदतक बदलाना या उसका बदलना इतना आसान तो नहीं है, किन्तु यह असम्भव भी नहीं है । आसान इसीलिए नहीं है, क्योंकि आचार्य शंकर ने जैसे 'अध्यास भाष्य' में कहा है ब्रह्मक्षत्रादिभेदसे ही लोकव्यवहार चलता है जिसे वे अध्यास नाम देते हैं और इसीलिए इसे अज्ञान से ही अपरिवर्तनीय तत्त्व मान लेना स्वाभाविक हो जाता है; दूसरी तरफ स्वभाव-दृष्टि को लेकर ही लोकव्यवहार चलता रहता है, जो कि हमारे संस्कारों में बद्धमूल है, शान्तिदेव की भाषा में हमारे जैसों के बारे में कहना उचित होगा 'सर्वमाकाशसंकाशं परिगृह्णन्तु मद्विद्याः । प्रकुप्यन्ति प्रहृष्यन्ति कलहोत्सव हेतुभिः'[32] लोक-चरित्र तो कुछ हद तक बदला जा सकता है, किन्तु जीवन्मुक्त या बोधिसत्त्व के किसी विशेष समाज में अपनी सामाजिक स्थिति तथा प्रभाव के ऊपर ही यह निर्भरशील है। लोकाचार का संपूर्ण प्रत्याख्यान न दर्शन का लक्ष्य है, न हो सकता है । इसीलिए ज्ञानी के बारे में पंचदशीकार ने 'द्विभाषाभिज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है – "द्विभाषाभिज्ञवद् विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ"।[33]

गौरांग चरण नायक

एन -४/२१२
आय. आर. सी. व्हिलेज
नयापल्ली
भुवनेश्वर – ७५१ ०१५ (उडिसा)

टिप्पणियाँ

१. शंकर, ब्रह्मसूत्रभाष्य २.२.३१.
२. विवेकचूडामणि, १०९.

३. **मांडूक्यकारिका भाष्य**, आगम प्रकरण.
४. **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, ३.२.२२.
५. डा. टि. आर. व्ही. मूर्ति, **द सेण्ट्रल फिलोजफी ऑफ बुद्धिज्म**, (लण्डन, १९५५).
६. डा. चन्द्रधर शर्मा, **बौद्धदर्शन और वेदान्त** (विजन-विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद संस्करण : १९८१), उपसंहार.
७. वहीं
८. **प्रसन्नपदा**, १८. ९.
९. वहीं, १३.८.
१०. **बोधिचर्यावतारपंजिका**, ९.२.
११. **मूलमध्यमकारिका**, २४.१८.
१२. **प्रसन्नपदा**, २५.३.
१३. **मूलमध्यमकारिका**, २२.१६.
१४. **बोधिचर्यावतारपंजिका**, ९.२.
१५. **समाधिराजसूत्र**, ९.२७.
१६. **मूलमध्यमकारिका**, २४.११
१७. वहीं, १३.८; "शून्यतायामपि नाभिनिवेशं कर्त्तव्यः," **बोधिचर्यावतार पंजिका** ९.३४ द्रष्टव्या
१८. शंकर, **ब्रह्मसूत्रभाष्य**, आनन्दमयाधिकरणम्
१९. प्रसन्नपदा, १५.२.
२०. **बोधिचर्यावतार पंजिका**, ९.१.
२१. वही., ८.१०३.
२२. **विवेकचूडामणि**, ३७,"शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तः वसन्तवल्लोकहित चरन्तः" ।
२३. **नैष्कर्म्यसिद्धि**., ४.६.९.
२४. **बोधिचर्यावतार**, ८.१०८.

२५. वहीं, ८.१०६

२६. वहीं, ८.१०९

२७. वहीं.

२८. मूलमध्यमकारिका. २७.३०.

२९. प्रसन्नपदा, १५.२.

३०. बोधिचर्यावतारपंजिका, ९.२.

३१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, २.१.११.

३२. बोधिचर्यावतार, ९.१५५.

३३. विद्यारण्य स्वामी, पंचदशी, ११.१३०.

भगवद्गीता में कामोपनिषद्

इंद्रियाणि पराण्याहु: इन्द्रियेभ्य: परं मन: ।
मनसस्तु पराबुद्धियों बुद्धे: परतस्तु स: ।। गीता, ३-४२

स: का अर्थ क्या है?

भगवद्गीता के तृतीय अध्याय में यह श्लोक बयालीसवाँ है, जिसके अंत में "यो बुद्धे: परतस्तु स:" ऐसा अर्ध चरण आता है । प्रश्न यह है कि यहा 'स:' शब्द का अर्थ क्या है । सामान्यत: इसका अर्थ आत्मा करने में आता है । श्रीमत्शंकराचार्य ने उनके गीता भाष्य में यही अर्थ बतलाया है । और वही प्रमाण अन्यों ने माना है । लोकमान्य तिलक ने शंकराचार्य प्रणीत अद्वैत वेदान्त स्वीकार किया है । और यदि दोनों के मत में गीता का तात्पर्य ज्ञानयोग है या कर्मयोग है इसके बारे में भिन्नता है तो भी तिलकजी ने 'स:' का अर्थ आत्मा ही लिया है ।

परन्तु रामानुजाचार्य ने 'स:' का अर्थ 'काम:' ऐसा किया है । और श्री ज्ञानेश्वरमहाराज ने भी स: शब्द काम के लिये है ऐसा अपना अभिप्राय 'भावार्थदीपिका' या 'ज्ञानेश्वरी' में सहजरूप में दिया है । इसके बारे में चर्चा करने की आवश्यकता हीं नहीं लगती।

तो अब प्रश्न यह उठता है कि इन दोनों भिन्न अर्थों में कौनसा सही है और कौनसा गलत है । इस पर चिन्तन करके मेरा यह अभिप्राय है कि, इस श्लोक में स: का अर्थ काम करना ही उचित है । मेरी पाठकों प्रति नम्र विनंति है कि, यदि वे पूर्वग्रह छोड कर नये तरीके से विचार करेंगे तो उनको भी प्रतीत होगा ही कि यहाँ स: शब्द से काम समझना अधिक युक्त है ।

अर्जुन का प्रश्न - पाप करानेवाला कौन है?

प्रथम यह विचार करें कि किस संदर्भ में गीता का यह वचन आया है ।

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रश्न किया है —

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष: ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित: । गीता, ३-३६

अर्थ – हे वृष्णिकुलोत्पन्न श्रीकृष्ण ! अब यह कहिये कि, मनुष्य की स्वयं इच्छा न होते हुए भी, उस पर मानो बलप्रयोग किया हो वैसा वह पाप करता है, तो किसकी प्रेरणा से वह वैसा पाप में धकेला जाता है ? अर्थात् ऐसा कौनसा बलवत् तत्त्व है जो मनुष्य को जबरदस्ती पाप करने को प्रवृत्त कराता है ?

इसे प्रश्न का श्रीकृष्ण का उत्तर ध्यानपूर्वक समझना चाहिये । वे जो उत्तर देते हैं वह आगे के सभी सात श्लोकों में ग्रथित हैं । और अंतिम ४३ वे श्लोक के बाद तीसरे अध्याय का भी अन्त होता है ।

भगवान् श्रीकृष्ण का उत्तर – पाप करानेवाला काम है

श्रीकृष्ण कहते हैं

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनं इह वैरिणम् ।। ३-३७

(पापकर्म करने की बलवत् प्रेरणा देनेवाला वह तत्त्व है) यह काम, यह क्रोध, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है । वह बहुत खानेवाला, महापापी है । यहाँपर उसको शत्रु समझ ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतोगर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। ३-३८

धुएँ से जैसे अग्नि आच्छादित होता है, अथवा शीशा धूलि से, और गर्भ गर्भाशय से वैसे उस (काम) ने यह सब ढँक दिया है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।। ३-३९

कुन्तिपुत्र हे अर्जुना, कभी भी तृप्त न होनेवाला अग्नि होता है वैसा यह काम होता है । इस कामरूप में वह ज्ञानी मनुष्य का नित्यशत्रु बन कर रहता है, जिसने उसका ज्ञान ढँक दिया है ।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।। ३-४०

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस (काम) का अधिष्ठान याने वसतिस्थान कहा गया है । इनका आश्रय लेकर मनुष्य के ज्ञान पर आवरण डालकर यह (काम) मनुष्य को मोहित कर देता है ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञान विज्ञान नाशनम् ॥३-४१

इसीलिये, हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, प्रथम इंद्रियों का संयमन करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले इस पापी (काम) को ही मार डालो ।

इस श्लोक के आगे जो श्लोक आता है उसके अर्थ की ही हम चर्चा कर रहे हैं। श्लोक बयालीसवाँ है जो आरंभ में ही दिया है । हमने देखा है कि अर्जुन ने प्रथम प्रश्न किया है कि ऐसा कौनसा बलवत्तर तत्त्व है जिसके कारण मनुष्य इच्छा न होते हुए भी पापकर्म करने को प्रेरित होता है । उस पर श्रीकृष्ण ने जबाब देते हुए यह भयंकर पापी तत्त्व 'काम है, क्रोध है' ऐसा दृढता से निर्देश किया है । और उस काम तत्त्व का ही वर्णन बल देकर आगे के श्लोकों में किया है । चालीसवें श्लोक में इस कामरूप शत्रु का अधिष्ठान इंद्रियाँ, मन और बुद्धि है ऐसा बताया है, और प्रथम इंद्रियों का संयम करने की शिक्षा दी है । परन्तु काम को संपूर्ण रूप से नष्ट करना हो तो केवल काम की इंद्रियों के आश्रय पर ही नियंत्रण रखने से हमारा ध्येय प्राप्त नहीं होता । काम का अधिक बलवत्तर आश्रय स्थान मन है, और बुद्धि भी है । इसलिए इस काम का बल सर्वाधिक होता है, यह बताने के लिये पुन: इन तीनों का बयालीसवें श्लोक में निर्देश किया है । देखिये, बाह्य विषयों से इंद्रियाँ पर याने उच्च, श्रेष्ठ हैं । इंद्रियों से मन श्रेष्ठ है । मन से बुद्धि श्रेष्ठ है । परंतु जो बुद्धि से ही पर है वह वह (काम) है । यहाँ 'स:' शब्द से 'काम' ही अभिप्रेत है । क्यों कि वही संदर्भ चल रहा है । मतलब यह है कि, इंद्रियाँ, मन, बुद्धि ये सब काम के स्थान होने के कारण काम से ग्रस्त हैं ।

सर्वनाम के पहले नाम का संदर्भ

जिस किसी का वर्णन भाषण में अथवा लेखन में चल रहा है उस का प्रथम स्पष्ट रूप से नाम लेकर निर्देश होना आवश्यक होता है । जब उस नाम का फिर निर्देश करना है तब नाम का पुनरुच्चार न कर के उसका 'सर्वनाम' से प्रयोजन आसानी से होता है । यह व्याकरण की दृष्टि से भी स्वीकृत नियम है ।

ऊपर के श्लोकों में श्रीकृष्ण ने काम, क्रोध का नाम लेकर प्रथम स्पष्ट रूप से बताया है कि मनुष्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध भी जो पाप में धकेल देता है वह कौनसा बलाढ्य तत्त्व है । बाद में जब कभी वर्णन में उसका निर्देश करने की आवश्यकता होती है तब सर्वनाम का ही प्रयोग किया है । जैसे कि - विद्धि **एनं** इह वैरिणम् । तथा **तेन** इदं आवृतम् । आवृतं ज्ञानं **एतेन** । **अस्य** अधिष्ठानं उच्यते । **एतै**

विमोहयति **एन** । पाप्मानं प्रजहि **एनं** । वैसा ही सर्वनाम का निर्देश, 'यो बुद्धेः परतस्तु **सः**' इस जगह आया हैं, इसके बारे में शंका का कुछ प्रयोजन ही रहता नहीं है । बीच में एक बार 'कामरूपेण' ऐसा नाम निर्देश आया है, जिससे जो विषय, जो संदर्भ चल रहा है उसका स्मरण देने का कार्य हुआ है ।

आत्मा का संदर्भही नहीं है

यथोचित उत्तर देनेवाले इन सब श्लोकों में, तथा अर्जुन के प्रश्न के श्लोक में कहीं भी "आत्मा" शब्द या नाम का उल्लेख तक आया नहीं है । ऐसी अवस्था में 'सः' सर्वनाम से 'आत्मा' ही निर्दिष्ट है ऐसा आग्रह करना केवल दुराग्रह जैसा मालूम पड़ता है ।

पाप करानेवाला एक काम ही मारने योग्य दुष्ट शत्रु है इस विषय का समारोप अंतिम ४३ वें श्लोक में दृढतापूर्वक किया है । वह श्लोक देखें -

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।। ३-४३

हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार वह बुद्धि से भी परे याने बलवत्तर है ऐसे समझकर उस दुरासाध्य अथवा दुर्जेय कामरूप शत्रु को, स्वयं अपने को ही काबू में रख कर (याने अपने आपको संभाल कर), मार डालो ।

इस श्लोक में आत्मा का निर्देश आया है, परंतु इसका कोई संबंध आत्मतत्त्व से नहीं है । उससे सामान्य अपने का संबंध है । आत्मा शब्द का यह सामान्य प्रयोग गीता में अन्यत्र भी आता है । जैसा कि- आत्मैव आत्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः । हम अपनेही बन्धु या मित्र होते हैंहम अपने ही शत्रु होते हैं ।

गीता के द्वितीय अध्याय में काम का मनो वैज्ञानिक विश्लेषण

गीता में अन्यत्र भी इस विषय का उल्लेख आता है । -

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। २-६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। २-६३

इन श्लोकों में यह बताया है कि, इंद्रियों के बाह्य विषय होते हैं । उनका ध्यान जब मानव मन से करता है तब उन विषयों के साथ संग याने आसक्ति उत्पन्न होती है । इंद्रिय दमन से यदि विषय और इंद्रियों का संबंध टूट जाता है तो भी मन

में आसक्तिरूप संबंध चलता ही रहता है । इस आसक्ति से काम उत्पन्न होता है । और काम में बाधा आने पर इस काम से फिर क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध के कारण विषयों के प्रति संमोह या विवेक हीनता आ जाती है । मोहवशता से स्मृतिभ्रंश, और स्मृतिभ्रंश होने से बुद्धि का ही नाश हो जाता है । जिस की बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है उस मनुष्य का सर्वनाश होता है । इस तरह का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर के यहाँ यही बताया है कि इंद्रियाँ, मन, स्मृति, बुद्धि इत्यादि पर काम का ही वर्चस्व हो जाता है। काम या वासना अत्यंत बलवत्तर तत्त्व है ।

'सः' का अर्थ 'आत्मा' करने का कारण और उसका निराकरण

सः का संदर्भ इतने स्पष्ट रूप में काम के साथ होते हुए भी जिस किसी ने इसका अर्थ आत्मा किया है उसको भी बलवान् कारण मिला है । कठोपनिषद् में आगे का श्लोक आया है –

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ।। कठ, १.३.१०

इस श्लोक का अनुवाद, कुछ शब्दों को बदल कर, गीता में किया है ऐसा लगता है । परंतु कठोपनिषद् में आत्मा का ही स्पष्ट उल्लेख किया है. क्यों कि वहाँ का संदर्भ वैसा ही है । कठोपनिषद् में और गीता में एक जैसा श्लोक आने के कारण यह भ्रम पैदा हुआ है । और गीता में भी सः शब्द का अर्थ आत्मा होना चाहिये ऐसे लगता है । गीता में 'बुद्धेरात्मा महान् परः 'ऐसा निर्देश आ सकता था, परंतु इसकी जरूरी लगी नहीं । कठोपनिषद् में सत्ताशास्त्र के अनुसार आरोहक्रम में इंद्रियाँ, अर्थ (विषय), मन, बुद्धि, और आत्मा ऐसे तत्त्व आते हैं । कठ में आत्मा से परे महत् अव्यक्त और पुरुष ऐसे और तीन तत्त्वों का भी निर्देश है ।

परन्तु गीता में सत्ताशास्त्र की चर्चा काम के बारे में नहीं है । तृतीय या द्वितीय अध्याय में जो काम का संदर्भ आता है वह किसका बल किस के ऊपर चलता है इस प्रश्न का संदर्भ है । अर्थात् इस संदर्भ की दृष्टि से ही 'बुद्धेः परतस्तुसः' इस वचन में बुद्धि से भी श्रेष्ठ बलवत्तर तत्त्व काम है यही अर्थ सही है ।

'सः' का काम अर्थ विचारणीय

मैं श्रीरामनुजाचार्य का अनुयायी नहीं हूँ । उनका 'विशिष्टाद्वैत' एक श्रेष्ठ दर्शन है और उनका भक्तियोग भी कुछ हद तक अनुकरणीय है । तथापि श्रीशंकराचार्य का 'अद्वैत' एक अत्यंत श्रेष्ठ दर्शन है । मुझे वह मान्य है । तथापि हो सकता है कि

उनका 'सः' का आत्मा अर्थ लेना एक विवाद्य बात हुई है । और श्रीरामानुजाचार्य का 'काम' अर्थ लेना योग्य ही है ।

संत ज्ञानेश्वर ने 'सः' का अर्थ 'काम' किया है । वे भाष्यकारों ने दिखाया हुआ मार्ग अनुसरते हैं । और अपने को जो मान्य लगता है वही अर्थ स्वतंत्र प्रज्ञा से करते हैं ।

बडोदरा के एक स्वतंत्र प्रज्ञ चिंतक और सत्पुरुष कै. जगन्नाथशास्त्री पदे ने दोनों अर्थों के बारे में चर्चा की है । उनके मत में सत्ताशास्त्र की दृष्टि से भी बुद्धि के परे काम होना शक्य है । सृष्टि की उत्पत्ति करते समय ब्रह्म ने अथवा आत्मा ने प्रथम 'काम' या 'कामना' का ही प्रयोग किया है । "सोऽकामयत । एकोऽहं बहुस्याम् इति।" कामतत्त्वही सृष्टि उत्पत्ति का बीज है । अर्थात् बुद्धि तत्त्व से कामतत्त्व पहले आता है । अर्थात् 'सः' का अर्थ काम करना कोई गलत बात नहीं है । यह अर्थ भी पदेशास्त्री की दृष्टि से विचारणीय है । यहाँ सत्ता का अवरोहक्रम में निर्देश किया है । आत्मा में काम का प्रथम उदय होता है, और उसके बाद बाकी के सृष्टि के तत्त्व क्रम से उत्पन्न होते हैं, जिसमें बुद्धितत्त्व आता है । नासदीय सूक्त में काम ही प्रथम उत्पन्न हुआ ऐसा निर्देश है - कामस्तदग्रे समवर्तत - ।

गीता में काम का त्रिविध विचार

काम के संबन्ध में विचार यदि महत्त्व से तृतीय अध्याय के इन अंतिम आठ श्लोकों में आते हैं, तो भी गीता में इस काम के विषय में अन्यत्र भी इस को पुष्टि देनेवाले विचार आते ही हैं । हम देखते हैं कि गीता में तीन प्रकार से काम के बारे में विचारमंथन हुआ है ।

एक विचार है काम का सृष्टिरचना में सामान्य रूप में स्थान ! प्रकृति स्वभाव में ही मनुष्य में काम अपना अस्तित्व रखता है । मानवमात्र में काम पाया जाता है। मानव के स्वभाव का या स्वरूप का ही काम एक अनिवार्य भाग है । दूसरा विचार है कि काम का अधर्ममय अथवा पापरूप विकृत स्वरूप । यह कामरूप अनिष्ट, अवांछनीय, दुष्ट है, जिसका त्याग करने की शिक्षा दी जाती है । प्रायः इस प्रकार का ही वर्णन तृतीय अध्याय में मुख्य रूप से आया है । अन्यत्र भी काम का ऐसा अनिष्ट रूप गीता में जोर दे कर किया है । काम का तीसरा भी विचार बार बार आता है, जिसमें काम का धर्मानुकूल रूप में वर्णन आता है, और उसकी प्रशास्ति की गयी है । ऐसा धर्माविरुद्ध काम आचार में लाने योग्य है ऐसा प्रतिपादन किया है ।

काम का प्राकृतिक रूप

सामान्य रूप से काम का मनुष्य में अस्तित्व गृहीत मानकर गीता का उपदेश दिया है । अपनी इष्ट कामपूर्ति करनी है तो प्रजापति ने ही वैसी व्यवस्था कर रखी है। गीता में कहा है कि —

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक ।। ३-१०

बहुत पहले ब्रह्मदेव ने यज्ञ के साथ प्रजा की उत्पत्ति करके वे प्रजा को बोले कि 'इस यज्ञ (स्वकर्म) के आचरण करने से तुम्हारी वृद्धि होगी । तुम्हारी सभी इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला वह हो जाय । अन्यत्र एक श्लोक में यह बात की है कि,

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः ।
तंतं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ।।७-२०

अपनी अपनी प्रकृतिके नियमों के अनुसार कामवासनाओं से लिप्त लोक अन्य देवताओं की, उनके नियमों का पालन करके, उपासना करते हैं ।

भगवान् आगे कहते हैं कि, उन लोकों की वही श्रद्धा मैं वहाँ स्थित करता हूँ और वे मैंने ही निर्माण किये कामना के फल प्राप्त करते हैं । "लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्"(७-२२)

काम का आसुरी विकृत रूप

काम का विकृत रूप जो तीसरे अध्याय में आया है वह हमने देखा ही है । अब हम काम का विकृत रूप अन्यत्र कैसा दिया है वह देखेंगे । अधर्मग्रस्त काम का वर्णन सोलहवें अध्याय में आया है । आसुरी संपत्ति को लेकर जो लोक जन्म लेते हैं उनका वर्णन वहाँ किया है । आसुरों का काम विकृत अथवा अधर्मरूप होता है। उनकी जगत् के प्रति देखने की दृष्टि भी वैसी ही विकृत होती है । वे जगत् को असत्य, निराधार,अनीश्वर याने ईश्वररहित, एक दूसरे से संबंध के सिवाय उत्पन्न हुये, अतएव जगत् का एक काम के अतिरिक्त कुछ अन्य कारण नहीं है । मानव के विषयोपभोग के लिये ही यह जगत् अस्तित्व में है । (काम हैतुकम् , १६-८) ऐसा उनका विचार है । आगे आसुरों का वर्णन ऐसा किया है —

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वाऽसद्ग्राहात् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ।।१६-१०।।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥१६-११॥
अशापाशशतैर्बद्धाः **कामक्रोध**परायणाः ।
ईहन्ते **कामभोगा**र्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१६-१२॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः **काम**भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६-१६॥
अहंकारं बलं दर्पं **कामं क्रोधं** च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभयसचकाः ॥१६-१८॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामःक्रोधस्तथा लोभः तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥१६-२१॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते **कामकारतः** ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परांगतिम् ॥१६-२२॥

इस प्रकार विकृत काम से ग्रस्त आसुर- संपत् के लोक किस तरह का आचार याने दुराचार करते हैं इसका प्रभावपूर्ण वर्णन किया है । वह मूल गीता में ही देखना चाहिये । वे लोक क्रूर कर्म करते हैं, जगत् को हानि पहुँचाते हैं । वे विषयोपभोग में ही अपना जीवन बिताते हैं, उनकी कामवासना कभी पूर्ण नहीं होती, वे बुरे कर्मों में लगे रहते हैं । काम ही उनका सर्वस्व बना रहता है । अपनी आकांक्षाएँ पूरी करने के लिये अन्याय से अर्थसंचय करते हैं । स्वयं अपने को ही ईश्वर मानते हैं, और सभी के ऊपर अपना ही वर्चस्व चलाते रहते हैं । उनका अहंकार पराकोटी का हो जाता है । उनको बल, दर्प, काम, क्रोध, लोभ, दंभ, मत्सर, मोह इत्यादि सभी विकार बढ जाते हैं । उनका सभी प्रकार से अधःपात हो जाता है । सच्चा सुख उनको कभी प्राप्त होता ही नहीं । अन्त में भगवान् उपदेश देते हैं, और कहते हैं कि, काम-क्रोध और लोभ ये तीन नरक के द्वार हैं, वे विनाश की ओर ले जाते हैं, उनको त्यागना चाहिये ।

इस अध्याय के अन्त में कामाचार त्याग कर शास्त्र के अनुरूप आचार रखने की सीख देते हैं । क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है इसके बारे में शास्त्र होता है, वही प्रमाण मान कर मनुष्य को अपना कर्माचरण करना चाहिये ।

सत्रहवे अध्याय में पांचवें और छठें श्लोकों में आसुरनिश्चय के लोगों का पुनः वर्णन आता है ।

बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।७-११

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन, काम वासना और आसक्ति छोडकर जो बल बलवानों में होता है वह मैं हूँ । भूतों में धर्म के विरुद्ध न जानेवाला जो काम रहता है वह मैं हूँ।

ग्यारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि ''प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः ।'' ११-२८ प्रजोत्पादन करनेवाला मैं काम हूँ । अर्थात् काम स्वयं भगवान् का ही स्वरूप या विभूति है । इसका अर्थ यह हुआ कि काम स्वतः गर्ह्य नहीं है । परंतु वह धर्म के साथ चलता है या अधर्म के साथ यही हमें देखना है । प्रथम स्वरूप में वह स्वीकार्य है। दूसरे स्वरूप में त्याज्य है । यह पथ्य रखना है और वह तथ्य जानना है ।

निष्कामता और स्थितप्रज्ञता

द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ मनुष्य का वर्णन किया है । स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के लिये इन्द्रियों पर और मन पर संयम रखने की आवश्यकता है, इस पर विशेष बल दिया है । इन पर काबू न रखने से मनुष्य कामनाग्रस्त होता है और उसकी बुद्धि या प्रज्ञा भ्रष्ट नष्ट हो जाती है । इसीलिये जो मनुष्य अपने आप पर संयम रख कर कामनाओं को त्याग देता है वही स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।।२-५५।।
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।२-६८।।

इसके आगे के दो तीन श्लोकों में कहा है कि, ऐसे स्थितप्रज्ञ मनुष्य को ही शान्ति मिल जाती है । वही ब्राह्मी स्थिति है, जो प्राप्त करने के बाद मनुष्य विचलित होता नहीं है । वह ब्रह्मरूप निर्वाण अर्थात् मुक्तस्थिति को प्राप्त करता है । समुद्र में चारों दिशाओं से पानी भरता ही रहता है तथापि वह मर्यादा का उल्लंघन करता नहीं है। वैसे ही स्थितप्रज्ञ पुरुष में काम - विषयों का प्रवेश होता रहता है, परन्तु उसकी स्थिति शान्त रहती है । जो कामकामी है, याने जो काम विषयों की इच्छा धारण करता है उसको इस तरह की शान्ति प्राप्त नहीं होती । जो कामासक्ति छोड कर निःस्पृह रहता है, जो निर्मम है, निरहंकारी है, उसको ही शान्ति प्राप्त हो जाती है । वे श्लोक ऐसे हैं —

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप:प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् **कामा** यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न **कामकामी** ।।२-७०
विहाय कामान् य: सवान्पुमांश्चरति नि:स्पृह: ।
निर्मम: निरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति ।।२-७१
एषा ब्राह्मी स्थिति:

इतना कह कर दूसरे अध्याय की समाप्ति होती है । ऊपर हमने तृतीय अध्याय की विस्तृत चर्चा की ही है ।

आगे चौथे अध्याय में कहा है कि, जिसके सब कर्म कामसंकल्प से वर्जित होते हैं, जिस के कर्म ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं उसको विद्वान् लोक पंडित कहते हैं ।

यस्य सर्वे समारम्भा: कामसंकल्पवर्जिता: ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु: पंडितं बुधा: ।।४-१९

निष्कामता और मुक्ति

पांचूवें अध्याय में आगे के श्लोक आते हैं ।
अयुक्त: कामकारेण फलेसक्तो निबध्यते । ५-१२
शक्नोतीहैष य: सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्त: स सुखी नर: ।।५-२२
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितोब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।५-२६

जो योगयुक्त नहीं है वह काम के कारण फलासक्त होकर बंधन में पडता है। परन्तु जो काम और क्रोध का आवेग शरीर छोड देने से पहले ही सहन करने की क्षमता पाता वही युक्त और सुखी पुरुष होता है । जो काम क्रोध वियुक्त है उसको ही ब्रह्मनिर्वाणपद प्राप्त होता है । इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि पर नियंत्रण रखनेवाला, और जिसमें काम क्रोध भय नहीं है वही सदामुक्त है । (५-२८)

छठे अध्याय में वही बात दोहराई है । नि:स्पृह: सर्वकामेभ्योयुक्त इत्युच्यते तदा । (६-१८) सभी काम कें बारे में जो नि:स्पृह है उसको युक्त कहते हैं । पुनश्च कहते हैं कि, संकल्प से उत्पन्न हुए नि:शेष सभी कामों को त्याग कर और मनसे इंद्रियों का नियमन करनेवाले को उत्तम सुख मिलता है, जो ब्रह्म में रहता है । यही ध्यानयोग है । (६-२४) वैसा श्रेष्ठ सुख तीन वेदों में प्रतिपादित यज्ञ करनेवालों को नहीं मिलता, क्योंकि वे काम्य उपभोगों की इच्छा रखते हैं ।उनको पुन: पुन: जन्म और मृत्यु रूप यातायात करनी पडती है । (९-२१) अव्यय पद प्राप्त करने के लिये

कामों से विनिवृत्त होना पडता है जिस से सुख दुख रूप द्वन्द्वोंसे मुक्ति मिलती है। (१५-५)

इस प्रकार भगवद्गीता में कामविषयक चर्चा जगह जगह पर की जाती है। गीता–स्वयं उपनिषदोंका संग्रह है, जिसमें काम की चर्चा एक अपने में उपनिषद्रूप धारण करता है ।

१३ पटेल कॉलनी
सिद्धनाथ मार्ग
बडोदरा - ३९०००१

अनंत गणेश जावडेकर

*

बौद्ध तार्किकों के अनुसार प्रत्यक्ष का स्वरूप

क्षणभंगवाद बौद्धों का धुरी सिद्धान्त है । उनके अन्य दार्शनिक सिद्धान्त यथा-अनात्मवाद, स्वलक्षण, अपोह, प्रतीत्यसमुत्पाद इत्यादि क्षणभंगवाद से ही फलित होते हैं । दिग्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, शान्तरक्षित, कमलशील प्रभृति बौद्ध तार्किकों ने उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्तों का गहन एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन कर न केवल बौद्ध चिन्तन धारा को ही समृद्ध किया अपितु भारतीय न्याय परम्परा में भी उल्लेखनीय योगदान किया है । बौद्ध तार्किकों ने प्रत्यक्ष का नितान्त मौलिक विवेचन किया है, जो न केवल अन्य भारतीय दार्शनिकों से भिन्नता रखता है अपितु परम्परागत बौद्ध विचारधारा से भी अलग हट कर है । प्रस्तुत लघु निबन्ध में इन बौद्ध तार्किकों द्वारा विवेचित प्रत्यक्ष के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

दिग्नाग के अनुसार 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है। दिग्नाग न्यायमुख में कल्पना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इसे जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य और संज्ञा का संयोग बतलाते हैं । धर्मकीर्ति कल्पना की दिग्नाग की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार 'जो ज्ञान शाब्दिक अभिव्यक्ति के साथ संयुक्त होने योग्य होता है, वह कल्पना कहलाता है'[१]। इस दृष्टि से प्रत्यक्ष किसी भी प्रकार की शाब्दिक अभिव्यक्ति से पूर्णतया रहित ज्ञान है। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण मात्र है । स्वलक्षण पूर्णत: जाति, गुण आदि से रहित सम्बन्धहीन क्षण है । प्रत्यक्ष ज्ञान साक्षात् कारित्व व्यापार है, जो परवर्ती क्षण में कल्पना द्वारा अनुगमित होता है । बौद्ध प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों को 'अप्राप्यकारी' बतलाते हैं । उनके अनुसार प्रत्यक्ष में इन्द्रिय सन्निकर्ष अनिवार्य नहीं है। गौतमीय न्याय में इन्द्रियों को 'प्राप्यकारी' मानते हुए प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय सन्निकर्ष की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है ।[२] धर्मोत्तर न्यायबिन्दु टीका में प्रत्यक्ष की शाब्दिक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं - 'प्रत्यक्षं इति प्रतिगतम् आश्रितम् अक्षं' अर्थात् इन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष है । प्रत्यक्ष को इन्द्रियाश्रित ही मान लेने पर मानस प्रत्यक्ष, स्वसम्वेदन तथा योगी-प्रत्यक्ष, जिन्हें बौद्ध तार्किक प्रत्यक्ष के ही विभिन्न भेद बतलाते हैं, फिर प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं रह पाएँगे । इस कठिनाई से बचने के लिए प्रत्यक्ष का शाब्दिक अर्थ बतलाने के उपरान्त धर्मोत्तर इसका

लाक्षणिक अर्थ भी बतलाते हैं कि 'जो भी साक्षात्कारी ज्ञान है वह भी प्रत्यक्ष शब्द से लक्षित है ।

बौद्ध तार्किक स्वलक्षण और कल्पना में एक स्पष्ट अन्तर करते हैं । इन दोनों में किसी भाँति का सम्बन्ध नहीं है । यह स्पष्ट भेद उनके 'प्रमाण-विप्लव' सिद्धान्त पर अवलम्बित है । प्रमाण विप्लव के अनुसार प्रत्येक प्रमाण का अपना विशिष्ट विषय है तथा वह प्रमाण अपने उस विशिष्ट विषय को ही ग्रहण करता है अन्य को नहीं । एक विषय एक ही प्रमाण द्वारा ग्रहीत होता है अन्य प्रमाण के द्वारा नहीं। स्वलक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्रहण किया जाता हैं और कल्पना केवल अनुमान के द्वारा । समस्त विषय स्वलक्षण तथा कल्पना में ही विक्रम है । अतः बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान के अलावा किसी तीसरे प्रमाण की आवश्यकता ही स्वीकार नहीं करते । नैयायिक प्रमाण-सम्प्लव में विश्वास करते हैं । उनके मतानुसार कुछ विषय ऐसे हैं जो एकाधिक प्रमाणों द्वारा ग्रहण किए जा सकते हैं यथा-अग्नि आदि. कुछ विषय ऐसे होते हैं जो केवल एक प्रमाण द्वारा ही ग्रहण किए जाते यथा - स्वर्ग, पुण्य, पाप आदि शब्द प्रमाण द्वारा ही ग्रहण किए जा सकते है ।[३]

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के अनुसार दिग्नाग ही वे प्रथम विद्वान हैं जिन्होंने भारतीय दर्शन में निर्विकल्पक और सविकल्पक में नितान्त मौलिक भेद किया है। दिग्नाग से पूर्व ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में प्रयुक्त हुए 'आलोचनमात्र' शब्द को डा. शास्त्री इन्द्रिय व्यापार में 'प्रथम अभेदीकृत ज्ञान' (first undifferentiated apprehension) के लिए प्रयुक्त हुआ मानते हैं ।[४] यह 'प्रथम अभेदीकृत ज्ञान' मनसद्वारा विभेदीकृत होता है । 'आलोचन' शब्द के आधार पर ही बाद में वाचस्पति मिश्र उक्त कारिका की टीका में निर्विकल्पक एवं सविकल्पक का भेद करते हैं । किन्तु दिग्नाग का यह स्पष्ट मत है कि निर्विकल्पक और सविकल्पक दो नितान्त भिन्न ज्ञान हैं । ऐसा नहीं होता है कि निर्विकल्पक ज्ञान ही उत्तर क्षण में सविकल्पक में रूपान्तरित हो जाता है । वस्तुतः दोनों ज्ञान सदैव अलग-अलग ही रहते हैं । स्वलक्षण ही निर्विकल्पक का एकमात्र विषय है । चूँकि स्वलक्षण ही सत् है अतः निर्विकल्पक ही एकमात्र प्रामाणिक प्रत्यक्ष है । सविकल्पक नाम व जाति से युक्त होने के कारण कल्पना की कोटि में ही आता है ।

प्रज्ञाकरगुप्त प्रमाणवार्तिक भाष्य में 'स्वलक्षण' का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं कि यह 'स्वेतरभिन्न' है अर्थात् स्वयं से इतर सभी वस्तुओं से भिन्न है, अतः अद्वितीय है । इसलिए स्वलक्षण को वहाँ 'अन्यापोढ' भी कहा है । स्वलक्षण अन्य

किसी के साथ सर्वथा अतुलनीय है । यह भूत के सन्दर्भ से रहित वर्तमान क्षण है। यह स्वलक्षण ही निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है । यहाँ यह दृष्टव्य है कि, बौद्ध तार्किकों का स्वलक्षण से आशय सर्वशून्य से कदापि नहीं है । उनके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान में जब हम किसी वस्तु के रंग, आकार आदि को ग्रहण करते हैं तब उन गुणों को न केवल उस वस्तु से सम्बद्ध नहीं ग्रहण करते हैं अपितु अन्य किसी के साथ भी सम्बद्ध ग्रहण नहीं करते हैं । इस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय पूर्णतः असम्बद्ध स्वलक्षण होता है ।

न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति स्वलक्षण के स्वरूप से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार स्वलक्षण हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का वह विषय है जिसके दूर अथवा समीप होने पर तदनुरूप ज्ञान में भेद उत्पन्न होता है । धर्मकीर्ति के इस विचार की व्याख्या करते हुए धर्मोत्तर न्यायबिन्दु टीका में कहते हैं कि विषय की दूरी एवं समीपता के तदनुरूप उत्पन्न होनेवाले भेद को हमें स्पष्टता एवं अस्पष्टता का भेद समझना चाहिए । द्वितीयतः स्वलक्षण परमार्थसत् है । यह कल्पना या विकल्प न होकर वास्तविक सत्ता है । इस सन्दर्भ में धर्मकीर्ति कहते हैं कि स्वलक्षण अर्थक्रिया सामर्थ्य से युक्त है अतः यह परमार्थसत् है । (अर्थक्रियासामर्थ्यलक्षणत्वात् वस्तुनः) अर्थक्रिया का यहाँ तात्पर्य प्रमाता द्वारा प्रतिक्रिया करना है । प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय के रूप में स्वलक्षण के अर्थक्रियासामर्थ्य से युक्त होने का तात्पर्य है प्रमाता में विषय को स्वीकार अर्थात् ग्रहण करने और अस्वीकार अर्थात् त्यागने की प्रतिक्रिया का उत्पन्न होना । धर्मकीर्ति के उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि स्वलक्षण वास्तविक विषय है और यह सर्वशून्य कदापि नहीं है ।

प्रमाण - समुच्चयवृत्ति में दिग्नाग स्वलक्षण के स्वरूप को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार स्वस्थ इन्द्रियों वाला व्यक्ति जब नीली वस्तु को देखता है तो वह उसे नीली देखता है किन्तु इस ज्ञान का अभाव रहता है कि, 'यह वस्तु नीली है' । स्वलक्षण ऐसा विलक्षण क्षण है जो धर्म-धर्मी, जाति-व्यक्ति के भेद एवं अन्य वस्तु के साथ सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों प्रकार के सम्बन्धों से पूर्णतः रहित होता है । प्रदत्त नीला रंग केवल अन्य रंगों के साथ अतुलनीय है अपितु नीले रंग की वस्तुओं से भी अतुलनीय है । ऐसा विलक्षण स्वलक्षण ही निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है ।

बौद्धों के इस मत के विपरीत नैयायिक सविकल्पक को प्रामाणिक प्रत्यक्ष मानते हैं । उनके इस मत का आधार व्यक्ति के साथ-साथ जाति को भी वास्तविक मानना है । नव्य-न्याय के प्रणेता श्री गंगेश निर्विकल्पक एवं सविकल्पक का भेद

स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान में व्यक्ति के साथ जाति भी उपस्थित होती है, किन्तु दोनों यहाँ विशेषण-विशेष्य भाव से सम्बन्धित नहीं होते हैं। यह निष्प्रकारक ज्ञान है जब कि सविकल्पक सप्रकारक ज्ञान है जिसमें व्यक्ति और जाति विशेषण-विशेष्य भाव से सम्बन्धित होते हैं। [5] निर्विकल्पक ज्ञान में व्यक्ति और जाति को विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध से रहित ग्रहण किया जाता है, किन्तु वस्तु को देखकर उससे संयुक्त नाम का स्मरण हो जाता है। फलस्वरूप प्रथम क्षण का विशेष्य-विशेषण भाव से रहित निर्विकल्पक उत्तरक्षण में विशेष्य-विशेषण भाव से युक्त सविकल्पक में परिवर्तित हो जाता है। प्रत्युत्तर में बौद्ध कहते हैं कि केवल वे ही विषय जो कि शब्दों के साथ संयुक्त रहते हैं, शब्द का स्मरण कराते हैं। शब्दों के साथ संयुक्त रहनेवाला विषय जाति है, व्यक्ति या स्वलक्षण नहीं। अत: शब्दों द्वारा जाति का ही ग्रहण होता है, व्यक्ति का नहीं। व्यक्ति का ग्रहण तो इन्द्रियों द्वारा ही होता है। यदि शब्दों द्वारा वास्तविक विषय का ग्रहण होता तो अग्नि नाम लेने से ही ऊष्मा लगने लगती। अत: सविकल्पक शब्द-युक्त जाति को ग्रहण करता है जो कि अवास्तविक है और निर्विकल्पक व्यक्ति या स्वलक्षण को जो कि वास्तविक सत्ता है। स्वलक्षण एक अविभाज्य इकाई है जिस पर नाम, जात्यादि गुण आरोपित होते हैं। इस आरोपण का हेतु अनादि संस्कार है। वाचस्पति मिश्र नैयायिकों का पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि व्यक्ति तथा जाति दोनों ही वास्तविक इकाईयाँ हैं और दोनों मिलकर सविकल्पक प्रत्यक्ष को उत्पन्न करते हैं। शब्द वस्तु से अलग रहता हुआ भी अपनी शक्ति के रूप से सम्बन्धित हुआ संकेतित करता है। शब्द और वस्तु एक ही इन्द्रिय से ग्रहण नहीं किए जाते - प्रत्यास्मरण और इन्द्रियस्पर्श दोनों मिलकर सविकल्पक को उत्पन्न करते हैं। वस्तु के साथ इद्रिय सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में सहकारी कारण स्मृति के अभाव में सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। किन्तु उत्तर क्षण में स्मृति के उदय होने पर सविकल्पक ज्ञान का प्रादुर्भाव हो जाता है।

नैयायिकों के उपर्युक्त मत के विरुद्ध बौद्धों का तर्क है कि सविकल्पक ज्ञान में नाम-स्मरण अपनी प्रमुख भूमिका निभाता है। यह नामस्मरण मानसिक घटना होने से विकल्प का ही अंग है। भूतकाल की वह स्थिति, जिसमें वस्तु के साथ नाम का सम्बन्ध स्थापित हुआ, तब स्मृति सविकल्पक में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। नैयायिक इसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं जिसे प्रत्यक्ष का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं। बौद्धों के अनुसार प्रत्यभिज्ञा भी विकल्प ही है; क्योंकि इसमें भूत के अनुभव की चेतना रहती है जो वाणी में अभिव्यक्त होती है। बौद्ध तार्किक अपने अर्थक्रियाकारित्व सिद्धान्त के आधार पर सविकल्पक को प्रामाणिक प्रत्यक्ष मानने से

अस्वीकार करते हैं । उनके अनुसार जो विषय अपने प्रथम क्षण में सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न नहीं करता वह दूसरे क्षण में भी उसे उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि दोनों ही क्षणों में इन्द्रिय-स्पर्श तो विद्यमान रहता ही है । यदि विषय में सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने की सामर्थ्य होती तो वह प्रथम क्षण में ही उसे उत्पन्न कर दिया होता जबकि ऐसा नहीं होता है । अत: निर्विकल्पक एवं सविकल्पक दोनों ही दो भिन्न ज्ञान हैं। स्वलक्षण से उत्पन्न होने के कारण निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रामाणिक प्रत्यक्ष हैं ।

बौद्ध तार्किकों ने निर्विकल्पक ज्ञान के चार प्रकार बतलाएँ हैं —
(अ) इन्द्रिय प्रत्यक्ष (ब) मानस प्रत्यक्ष (ख) स्वसम्वेदन (द) योगी प्रत्यक्ष । इन्द्रिय प्रत्यक्ष की ऊपर विस्तार से चर्चा की जा चुकी है । बौद्ध दर्शन में इन्द्रिय प्रत्यक्ष की ही भाँति मानस-प्रत्यक्ष तथा स्वसम्वेदन का भी अपना विशिष्ट स्थान है।

मानस प्रत्यक्ष - न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति मानस प्रत्यक्ष की बहुत सुन्दर तथा सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने हैं । इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है । स्वलक्षण तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष दोनों एक ही क्षण में घटित होते हैं । स्वलक्षण तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष का अनुगामी परवर्ती क्षण ही मानस प्रत्यक्ष या मानसिक प्रत्यक्ष अथवा मानसिक सम्वेदन कहलाता है । प्रमाणवार्तिक में भी मानस सम्वेदन को इन्द्रिय सम्वेदन का तत्काल परवर्ती माना गया है ।[६] प्रथम क्षण के इन्द्रिय-सम्वेदन तथा द्वितीय क्षण में घटित होने वाले मानस-सम्वेदन में कारणता का सम्बन्ध नहीं है । यह मानस-सम्वेदन स्वलक्षण और इन्द्रिय-सम्वेदन की परस्पर सह उपस्थिति का परिणाम मात्र है । सच तो यह है कि इन्द्रिय-सम्वेदन में और मानस-सम्वेदन में कोई गुणात्मक भेद नहीं है अपितु मात्र कालिक भेद है ।[७] इन्द्रिय सम्वेदन की ही भाँति मानस-सम्वेदन निर्विकल्पक ज्ञान है । क्योंकि यह भी कल्पना या विकल्प रहित साक्षात् ज्ञान है । मानस-सम्वेदन भी उसी विषय को ग्रहण करता है जिसे इन्द्रिय -सम्वेदन के संयुक्त क्षण के नष्ट होते ही तत्काल मानस-सम्वेदन का परवर्ती क्षण उद्भूत होता है ।

द्रष्टव्य है कि बौद्धों का मानस प्रत्यक्ष नैयायिकों के मानस-प्रत्यक्ष से सर्वथा भिन्न है । यह सुख-दु:खादि अनुभवों का प्रत्यक्ष नहीं है और न ही यह पूर्व क्षण की स्मृति ही है, अपितु प्रत्यक्ष का ही एक प्रकार है । क्योंकि जिस उत्तरक्षण में मानस-सम्वेदन होने की बात कही जाती है, उसी क्षण में विषय के साथ इन्द्रिय - स्पर्श बने रहने के कारण इन्द्रिय-सम्वेदन भी हो रहा है जिसे सुविधा की दृष्टि से इन्द्रिय सम्वेदन २ कह सकते हैं । इस इन्द्रिय-सम्वेदन २ के नष्ट होते ही उत्तरक्षण

में तत्काल मानस-सम्वेदन २ उद्भूत होता है । जिस उत्तरक्षण में मानस-सम्वेदन २ उद्भूत होता है उसी क्षण में इन्द्रिय-सम्वेदन ३ हो रहा होता है । इसके तत्काल उत्तरक्षण इन्द्रिय-सम्वेदन ४ और मानस-सम्वेदन ३ समकालिक होंगे । यह श्रृंखला तब तक चलती रहती है जब तक कि विषय के साथ इन्द्रिय-स्पर्श बना रहता है।

बौद्धों का यह मानस-प्रत्यक्ष कुछ अनुत्तरित प्रश्न खडे करता है । स्वयं बौद्धों में भी मानस-प्रत्यक्ष को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं । एक ही क्षण में इन्द्रिय-सम्वेदन और मानस-सम्वेदन दोनों एक साथ कैसे हो सकते हैं ? यदि यह कहा जाता है कि गुणात्मक भेद नहीं होने के कारण दोनों स्वरूपत: एक ही हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें दो भिन्न नामों से अभिहित करना नितान्त अनावश्यक लगता है । और यदि दोनों भिन्न हैं तो एक ही क्षण में विज्ञान के दो भिन्न प्रकार कैसे हो सकते हैं ? बौद्ध यदि ऐसा सम्भव मानते हैं तो उन्हें इन्द्रिय-सम्वेदन और स्मृति दोनों को भी एक ही क्षण में घटित हुआ मान लेना चाहिए । ऐसा नहीं है कि बौद्ध तार्किक इस कठिनाई से परिचित नहीं हैं । शान्तरक्षित ने मानस-सम्वेदन को अनावश्यक मानते हुए प्रत्यक्ष विमर्श में इसे कोई स्थान नहीं दिया ।[८] किन्तु ज्ञानगर्भ मानस-प्रत्यक्ष को इसीलिए महत्त्वपूर्ण मानते हैं कि, उनके अनुसार, यह इन्द्रिय-सम्वेदन और विकल्प का मध्यवर्ती ज्ञान है । इसके ठीक विपरीत धर्मोत्तर मानस-प्रत्यक्ष को अनावश्यक अवधारणा बतलाते हैं । धर्मोत्तर का यह कहना है कि कार्योत्पादन विषम कारण से भी हो सकता है । इन्द्रिय- सम्वेदन स्वयं कल्पना या विकल्प को उत्पन्न करने में सक्षम है, इसीलिए मानस-प्रत्यक्ष को दोनों का मध्यवर्ती ज्ञान मानना नितान्त अनावश्यक ही है ।[९]

सम्वेदन अथवा आत्मसम्वेदन - न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति चित्त एवं चैत्त को आत्मसम्वेदन स्वभाववाला बतलाते हैं ।[१०] चित्त अर्थात् ज्ञान का सामान्य स्वरूप और चैत्त अर्थात् सुख-दु:खादि मानसिक अनुभव की आत्मसम्वेदना विकल्प से रहित होती है । अत: आत्मसम्वेदन भी निर्विकल्पक ज्ञान का ही एक प्रकार है । धर्मकीर्ति के अनुसार ज्ञान तथा अनुभूति दोनों ही समान कारणसंघात से उत्पन्न होते हैं । यह कारण-संघात हैं -- विषय, इन्द्रियाँ तथा विज्ञान का तत्काल पूर्ववर्ती क्षण। इस कारण-संघात की उपस्थिति में ज्ञान तथा अनुभूति दोनों साथ-साथ उद्भूत होते हैं । यही नहीं इस कारण-संघात की अनुपस्थिति में दोनों में से कोई भी उद्भूत नहीं होता। इस प्रकार दोनों एक स्वभाव के होने के कारण मानसिक अनुभूति भी ज्ञान की भाँति आत्मसम्वेदनात्मक ही है । इन्द्रिय-सम्वेदन और मानसिक अनुभव दोनों समकालीन हैं । फलस्वरूप मानसिक अनुभव इन्द्रिय-सम्वेदन के द्वारा ग्रहण नहीं

किए जा सकते । इसीलिए मानसिक अनुभवों को आत्मसम्वेदनात्मक ही मानना चाहिए । इस सन्दर्भ में यह द्रष्टव्य है कि आत्म-सम्वेदन इन्द्रिय-सम्वेदन और मानस-सम्वेदन से कोई भिन्न मानसिक स्थिति नहीं है अपितु विज्ञान का प्रत्येक क्षण आत्म-सम्वेदनात्मक या स्वयंप्रकाश है । आत्मसम्वेदन पर टिप्पणी करते हुए शरबॅट्स्की लिखते हैं कि – 'आत्म-सम्वेदन अनिवार्यतः ज्ञान का ही एक दृष्टान्त है। यह हमारे 'स्व' को हमारे ही समक्ष प्रस्तुत करता है । यह न तो विकल्प है और न ही भ्रम अतः साक्षात् ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान ही है ।[११]

योगी-प्रत्यक्ष – निर्विकल्पक ज्ञान का चौथा प्रकार योगी-प्रत्यक्ष है । योगी ध्यान के निरन्तर अभ्यास द्वारा विषय को विज्ञान में ही अत्यन्त स्पष्टता से देखने लगता है । न्यायबिन्दु में तीन क्रमिक सोपान बतलाते हैं – (अ) प्रथम सोपान में विषय स्पष्ट होना प्रारम्भ हो जाता है । (ब) ध्यान के निरन्तर अभ्यास से योगी दूसरे सोपान में प्रवेश करता है जहाँ से उसे सत् बादल की एक हल्की परत से झाँकता दिखाई देता है । (स) अन्तिम सोपान में योगी को विषय का विज्ञान में वैसे ही साक्षात् प्रत्यक्ष होने लगता है जैसे हथेली पर रखे हुए चावल का इन्द्रिय सम्पर्क द्वारा साक्षात् प्रत्यक्ष होता है । योगी-प्रत्यक्ष साक्षात् ज्ञान ही है । जिसे योगी विज्ञान में ही प्राप्त कर लेता है । योगी विज्ञान में जिस विषय का ग्रहण करता है वह शब्द अथवा विकल्प से रहित होता है । इसीलिए योगी प्रत्यक्ष निर्विकल्प ज्ञान की ही कोटि में आता है । समाधि में ग्रहण किया जानेवाला यह विषय भ्रम नहीं अपितु स्वलक्षण है जो अर्थक्रियाकारित्व से समर्थवान् है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बौद्ध तार्किक निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रामाणिक ज्ञान मानते हैं जिसका विषय स्वलक्षण है । यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि स्वलक्षण आखिर है क्या ? स्वलक्षण न तो सर्वशून्य ही है और न यह अद्वैत वेदान्त की शुद्ध सत्ता ही है । बौद्धों ने स्वलक्षण को नकारात्मक ढंग से समझने की चेष्टा की है जो कि पर्याप्त नहीं है । वे इसे जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य और संज्ञा से रहित व्यक्ति बतलाते हैं । यह व्यक्ति अन्यापोढ या स्वेतरभिन्न है। दूसरे शब्दों में स्वलक्षण 'वही है जो कि वह है' । निश्चय ही इस नकारात्मक व्याख्या से स्वलक्षण का स्वरूप और भी अधिक अस्पष्ट हो जाता है । यह विचारणीय बिन्दु है कि बौद्ध ऐसे अस्पष्ट निर्विकल्पक ज्ञान को ही प्रामाणिक ज्ञान मानते हैं । यह उनकी विवशता भी है । क्षणभंगवाद को सत् का मूलस्वरूप मानने के कारण जातिरहित व्यक्ति को ही वास्तविक स्वीकार करने के अतिरिक्त उनके पास और कोई उपाय भी तो नहीं है । यही नहीं बौद्धों का यह मत हमें एक विचित्र

उलझन में डाल देता है । निर्विकल्पक ज्ञान जो कि परमार्थ सत् है, व्यवहार में नितान्त अनुपयोगी है । निर्विकल्पक ज्ञान से हमारा कोई जागतिक व्यवहार सम्भव नहीं; और व्यावहारिक उपादेयता वाला सविकल्पक ज्ञान विकल्प है वास्तविक नहीं। सविकल्पक ज्ञान का विषय सन्तान है । सन्तान अर्थात् क्षणों की निर्बाध शृंखला परमार्थ सत् नहीं है । परमार्थ सत् तो क्षण अर्थात् स्वलक्षण ही है । हमारी यह उलझन तब और बढ जाती है जब निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों को पूर्णतः स्वतन्त्र और परस्पर असम्बद्ध माना जाता है । हमारे सामने यह प्रश्न उठता है, कि क्या क्षण के बिना सन्तान को ग्रहण किया जा सकता है? क्षणभंगवाद में हमें इन प्रश्नों का संतोषप्रद समाधान नहीं मिल पाता है ।

दर्शन विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

शिवनारायण जोशी 'शिवजी'

टिपण्णियाँ

१. "अभिलाप संसर्गयोग्य प्रतिभास प्रतीतिः कल्पना" न्यायबिन्दु
२. प्रो. एस. सी. चटर्जी- "न्याय थ्योरी ऑफ नॉलेज" पृ.१३९ यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता १९५०
३. डॉ. नगीन जे. शाह - "अकलंक्स क्रिटीसिज्म ऑफ धर्मकीर्तिज् फिलॉसोफी" पृ. १९८, एल.डी.इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद
४. डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री "क्रिटीक ऑफ इन्डियन रियलिज्म" पृ. ४३७ आगरा यूनिवर्सिटी, १९६४
५. ननु ज्ञानत्वं सविकल्पक भिन्न वृत्ति इति अत्र किं मानं, न प्रत्यक्षं असिद्धे, अतीन्द्रियत्वाभ्युगमाच्च" ---"तत्र नाम-जात्यादि योजना रहितं वैशिष्ट्यानवगाहि निष्प्रकारकं निर्विकल्पकम्" तत्त्वचिन्तामणि प्रत्यक्ष खण्ड पृ.८०९ देखिए "क्रिटीक ऑफ इन्डियन रियलिज्म" ले. डॉ. धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री पृ. ४४०
६. "तस्माद् इन्द्रियविज्ञानानन्तर प्रत्ययोद्भवम्" प्रमाणवार्तिक II पृ.२४३

७. शरबाट्स्की "बुद्धिस्टलॉजिक भाग II पृ. २४-२५ डॉवर पब्लिकेशन्स, न्यूयॉर्क.

८. प्रो. सत्कारी मुखर्जी "द बुद्धिस्ट फिलॉसफी ऑफ यूनिवर्सल फ्लक्स" पृ. ३११ मोतीलाल बनारसीदास १९७५.

९. डॉ. नगीन जे. शाह "अकलंक्स क्रिटीसिज्म ऑफ धर्मकीर्तिज् फिलॉसोफी" पृ. २११ एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी, अहमदाबाद.

१०. "सर्व चित्तचैत्तानामात्मसंवेदनम्" न्यायबिन्दु I -१०

११. "self-consciousness is essentially a case of knowledge, it makes present to us our own self. It is not a construction, it is not an illusion, and therfore it is direct knowledge" बुद्धिस्ट लॉजिक भाग II पृ.३० डॉवर पब्लिकेशन्स्, न्यूयॉर्क.

प्रमुख वैष्णवाचार्यों के दर्शन में भक्ति तत्त्व

वैष्णव परम्परा में चार प्रमुख सम्प्रदाय हुए – श्री सम्प्रदाय, सनक सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय और रूढ सम्प्रदाय । इनमें श्री सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य रामानुज थे। सनक् सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क हुए जिन्होनें अद्वैत के खण्डन को विशेष महत्त्व न देकर द्वैताद्वैत को स्वीकार करके भजन तथा पूज़न आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया । ब्रह्म सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य मध्व थे । इन्होनें शंकराचार्य के मायावाद को भक्ति में बाधक मानते हुए उनके अद्वैतवाद का खण्डन किया तथा लक्ष्मीनारायण की उपासना की पद्धति निर्धारित की । ये तीनों सम्प्रदाय आधुनिक काल में भी यथापूर्वक प्रचलित हैं किन्तु रूढ सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी का सम्प्रदाय उच्छिन्न हो गया था जो कालान्तर में वल्लभाचार्य द्वारा पुनः प्रतिष्ठित होकर गुजरात व पश्चिम राजस्थान में अधिक लोकप्रिय हुआ । इन चारों वैष्णव सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर मतमतान्तर होते हुए भी इनमें व्यवहारिक रूप से समानता थी । भक्ति को सभी ने आवश्यक माना है ।

रामानुज का भक्ति व कर्म

रामानुज कर्म की सहायता से उपलब्ध ज्ञानरूपी भक्ति को ही जीव के विस्तार के लिये श्रेष्ठ उपाय मानते हैं । यह माना जा सकता है कि उनके दर्शन में कर्म और ज्ञान को भक्ति का सहकारी माना है । कर्मों का आचरण मृत्युपर्यन्त बिना किसी फल की कामना से करना ही निष्काम कर्म कहलाता है । ये निष्काम कर्म ही कर्मयोगी का धर्म है । कर्मयोगी ज्ञान के बाधक तत्त्व को नष्ट कर देता है । अर्थात् कर्मयोग के द्वारा जीवों के पाप नष्ट होते हैं तथा साधक के हृदय में ज्ञानयोग का आविर्भाव होता है उस के पश्चात् ही साधक के हृदय में भक्तियोग उत्पन्न होता है ।

रामानुज के अनुसार भक्ति एवं प्रपत्ति ज्ञान के प्रकार विशेष हैं[1] । ईश्वर जैसे महानतम विषय के प्रति की जाने वाली प्रीति ही भक्ति है तथा भगवान् को ही एकमात्र शरण रूप से स्वीकार करना प्रपत्ति है । रामानुज का मानना है कि ईश्वर भक्ति एवं प्रपत्ति से प्रसन्न होकर जीव को मोक्ष प्रदान करते हैं । यद्यपि कर्मयोग एवं ज्ञानयोग को मोक्ष का साधन माना जाता है परन्तु रामानुजाचार्य के अनुसार कर्मयोग एवं ज्ञानयोग भक्ति के अंग हैं अतएव ये भक्ति के माध्यम से ही मोक्षप्रद होते हैं ।

ज्ञान की परम परिणति भगवान के प्रति परम प्रेम में होती है इसे भक्ति कहते हैं। जब मनुष्य को ईश्वर के श्रेष्ठ स्वरूप और कल्याणमय गुणों का बोध हो जाता है तो वह स्वाभाविक रूप से उस परमसत्ता के प्रति सम्मान एवं श्रद्धा अथवा प्रेम करने लगता है। इस ज्ञानाश्रित अथवा ज्ञानोत्पन्न प्रेम को ही भक्ति कहते हैं।[२] इस प्रकार भक्ति एक भावपूर्ण ज्ञान है, जिससे ईश्वर का ध्यान होता है। ईश्वर के स्वभाव का प्रेमपूर्वक ध्यान करना ही भक्ति है।

अष्टांग योग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि इन आठ अंगों से युक्त तेल की धारा के समान, बिना किसी विच्छेद के सतत ध्येय के स्वरूप चिन्तन धारा को भक्तियोग कहते हैं।[३] अष्टांग योग स्वरूप से सम्पन्न अधिकारी जब लगातार ध्येय श्रीभगवान् के स्वरूप का चिन्तन करने लग जाता है तब उसके चिन्तनकाल में मन से बिल्कुल ध्येय श्रीभगवान् के स्वरुप का अपरोक्ष सा होने लगता है, उसे ही भक्तियोग कहते हैं। जिस प्रकार तेल की धारा निश्छिद्र होती है, उसी प्रकार ध्याता का मन सदा परमात्मा के स्वरूप के चिन्तन में निरत रहता है, उसमें थोडा सा भी अन्तराल नहीं होता है। यह भक्तियोग विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद एवं अनद्धर्ष इन सात साधनों से उत्पन्न होता है।

विवेक - अन्न में तीन प्रकार के दोष होते हैं - जातिदोष, आश्रयदोष एवं निमित्त दोष। इन तीन दोषों से रहित भोज्य पदार्थों का सेवन करने से शरीर की जो शुद्धि होती है उसे विवेक कहते हैं।

विमोक - काम्य विषयों में अत्यन्त आसक्ति का अभाव ही विमोक है। अर्थात् भक्त को इन विषयों से विरक्त होकर उपासना करनी चाहिए।

अभ्यास - श्री भगवान् का बार-बार चिन्तन करना ही अभ्यास है।

क्रिया - अपनी शक्ति के अनुसार सदा पंच - महायज्ञों का अनुष्ठान ही क्रिया कहलाती है।

कल्याण - सत्य भाषण, मन, वाणी, तथा शरीर के समान व्यवहार वाला होना रूप, आर्जव, जीवों पर दया करना, दान देना तथा अहिंसा का पालन, इन सबका समुदित नाम कल्याण है

अनवसाद - शोकप्रद वस्तुओं की याद आ जाने से किसी प्रकार दीनता का न होना ही अनवसाद कहलाता है।

अनुद्धर्ष - देशकाल की अनुकूलता तथा प्रियवस्तु के स्मरण से सन्तुष्ट न होने को अनुद्धर्ष कहते हैं।

इन साधन-सप्तक से परिनिष्पन्न भक्त को ऐसा लगता है कि वह अपने ध्येय परमात्मा का साक्षात्कार कर रहा है और यह भक्ति तब तक बनी रहती है जब तक कि अन्तिम प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो जाता। इसके अलावा रामानुज दर्शन में भक्ति के तीन पर्व बतलाए गए हैं - परभक्ति, परज्ञान तथा परम भक्ति।

परभक्ति - प्रीतिरूप को प्राप्त होने वाला तथा दर्शन के समान आकार वाला मोक्ष का कारणभूत स्मृतिसन्तान ही परभक्ति कहलाता है।

परज्ञान - यह श्रीभगवान् के विषय में होने वाला परिपूर्ण साक्षात्कार है जिसमें भगवान् के साक्षात्कार करने के लिए उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न होती है।

परमभक्ति - भक्ति की उच्चतम अवस्था परमभक्ति में पर्यवसित होती है। परज्ञान की अवस्था में उत्पन्न ज्ञान और प्रेम सधन एवं उत्कट हो जाते हैं।[४] तथा साधक ब्रह्म के साथ अपनी एककारकता की अनुभूति में निमग्न हो जाता है।

ये तीनों ही क्रम अपनी चरमावस्था में प्रपत्ति में परिणत हो जाते हैं। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। रामानुज प्रपत्ति को भक्त के लिए आवश्यक प्रथम चरण और भक्ति की चरम परिणति दोनों ही रूपों में स्वीकार करते हैं। ये ईश्वर कृपा प्राप्त करने के लिए शरणागति को आवश्यक पूर्व-शर्त मानते हैं। उनके मतानुसार भक्ति में परिणत ज्ञान भी अहं का कारण बन सकता है परन्तु यह अहं भक्त के लिए श्रेयस्कर नहीं हो सकता क्योंकि जीव की मुक्ति ईश्वर से स्वतन्त्र कर्तापन या भोक्तापन के अवभास की उपस्थिति में सम्भव नहीं है। इसीलिए भगवद्-दर्शन उन्हीं को हो सकता है जिनका वरण ईश्वर करता है। यद्यपि सर्वतोभोवन ईश्वर में शरणागत जीव केवल उसी पर आश्रित होने के कारण उसे अत्यधिक प्रिय होते हैं।[५] अत: भक्ति की सिद्धि भी शरणागति के माध्यम से ही हो सकती है।

मध्व का वैराग्य कर्म, भक्ति व उपासना

मध्वाचार्य ने वैराग्य को साधना की प्रथम सीढी माना है, इसका अर्थ है शरीर तथा शारीरिक सुख और इच्छाओं के प्रति आसक्ति। मध्व के अनुसार सच्चा वैराग्य उस समय तक प्राप्त नहीं किया जा सकता है जब तक मनुष्य स्वयं को तथा स्वयं से जुडी हुई वस्तुओं का आधार ईश्वर को नहीं मानता क्योंकि ईश्वर से बढकर अन्य कोई स्नेहमयी सत्ता नहीं हो सकती।

शास्त्रों में इस बात को महत्त्व दिया गया है कि वैराग्य के लिए सबसे अधिक आवश्यकता अनासक्ति की है क्योंकि अनासक्ति के कारण मानव की सांसारिक सुखों के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है तथा इसका ध्यान ईश्वर में ही केन्द्रित हो

जाता है ।

कर्म - मध्वाचार्य वैराग्य के साथ-साथ कर्म को भी स्वीकार करते हैं परन्तु उनका मत है कि जब तक कर्म, भक्ति एवं ज्ञान की ओर उन्मुख नहीं, तब तक मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है । जिस प्रकार गीता ने कर्म के पुराने सिद्धान्तों को त्याग कर प्राचीन वैदिक सिद्धान्तों को नए आयाम दिए हैं तथा ज्ञान और कर्म के मध्य में सेतु बांधने का प्रयास किया है अर्थात् गीता में कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छा को कर्म से अलग कर ज्ञान की विषयवस्तु को इस रूप में बढाया है कि ईश्वर के प्रति भक्ति ही ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य है, यही बात मध्व ने भी स्वीकार की है । मध्वाचार्य के अनुसार इस बात को स्वीकार नहीं किया जा सकता है कि वेद कर्म में ही संपूर्णता मानते हैं क्योंकि सच्चे आनन्द की प्राप्ति ही मानवीय व्यवहार का सच्चा लक्ष्य हो सकता है इसीलिये यथार्थ ही शास्त्रों का विषय हो सकता है जो कि कर्म द्वारा उत्पन्न वस्तु से भिन्न है । इसीलिए श्रुति में भी कहा गया है कि वही कर्म जो विश्वास और ईश्वर के प्रति ज्ञान की भावना से किया गया है वही सक्षम होता है ।[७] अतः कर्म को भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य के साथ किया जाना चाहिए ।

भक्ति - मध्वाचार्य के अनुसार भक्ति और ज्ञान एक ही मार्ग के विभिन्न पहलू हैं। ज्ञान, भक्ति का एक भाग है, इसीलिए भक्ति को कई बार ज्ञान के रूप में कहा जाता है । ज्ञान एवं भक्ति का सम्मीलित रूप भक्ति कहलाता है । भक्ति वास्तव में ईश्वर के प्रति गहरा प्रेम है, जिसकी प्रेरणा तथा आधार उसके बारे में उचित ज्ञान है, यह दोनों का सम्मिश्रण है । महाभारत-तात्पर्य-निर्णय में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई है कि "वह निश्चित और अविचलित ईश्वर के प्रति प्रेम जो कि दूसरे सभी प्रकार के प्रेम या स्नेह से ऊपर उठा हुआ है जिसका आधार उचित ज्ञान और ईश्वर के प्रति उचित समझ है उसे भक्ति कहते हैं, वही एकमात्र मोक्ष का साधन है।" यह (भक्ति) जीव द्वारा ब्रह्म के प्रति अनुराग है । ऐसी भक्ति ज्ञान से पूर्व भी है तथा ज्ञान का अनुसरण भी करती है । भक्ति से ज्ञान की प्राप्ति होती है तथा उस ज्ञान से भक्ति में परिपक्वता आती है तथा वह क्रमशः अधिक से अधिक परिपक्व होती है। तत्पश्चात् मुक्ति प्राप्त होती है और उस मुक्ति से फिर भक्ति उत्पन्न होती है । जो आनन्द का सार है तथा स्वयं में साध्य है । मध्व का मानना है कि परमेश्वर की पूजा शुद्ध आनन्द है । यह किसी साध्य का साधन नहीं है । यह मोक्ष से पहले ही नहीं बाद में भी बनी रहती है अर्थात् ईश्वर और जीव का सम्बन्ध मुक्ति से समाप्त नहीं होता बल्कि मुक्ति के बाद भक्ति के माध्यम से बना रहता है ।

उपासना - उपासना मस्तिष्क की वह प्रक्रिया है जिसमें ऐसे विचार जो ईश्वर के

प्रति गहरा लगाव प्रकट करते हैं, निरन्तर बने रहते हैं। जब उन्हें ईश्वर की तरफ प्रवृत्त कर देते हैं तो यह ईश्वर साक्षात्कार के लिए शक्तिशाली साधन बन जाते हैं।

मध्व के अनुसार उपासना दो तरह की होती है। प्रथम में गहन अध्ययन, जिसमें धार्मिक ग्रन्थों को भली प्रकार समझना तथा द्वितीय ध्यान करना है। श्वास का नियंत्रण तथा कुछ अन्य पहलू जो कि ध्यान की प्रक्रिया में होते हैं, ध्यान के आवश्यक अंग हैं।[८] मध्व शास्त्राभ्यास को बहुत ऊँचा स्थान देते हैं क्योंकि उनके मतानुसार शास्त्राभ्यास उपासना की स्वतन्त्र इकाई है, जिससे ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। ये सर्वोच्चता की ओर ले जाने वाला मार्ग है। उन्हीं शास्त्रों का अध्ययन होना चाहिए जिनकी विषय सामग्री अधिकाधिक रूप से निर्णित हो गई हो क्योंकि इनके अध्ययन का उद्देश्य ईश्वर प्राप्ति है। मध्व ने अपने मत को इस तरह भी प्रकट किया है कि शास्त्रों को पढना तथा उनकी टीका करना ध्यान की प्राथमिक अवस्था होती है। ध्यान में स्वअनुशासन की सभी प्रक्रियाएँ एवं सोपान सम्मिलित हैं जिससे आगे समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। जो उपासना के इस रूप का अभ्यास करता है उसे अवश्य ही ईश्वर का दर्शन होता है।

निम्बार्क का भक्तियोग

निम्बार्काचार्य के अनुसार परमात्मा की दो शक्तियाँ है – गुणशक्ति, (क्रियाशक्ति), तथा स्वरूपशक्ति , (ज्ञान शक्ति)। क्रियाशक्ति पर विजय प्राप्त कर, ज्ञानशक्ति को पा लेना ही स्वरूप प्राप्ति ब्रह्मस्वभाव मुक्ति है। निम्बार्क स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार करते हैं कि स्वतन्त्र रूप से न तो क्रिया शक्ति और न ज्ञानशक्ति ही आत्मशुद्धि कर सकती है। अपितु क्रियाशक्ति की जो अभिलाषा है वही मृत्यु और बंधन का कारण है, उसको दबा लेना ही मृत्यु की जीत है और ज्ञानशक्ति से कर्तव्य कर्मों का दृढतापूर्वक पालन करते हुए, ज्ञानशक्ति की अहं की भावना जो कि सारे बंधनों का बीज है, उसको दबा देना ही अमृतत्व प्राप्ति है। परन्तु भक्तियोग इन दोनों शक्तियों को अभिलाषा तथा अभिमान से शून्यं कर उचित कर्मानुष्ठान कराता है और अन्तःकरण को स्वच्छ एवं प्रकाशमान करता है। क्रियाशक्ति (अविद्या) को ज्ञानशक्ति (विद्या) द्वारा दूर कर देना ही ज्ञानयोग है। ज्ञानयोग में भगवद्भक्ति (सर्व समर्पण भाव) का संयोग ही ब्रह्मयोग है। भक्ति ही ब्रह्मविद्या है। क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति उसके अंग है। ब्रह्मविद्या ही ब्रह्म की पराशक्ति है जो कि परमात्मा की स्वाभाविकी शक्ति हैं।[९] उनका यह मत है कि जिस समय जीव में अभिमान शून्य ज्ञान से सर्वज्ञता आए वही ज्ञाननिष्ठा है, जब निष्काम कर्म से चित की निर्मलता हो वह कर्मनिष्ठा है तथा इन दोनों की संयोगरूपा भक्ति से कृष्ण की कृपा हो वही भक्ति

है, जो कि ज्ञान व क्रिया दोनों से युक्त तीसरी उत्तम निष्ठा है ।[१०] ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति (ज्ञानयोग व कर्मयोग) का संयोजक भक्तियोग ही है । जीवात्मा अपने को सम्पूर्ण रूप से परमात्मा के शरणापन्न हो जाए, इस प्रकार का सर्वसमर्पण ही भक्तियोग का अन्तिम पद है । "श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवनं अर्चनं दास्य सख्यं आत्मनिवेदनम्" इस आत्मनिवेदन में ही स्वरूपप्राप्ति (मुक्ति) होती है । निम्बार्क का यह मानना है कि अनासक्त भाव से गृहस्थ में रहकर ही जो भगवद्भक्ति का साधन करता है वही उत्तम अधिकारी है । कामनाओं का त्याग ही तप है ।[११] भक्तों की दृष्टि में देह, गेह, स्त्री आदि में आसक्ति और अहंबुद्धि रखनेवाला मूर्ख है ।[१२] इस प्रकार भक्ति का सिद्धान्त ही यही है कि चित्त को विषयों के चिन्तन में लगाने से उसमें विषय बढेंगे और वह उसी में डूब कर बंध जायेगा । परन्तु यदि चित्त को परमात्मा में लगाएँगे तो वह शुद्ध निर्मल और परमात्मा के समान शान्त और उज्ज्वल हो जायेगा । इसी प्रकार निम्बार्क स्वयं कहीं भी कर्म त्याग करने का उपदेश नहीं देते हैं वे कर्मों को परमात्मा में लगाने का ही आदेश देते हैं ।[१३] बादरायण कृष्ण ने ज्ञान, कर्म और भक्ति तीन योग मनुष्यों के कल्याण के लिए कहे थे । जिनमें ज्ञानयोग सन्यासियों के लिए, कर्मयोग सकाम कर्म में लगे हुए संसारी लोगों के लिए तथा भक्तियोग निष्काम कर्म करने वाले भक्त लोगों के लिए कहा है। भक्तियोग मध्यममार्ग है, जिसमें ज्ञान व कर्म दोनों रहते हैं । भक्ति योग में न तो पूर्ण त्याग होता है, जिसे संन्यासी करते हैं और न पूर्ण आसक्ति होती है, जैसा कि सकाम कर्मयोगी की होती है । इसमें त्याग भी परमात्मा के प्रति तथा आसक्ति भी परमात्मा के प्रति होती है । यह निष्ठा और श्रद्धा का मार्ग हैं ।[१४]

निम्बार्क के दर्शन में भक्ति के दो भेद बताए गए हैं। इनके अनुसार ब्रह्मविद्या का जप, उपासना का क्रियात्मक रूप है, यही मुख्य सहकारी साधन है, इसे वैधी भक्ति कहते हैं, इसी को सगुणा भक्ति, गुणशक्ति या क्रियाशक्ति भी कहा गया है । द्वितीय रागात्मिका भक्ति है जो अन्तःसाधन है, इसको स्वरूपशक्ति अर्थात् ज्ञानशक्ति भी कहते हैं । वैधी भक्ति के साधन के सहयोग से रागात्मिका भक्ति का प्रादुर्भाव होता है । निम्बार्काचार्य इस रागात्मिका भक्ति को प्रियावत्, पुत्रवत्, सखिवत् और दासवत् कहते हैं । निम्बार्काचार्यने इन चारों भावों की व्याख्या इस प्रकार की है - दास्यभाव - निम्बार्क के मतानुसार परमात्मा दास्य भाव के उपासक को आत्मसात् कर पापों से मुक्त कर देते हैं ।[१५] जिस प्रकार नौकर के सम्पूर्ण कार्य मालिक के लिये ही होते हैं । वह सब कुछ स्वामी के लिए ही करता है, उसका अपना कुछ भी नहीं होता । उसी प्रकार जीवात्मा को परमात्मा का ही सब कुछ मानना चाहिये।

इस प्रकार का भाव दास भाव होता है। ऐसा होने पर स्वामी उसकी हर प्रकार से रक्षा करते हैं।

वात्सल्यभाव - जो भक्त परमात्मा के निकट शिशु के समान अबोध होकर आते हैं, परमात्मा उनका पोषण करते हैं। जिस प्रकार शिशु को भी किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं होता वैसे ही उपासक को भी शिशु के समान ही निर्मल, निर्दोष भाव से रहना चाहिये। जिस प्रकार पिता हर प्रकार के पोषण करते हैं, वैसे ही प्रभु भी भटकते, लडखडाते हुये भक्त का पोषण करेंगे।

सख्यभाव - जो भक्त परमात्मा को मित्र भाव से भजते हैं, परमात्मा उन्हें कभी नहीं छोड सकते। ईश्वर मित्रभाव के उपासक को अपने साहचर्य से अपने समान ही ऐश्वर्य, आनन्द और भोग प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि परमात्मा सख्यभाव के उपासक के दोषों को भी क्षमा कर देतें हैं।

प्रियावत्भाव - जो परमात्मा को प्रिया भाव से भजते हैं अर्थात् ईश्वर में ही मन प्राण, और दैहिक आसक्ति को समर्पित कर स्वामी प्राणधन मानकर लौकिक और वैदिक कर्मों की कामनाओं को भी उसी के लिये त्याग देते हैं ऐसे भक्तों को ईश्वर आप्तकाम कर देते हैं।

निम्बार्क के अनुसार परमात्मा इस प्रकार के उपासक को अपने अद्‌भुत प्रकाश से प्रकाशित कर सारूप्य मुक्ति प्रदान करते हैं। इसमें प्रियतम की प्रिया पर दास्यभाव की कृपा, वात्सल्य का स्नेह, सख्य की प्रीति एक रस होकर प्रणय के गाढानुराग रूप से प्रकट हो जाते हैं तथा अन्तःकरण के आठों भाव रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुत्सा और विस्मय एकत्र होकर प्रेम के महाभाव में एकरस हो जाते हैं। दोनों प्रकार के भावों की समष्टि से महोल्लास युक्त चित्त का जो महाभाव प्रकट होता है, वही परमानन्द है। इन्हीं आठों भावों की समष्टि ही गुणशक्ति और स्वरूपशक्ति का संयोग है, यही प्रियावत भाव की गुरु हैं।

इस प्रकार निम्बार्क का यह मत है कि गुरु के शरणापन्न होकर आत्मा को आत्मीय श्रीकृष्ण, गोविन्द में समर्पण करके सायुज्य रूप कलीं भाव को प्राप्त करना ही रहस्यमय ब्रह्मविद्या की क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति रूपी संयुक्त भक्तिमय उपासना का तात्पर्य है। रामानुज दास्य भाव की दैन्ययुक्त शरणापत्ति से कृपा की आकांक्षा करते हैं। मध्वाचार्य सख्यभाव के प्रीतियुक्त से आनन्द की अभिलाषा तथा वल्लभाचार्य वात्सल्य भाव के स्नेहयुक्त सामीप्य से पोषण की लालसा रखते हैं। परन्तु निम्बार्क के दर्शन में ये चारों भाव एक साथ सम्मिलित किये गये हैं।

वल्लभाचार्य का भक्ति सिद्धान्त

वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को शुद्धाद्वैत कहते हैं । व्यावहारिक दृष्टि से इसे पुष्टिमार्ग कहा जाता है । ये पुष्टि अथवा भगवदनुग्रह को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। वल्लभाचार्य ने अपनी भक्ति-पद्धति में साधन व साध्य दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश किया है । साधन भक्ति के लिये ये श्रीमद्भागवत् में वर्णित नवधा भक्ति को स्वीकार करते हैंजैसा कि अन्य वैष्णवाचार्यों ने स्वीकार किया है तथा साध्य-भक्ति केवल भगवान् के अनुग्रह से ही प्राप्त होती है । पुष्टिमार्गीय भक्त का उद्देश्य केवल श्रीकृष्ण के प्रति निष्काम प्रेम करना है । वल्लभमत में भगवान् के अनुग्रह से ही परा-भक्ति की प्राप्तिसंभव होती है । इसी पराभक्ति को वल्लभाचार्य प्रेमलक्षणा पुष्टि भक्ति कहते हैं ।[१६] वल्लभ की यह मान्यता है कि ईश्वर की सेवा से उसके नाम, लीला आदि के श्रवण, मनन द्वारा पुष्टिमार्गीय भक्त ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करके परमानन्द की प्राप्ति करता है, इसीलिये इसे "भजनानन्द" भी कहते हैं ।[१७] पुष्टि भक्ति में भक्त का चित्त भगवत्प्रेम में रम जाता है । परा भक्ति को प्राप्त करने पर भक्त के समस्त पापों का नाश हो जाता है तथा निष्काम भक्ति द्वारा शुद्ध प्रेम की अवस्था में भक्त ईश्वर में लीन हो जाता है ।

वल्लभाचार्य नवधा भक्ति को भगवान् के अनन्य प्रेम की प्राप्ति का साधन मात्र मानते हैं । पराभक्ति की प्राप्ति के लिये इन साधनों की आवश्यकता अनिवार्य मानी गयी है । नवधा भक्ति के अतिरिक्त दसवीं प्रेमलक्षणा भक्ति को वल्लभाचार्य ने मुख्य माना है । इससे भगवान् के स्वरूपानन्द की प्राप्ति संभव हैं ।

वल्लभाचार्य ने भक्ति दो प्रकार की मानी है –

मर्यादा भक्ति - यह भक्ति साधन सापेक्ष होती है । इस भक्ति में साधनों का सम्पादन करना, भगवान् के प्रति प्रेम अथवा अनुराग के उत्पन्न होने तक ही आवश्यक माना गया है । साधना के निरन्तर अभ्यास से समस्त पापों का विनाश हो जाता है तथा अनुराग की वृद्धि होती है । इस भक्ति में भक्त को सदैव फल की इच्छा रहती है।

पुष्टि भक्ति - यह साधन निरपेक्ष भक्ति होती है अर्थात् यह भक्ति ईश्वर के अनुग्रह द्वारा स्वतः उत्पन्न होती है । "पुष्टि" शब्द का अर्थ ही भगवान का अनुग्रह है। भगवान श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पोषण या पुष्टि है, जो कि पुष्टिमार्गीय भक्तों के कार्यों का नियामक है ।[१८] यह स्वतन्त्र भक्ति है इसमें साधना का मुख्य आधार प्रेम होता है ! ऐसी भक्ति करने वाले भक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम की नित्य लीला में भाग लेने के अधिकार रखते हैं । पुष्टि भक्ति में लीला की महत्ता को स्वीकार किया गया है। लीला का अर्थ है कि भगवान् जो कि नित्य व आनन्दस्वरूप है वे अपने स्वरूपबल

द्वारा जीवों के देह, इन्द्रियों एवं अन्तःकरण में आनन्द को उत्पन्न करके जीव को अपना ही स्वरूप बना देते हैं अर्थात् साधन और साध्य तथा जीव और ब्रह्म एक दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं । भगवान् की इस लीला का प्रयोजन ही जीव को आनन्दमय बनाना है ।

पुष्टिभक्ति चार प्रकार की मानी गयी है -

प्रवाहपुष्टिभक्ति - यह प्रवाह जीवों की भक्ति होती है । इस भक्ति में जीव इस व्यावहारिक संसार के मोह-माया में पडकर भी ऐसे कार्यों का सम्पादन करते हैं, जिनसे भगवत्प्राप्ति संभव होती है ।

मर्यादापुष्टिभक्ति - इस भक्ति में भक्त सांसारिक विषयों में आसक्ति को त्यागकर इन्द्रियों को वश में करके भगवान् की लीला के श्रवण, मनन और कीर्तन आदि के द्वारा अपने मन को भगवान की ओर लगाते हैं ।

पुष्टिपुष्टिभक्ति - इस प्रकार की भक्ति में भक्त भगवान् का अधिक अनुग्रह प्राप्त करके भक्ति के सहगामी ज्ञान को भी अर्जित करते हैं ।

शुद्धपुष्टिभक्ति - इस भक्ति में भक्त ईश्वर के प्रेम में ही मग्न रहते हैं । ऐसी भक्ति करने वाले भक्त को श्रेष्ठ माना है । भगवान् के अनुग्रह से ही इसकी सिद्धि संभव है । गृह कार्यों का सम्पादन करते रहने पर भी स्वधर्म पालन से विमुख न होकर भगवान् की सेवा, पूजा, ध्यान अनुराग तथा श्रवण आदि के द्वारा भक्ति रूपी बीज और भी पुष्ट हो जाता है । इस प्रकार कभी नष्ट न होने वाले बीज को "दृढ" कहा जाता है ।[१९] इस प्रकार वल्लभाचार्ज ऐसी भक्ति को प्रोत्साहन देते हैं, जिसमें भक्त के समस्त अहंभाव नष्ट हो जाते हैं ।

प्रपत्ति - भक्ति तथा प्रपत्ति दोनों में ही प्रेम का चरमोत्कर्ष होता है । स्वयं को ईश्वर का पूर्णतः आश्रित मानकर निश्चित हो जाना ही प्रपत्ति है । प्रपत्ति का मार्ग शरणागति का है । इस मार्ग में भक्त स्वयं को भगवान के समर्पित कर देता है और समर्पण के बाद बाधाओं एवं क्लेशों का चिन्तन नहीं करता । प्रपत्ति तीन प्रकार की होती है।[२०]

मर्यादिक प्रपत्ति - ये जीव द्वारा भगवत् स्वीकार्य प्रपत्ति है । इस प्रकार की प्रपत्ति में भक्त भगवान् को अपना ही समझते हैं । मर्यादिक प्रपत्ति शरणागति का रूप ही है जिसमें भक्त भगवान् को रक्षक रूप में स्वीकार करते हैं ।

पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति - इस प्रपत्ति में भगवान् स्वयं भक्त को स्वीकार करते हैं । इसमें भक्त को पूर्ण रूप से स्वयं को भगवदर्पण करना होता है तथा प्रपन्नों के समस्त कार्य भगवान् ही सम्पन्न करते हैं । प्रपन्न को किसी प्रकार की चिन्तां नहीं करनी पडती है।

मिश्र प्रपत्ति – मर्यादिक प्रपत्ति तथा पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति के सम्मिश्रण से होने वाली प्रपत्ति, मिश्र प्रपत्ति कहलाती है ।[२१] मिश्र प्रपत्ति में भगवान तथा प्रपन्नों को स्वधर्मों का परित्याग करके एक-दूसरे को स्वीकार करना होता है ।

इस प्रकार भक्ति एवं प्रपत्ति दोनों में ही ईश्वरीय अनुग्रह तथा प्रेम का प्रकर्ष होता है। इन दोनों में प्रपन्न, भक्त से अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि जहाँ भक्त में अधिकार की भावना बनी रहती है, वहीं प्रपन्न में इस भावना का नाश हो जाता है, वह ईश्वर पर भी अपना अधिकार नहीं मानता अपितु स्वयं पर ईश्वर का ही एकमात्र अधिकार मानता है । अत: यह माना जा सकता है कि वैष्णवाचार्य भक्ति के साथ ईश्वरीय अनुग्रह को अपरिहार्य बतलाते हैं । यह अनुग्रह ईश्वर ही अहेतुकी भक्ति या अतिशय अनुराग से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

३२, महावीर कॉलोनी
रातानाडा, जोधपुर (राज.)

ममता भाटी

टिपण्णियाँ

१. ज्ञान विशेष भूतयोर्भक्ति प्रपत्त्योः । यतीन्द्रमतदीपिका पृ. १३७
२. भारतीय दर्शन, ले. डा. नन्द किशोर देवराज पृ.५८८
३. यतीन्द्रमतदीपिका, पृ. १३९
४. श्रीभाष्य १/२/२३
५. वेदार्थ संग्रह पृ. ५३
६. कर्मनिर्णय पृ. १६६
७. यदैव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवतरं: भवति – कर्मनिर्णय ।
८. अनुव्याख्यान् पृ. ४०
९. श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८
१०. वेदान्त कामधेनु पृ. २७
११. कामस्त्यागस्तपस्मृत – वेदान्त कामधेनु पृ. ३०
१२. मूर्खो देहाधहं बुद्धिः – वेदान्त कामधेनु पृ. ३०
१३. ब्रह्मसूत्र निम्बकाचार्यकृत ।
१४. भागवत ११/२०/६, ७, ८
१५. वेदान्त कामधेनु पृ. ३८

१६. "भक्ति : परा प्रेमलक्षणा ।" सुबोधिनी श्रीमद्भागवत् ११/२/४२
१७. अणुभाष्य, ब्रह्मसूत्र ४/४/९
१८. सिद्धान्त मुक्तावली षोडशग्रन्था, वल्लभाचार्य श्लोक १८
१९. भक्तिवर्द्धिनी, षोडशग्रन्था श्लोक ४
२०. "वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त" - डॉ. श्रीमती राधारानी सुखबल पृ. १७४
२१. भक्ति तथा प्रपत्ति का स्वरूपगतभेद, रमानाथ शास्त्री पृ. २२-२६

संत का लक्ष्यार्थ

किसी शब्द के वाच्यार्थ को समझे बिना उसके द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्यार्थ को समझना सहज नहीं है । विवेकी ही उस शब्द के गहन अर्थ की खोज करने में समर्थ हो सकता है । जिस सन्दर्भ में वाच्यार्थ अपर्याप्त हो, वहाँ लक्ष्यार्थ ग्रहण करना ही अभीष्ट है । परम्परया 'संत' को 'निरगुनिया' कहा गया है । साधारण बोलचाल में वेश-भूषा के आधार पर भक्त या साधु को 'संत' कह दिया जाता है । प्रतिभा की चक्षु से बाहरी आवरण में छिपे 'संतपन' का दीदार करने में जो समर्थ है, वही सन्त का मर्म (लक्ष्यार्थ) समझ सकता है ।

'संत' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'सत्' या 'शुद्धसत्ता' । भारतीय चिन्तन परम्परा में इसी शुद्धसत्ता को 'ब्रह्म' कहा गया है । यही 'सत्यस्य सत्यं' है । उपनिषद्कार उस पुरुष (संत) को भी 'संत' या 'ब्रह्म' समझते हैं जो ब्रह्मवेत्ता है : "अस्ति ब्रह्मेतिचेद्वेद संतमेनं विदुर्बुधा:" — (तैत्तिरीय उपनिषद् ६-१) । यह पाहुड़ दोहा भी इसी सत्य को उद्घाटित करता है : "संतु णिरंजणु तहिं बसइ, णिम्मलु होइ गवेसु" । अर्थात् निरंजन (परमतत्त्व) का साक्षात्कारी पुरुष ही संत है। गरीबदास जी की बानी है: "साईं सरीखे संत है, या मे मीन न मेख ।" पलटू साहब का हृदयगत उद्गार है: "संत औ राम कौ एक कै जानै, दूसरा भेद ना तनिक आनै।" गोस्वामी तुलसीदास की स्पष्ट मान्यता है । "जानेसु संत अनन्त समाना"-(रामचरितमानस-उत्तरकाण्ड) । गीता में भगवान् कृष्ण कहते हैं कि वह भक्त मुझमें मिल जाता है, जो मेरे सभी प्राणियों के प्रति निर्बैरभाव रखता है : "निर्वैर: सर्वभूतेषु य: स मामेति पाण्डव —" (गीता -११-५५) । कबीर की सहज बानी है : "निरबैरी निहकामता साईं सेती नेहि । विषया सूं न्यारा रहै संतनि को अंग एहि।।"-(कबीर ग्रन्थावली) इस दृष्टि से संत और साईं में भेद नहीं है । ऐसा ब्रह्मनिष्ठ संत स्वभाव से साधुभाव, सुहृदभाव और निष्कामभाव से परमार्थी होता है । संत समदर्शी होता है और निरन्तर लोक-हित में निरत रहता है । 'समदरसी इच्छा कछु नहीं' और 'सर्वभूत हिते रता:' एतदर्थ साक्ष्य हैं । शुद्ध सत्ता (ब्रह्म) का निहितार्थ ही है 'अखण्ड विस्तार' । 'अहंभाव' का घेरा टूट जाने के बाद मनुष्य स्वार्थ और वासना से ऊपर उठकर 'वयंभाव' में आ जाता है । 'वयंभाव' जीवन को सब ओर से

स्पर्श करता है। 'वयंभाव' से सराबोर व्यक्ति फिर व्यक्ति नहीं रह जाता। वह तरल होकर पूरे ब्रह्माण्ड में फैल जाता है। धरती पर कुछ भी तुच्छ या अपवित्र नहीं दिखायी देता। विशालता, शिवता और सुन्दरता पर क्षुद्र, अशिव और विरूप का दावा प्रमाणित करके उन्हें विशाल, शिव और सुन्दर बना देने की उसमें अपूर्व क्षमता होती है। जैसे विष में रासायनिक परिवर्तन करके उसे अमृतत्व प्रदान करने का सामर्थ्य वैद्य में होता है वैसे दुर्जन को सज्जन बनाने की विलक्षण शक्ति सन्त में होती है। संत के प्रभाव से डाकू को परमार्थी और व्यभिचारी को सदाचारी बनते हुए देखा गया है। संत का शरीर, बुद्धि, चिन्तन सब दूसरों के लिए होता है। संत और संसारी में यही अन्तर है कि संत समाज से बहुत कम लेता है और उसे सब कुछ देता है, किन्तु संसारी निरन्तर समाज का दोहन करता रहता है। अन्त में यही निष्कर्ष सुसंगत लगता है 'वयंभाव' ही 'ब्रह्मभाव' है और 'ब्रह्मभाव' ही 'संतभाव' है।

हमारे भीतर का निर्मलत्व सत्य की पूरी पहचान के अनन्तर ही निखरता है। जब तक नदी समुद्र में जाकर प्रवृष्ट नहीं हो जाती तब तक इसमें बेचैनी बनी रहती है। समुद्र के साथ मिलन होते ही उसकी 'पुकार' मिट जाती है और वह शान्त हो जाती है। आत्मसाक्षात्कार के बाद मनुष्य की भी यही दशा होती है। उसका व्यक्तिगत अस्तित्व जब सर्वगत अस्तित्व में मिल जाता है तब वह संत होकर शान्त हो जाता है। 'धम्मपद' में 'संत' शब्द शान्त के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है : "संतं अस्स मनं होति"— (अर्हन्तबग्ग, गाथा - ७)। गुरुनानक जी की बानी है : "नानक हुकुमै जो बुझै त हंउ मैं कहै न कोइ"— (जपुजी द्वंद - २)। अर्थात् उस हुकुम को जो भली भांति समझ ले तो उसे अपने को भिन्न सिद्ध करने वाला अहंभाव का बोध तक न होगा। प्रार्थना का असली मन्तव्य परमात्मा से किसी प्रकार की याचना नहीं है, अपितु बिना किसी प्रतिदान के अद्वितीय सत्ता के प्रति अपना भक्तिभाव प्रदर्शित करते हुए उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करना तथा उसके उदात्त गुणों का निरन्तर स्मरण करते हुए अपनी मानसिक, नैतिक एवं अध्यात्मिक प्रवृत्तियों का परिष्करण कर उन्हें पूर्णता प्रदान करना है। इसीलिए संत रविदास ने संत को 'सोहागिन' (निश्छलभाव से पतिमय (ईश्वरमय) हो जाना) और असंत को 'दुहागिन' (पति (ईश्वर) के प्रति एक निष्ठ प्रेम न रखना) कहा है। ईश्वरार्पण तभी सम्भव है जब 'अहं' का निर्गलन हो जाय, मन के विकार दूर हो जाय और सभी प्राणियों के प्रति समभाव उत्पन्न हो जाय। दादू का मानना है : "आप्रा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार। निर्बैरी सब जीव सौं, दादू यह मत सार" ॥(दादू दयाल

की बानी, पृ.३२२) । प्रभु के प्रीत्यर्थ समर्पित सभी कर्मों में आनन्द ही आनन्द है : "उदिम में आनन्द है, जो साईं सेती होई" । खुदी को खोना ही खुदा हो जाना है। जब तक बन्दा और खुदा के मध्य खुदी (अहं) का परदा है तब खुदा की दीदार नहीं : "रही पर्दे में अब वह न पर्दा नशीं, जो पर्दा बीच में था सो अब न रहा ।" प्रेम निश्छल होना चाहिए, वह चाहे संसारी प्रेम हो या परमार्थी प्रेम । 'हीर-रांझा' का निश्छल प्रेम सर्वविदित है : "रांझा रांझा करदी नी मैं आपै रांझा होई ।" ईश्वर के प्रति सच्चे प्रेम को दादू इसी रूप में व्यक्त करते हैं : "सब कुछ तेरा तूं है मेरा, यह दादू का ज्ञान" । यह सब बिना सत्संग के सम्भव नहीं है : "कर सतसंग खुले हिय नैना-" (प्रेम बानी-भाग-३) । हृदय का नेत्र खुल जाने के बाद 'प्रेयसि-प्रियतम' का अभिनय महादेवी वर्मा को भी हास्यास्पद लगता है : "प्रेयसि-प्रियतम का अभिनय क्या? तुम मुझमें प्रिय फिर परिचय क्या ?"

अनिन्द्य परिचय ही संत का लक्षण है : "अनवद्यः परिचयः " । अर्थात् संत वही है, जिसके नजदीक जितना अधिक जाइए, उसके प्रति उतना अधिक प्रेम बढ़ता जाय । ढोंगी संत दूर से भले ही आकर्षक लगता हों किन्तु उसके नजदीक जाने पर वह निन्दा का पात्र बन जाता है । संत सदैव अनुकूल प्रवृत्ति का होता है : "मिलहि जो संत होई अनुकूला" । जो प्रतिकूल है, वह संत नहीं है । यह मनुष्य की पात्रता पर निर्भर है कि वह उसके प्रति कितना अनुकूल है । ढँकी हुई वस्तु को सूर्य कैसे आलोकित कर सकता है ? यदि वह वस्तु प्रकाशित नहीं हो पा रही है तो इसमें सूर्य का कोई दोष नहीं है । दोष तो वास्तव में पात्र की पात्रता में है । मनुष्य का अन्तःकरण एक घड़ा है और सतगुरू की कृपा सूर्य का प्रकाश । वासनाओं से आच्छादित अन्तःकरण पर विद्या का प्रकाश न पड़ने से चित्त में विक्षेप उत्पन्न होता है । कामना तो साधना को खण्डित करने का अवसर खोजती ही रहती है । इसलिए अपने भीतर खोजो कि मल कहाँ पड़ा है ? इस बात में ऊर्जा मत गँवाओ की यह विक्षेप या मल कैसे आया ? इसे तत्काल दूर करने का उपाय सोचो और इस दोष का कारण स्वयं को मानो । खजाना तो अपने भीतर छिपा है । जरूरत है अन्तःकरण से वासना को हटाने की । सूर्य की तरह संत का प्रकाश तो चारों तरफ व्याप्त है । इसके लिए अन्यत्र भटकने की जरूरत नहीं है । संत की कृपा से भीतर का कल्मष साफ करो, यही जीवन तब सुस्वाद बन जायेगा । भीतर का पट खोलो और प्रभु का दर्शन करो । तब लगने लगेगा कि प्रभु से प्रथक् तो कुछ है ही नहीं । इसी 'प्रभुंभाव' से सभी प्राणियों की सेवा करने का भाव ही 'संतभाव' है । मन में कामना का कैंसर है, जिसका वैद्य केवल संत है । पहले तो अपने इस रोग को कबूल करो,

तभी वह उस रोग से तुम्हें मुक्त करेगा । रावण ने अपने रोग को कबूल ही नहीं किया, अत: सुषेण जैसा वैद्य भी उसका इलाज न कर सका ।

संत गृहस्थ हो या विरागी, सब के प्रति प्रेम या उपकारभाव प्रदर्शित करते रहना उसकी सहज प्रकृति है । जैसे सूर्य चाहकर भी अन्धकार नहीं विखेर सकता वैसे संत अनजाने में भी बुरा कर्म नहीं कर सकता । प्रकाश की किरणें विकीर्णित करना सूर्य का स्वभाव है और लोकसंग्रह के भाव से सत्कर्म करते रहना संत का स्वभाव है : "आपा खोजे त्रिभुवन सूझे, अन्धकार मिटि जाई"- मलूकदास । अपने सहज व सात्त्विक जीवन में स्तुति- निन्दा या मानापमान की परवाह किये बिना वह अपने शुद्ध आचरण द्वारा सब को सुख व शान्ति पहुँचाकर ही स्वयं आनन्द का अनुभव करता है । यही कृतकृत्यता या इतिकर्तव्यता का आनन्द है । गोस्वामी तुलसीदास के विचार में संत का चरित्र कपास के चरित्र के समान शुभ है, जिसका फल नीरस, विशद और गुणमय है । कपास की डोडी नीरस है और विषयासक्ति न होने से संत भी नीरस है । कपास उज्ज्वल होता है और संत के भीतर विवेक का प्रकाश होता है । कपास में गुण (तन्तु) हैं और संत सद्गुणों की खानि है । जैसे कपास लोढ़े जाने, काते जाने और सुई के छिद्र में अपना तन देकर बुने जाने का कष्ट सहकर भी वस्त्र के रूप में परिणत होकर दूसरों के गोपनीय स्थानों को ढकता वैसे संत भी दुख सहकर दूसरों के दोषों को ढकते हुए उन्हें सन्मार्ग पर अग्रेसर करता है और विश्ववंद्य बन जाता है :

साधु चरित सुम चरित कपासू । निरस बिसद गुनमय फल जासू ।।
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा । बंदनीय जे हिं जग जस पावा ।। —
(रामचरितमानस - बालकाण्ड-दोहा-२)

संत मलूकदास ने भी संत के हृदय की विशालता की ओर संकेत किया है

जो दुखिया संसार में खोवो तिनका दुक्ख ।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख् ।। मलूकदासजीकी बानी, पृ. ३७

संत कभी भी अधीर, आतुर या अशांत नहीं होता है । उस पर विषय-बयारका प्रभाव नहीं पड़ता है । तृष्णा को जर्जर करके प्रफुल्लित मन से वह निरन्तर गोविन्द का गुणगान करता है । वह न हो परनिन्दक है और न ही कटुभाषी । वह समदर्शी है, शीतल है और दुविधा से मुक्त है ।उसके हृदय में 'राम-नाम' का धन है, जिसके न होने से सभी संसारी मनुष्य निर्धन हैं वह मानापमान से ऊपर 'हर्ष-विषाद-विखेरे' है । महात्मा तुलसीदास ने संत के लक्षणों की विशद चर्चा यों की है :

विषय अलंपट सील गुनाकर । परदुख दुखसुख सुख देखे पर ॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया । मन बच क्रम मम भगति अमाया ॥
सबहिं मानप्रद आप अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ॥
बिगत काम मम नाम परायन सांतिनिरतिबिनति मुदितायन ॥
सम दम नियम-नीति नहीं डोलहिं । पुरुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
ए सब लच्छन बसहि जासु उर । जानेहु तात संत संतत फुर ॥
(रामचरितमानस, उत्तरकान्ड - दोहा ३८.)

तुलसी कृत 'विनयपत्रिका' में 'संत-स्वभाव' का सहज विवेचन किया गया है :

कबहुक हौं येहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ कृपाल - कृपा ते, संत सुभाउ गहौंगो ॥ १ ॥
जथा लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित निरत निरन्तर मन बच, नेम नीति निबहौंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि, ते हि पावकन दहौंगो ।
बिगत मानसम सीतल मन , पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥३॥
परिहरि जनित देह चिन्ता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसीदास प्रभु मेहि पथ रहि अविरल अरि भगति लहौंगो ।४॥
(विनयपत्रिका, पद-१७२)

कबीर के विचार में संत और पारस में कोई साम्य नहीं है । पारस के प्रभाव की तुलना में संत का प्रभाव व्यापक है । पारस लोहा को तो सोना बना सकता है, किन्तु उसे अपने में मिला नहीं सकता; जबकि संत का संस्पर्श पाकर मनुष्य संतमय हो जाता है : "पारस में और संत में, बडों अन्तरो जान ।
वह लोहा कंचन करे, वह कर ले आप समान ॥"

यहाँ मनीषी तुलसी का साम्यानुमान तो कमाल कर गया है :

"संत हृदय नवनीत समाना । कहा कबिन्ह पर कहइन जाना ॥
निज परिताप द्रवहि नवनीता । परदुख द्रवहि सुसंत पुनीता ॥"

ज्ञानी 'सदसद् विवेक' में दक्ष पुरुष को 'संत' कहता है । भक्त 'परम रहस्य' से पूर्ण परिचित को 'संत' मानता है और कर्मयोगी 'अलौकिक रहनि' में 'संतपन' का दीदार करता है । कालिदास ने 'संत' शब्द का प्रयोग 'विवेकी या तत्त्वज्ञ' के अर्थ में ही किया है । "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेव बुद्धिः" — (मालविकाग्निमित्र - १/२) । यानी विवेकी संत अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करता है

और मूढ संसारी लोग उस मार्ग पर चलकर अपना कल्याण करते हैं । जब तक चित्त शान्त न होगा तब तक किसी भी प्रकार की सिद्धि संभव न होगी : "संक्षुब्धे चित्तरत्नेतु नैव सिद्धिः कदाचन "– (प्रज्ञोपाय-विनिश्चय - सिद्धि :- श्लोक ४०) । यही बुद्ध का 'बोधिचित' है और संत की विलक्षण सम्पत्ति भी। पुण्यात्मा संत ही भक्तों का तीर्थ है : "स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः–" (भागवत स्कन्ध -१/१६ श्लोक ८) भर्तुहरि ने परोपकार। को 'संत' कहा है : "सन्तः स्वयं परहिते विहिताभियोगाः"। महाभारत में सदाचार को संत का लक्षण बताया गया है: "सन्तश्चाचारलक्षणाः" । इस प्रकार 'संत - साधना' में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग का सामरस्य है । यहीं से संतों को प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग के मध्य सहजमार्ग मिल जाता है ।

सभी पंथ अच्छे हैं और संतों की स्वानुभूति से सत्यापित हैं । तुम्हें जो पंथ अच्छा लगे, उसे बेहिचक स्वीकार करो । यदि इससे तुम्हें परमात्मलाभ होता है, तो अग्रिम बधाई । जिसके जो भावे, उसको वह अपनावे । आखिर सभी पंथ परमार्थ की ओर ही तो ले जाते हैं और अध्यात्मिक जीवन जीने की कला में निष्णात् करते हैं । भव-सागर में कमलपत्रवत् रहना ही अध्यात्मिक जीवन का मन्तव्य है। 'सन्तपन' का आधार ज्ञान, भक्ति, कर्म से कोई भी हो सकता है । अन्तर केवल इतना है कि ज्ञानमयी साधना तर्कप्रधान है, भक्तिमयी साधना श्रद्धाप्रधान है और कर्ममयी साधना भावनाप्रधान है । जो चित्त संकल्पों के झंझावात से उन्मत्त है, वह ज्ञानमयी साधना से शान्त हो जाता है । शान्त चित्त ही मोक्ष का द्वार खोलता है। भक्ति रागहीन अनुरक्ति है । बड़ों के प्रति यही 'श्रद्धा' है, छोटों के प्रति 'स्नेह' और समकक्षके प्रति 'प्रेम' है । ईश्वरार्पित सदाचरण ही कर्ममयी साधना का सर्वस्व है।

अद्वय सत्य की 'स्वानुभूति' 'अपना' होकर संतवाणी में अलग अलग ढंग से अभिव्यक्त होती है । जैसे तरंग जल से अलग नहीं है वैसे वाणी सत्य से अलग नहीं है । चाहे राम कहो या रहीम कहो मतलब तो खुदा की चाह से है । जैसे नाद में मृग मस्त है, बगुला मछली में मस्त है, स्वर्णकार आभूषण में दत्तचित्त है, कामी नारी में निरत है जुआड़ी कौड़ी में खोया है, ऊँट लता में उलझा है, भ्रमर पुहुप-वास में उन्मत्त है, कोयल आम की मंजरी में लिप्त है, हंस मानस में - चातक मेघ में- मछली जल में मगन है वैसे अपनी - अपनी रसमयी स्वानुभूति में संत साईं में मस्त है : "छके रहत दिन - रैन" (कबीरदास) । रसमयी स्वानुभूति के लिए पण्डित होना जरूरी नहीं है । इसके लिए सद्गुरू की कृपा ही पर्याप्त है, क्योंकि वही साधक को पथभ्रष्ट होने से बचाती है । "नानक आपु छोडी गुर माहि समावै" –

(आदिग्रन्थ -५०८) । कबीरदास ने भी इसी सत्य को स्वीकार किया है : "सतगुरतत कह्यों विचार भूल गह्यौ अनुभै विस्तार"- (कबीर ग्रन्थावली, पद ३८६) । इस स्वनुभूति से कायापलट हो सकता है । मनुष्य पाखण्ड या वितण्डा से दूर निश्चल सत्य के साथ एकनिष्ठ होकर संत बन जाता है । फिर तो न वह भेदजन्य द्वेष का शिकार होता है, न बौद्धिक कोलाहल से परेशान होता है और न सम्प्रदायगत उन्माद में हैवान बनता है । वह साधु - चोर सभी में प्रभु की छवि निहारकर उसी के साथ समरस हो जाता है । संत बुल्लेशाह की यही मान्यता है :

"दुई दूर करो कोई सोर नहीं, हिन्दू तुरक कोई होर नहीं ।
सब साधु लखो कोई चोर नहीं, घट-घट में आप समाया है ।।"

संतों की कोई जाति या सम्प्रदाय नहीं है । 'संतमत' में जातिगत भिन्नता की सदैव उपेक्षा की गयी है और इन्सानियत को सर्वोच्च दर्जा दिया गया है । वैष्णव सहजिया लोगों ने भी 'मानव सत्य' को ही सर्वोपरि माना है : "सबार ऊपरे मानुष सत्य, ताहार ऊपरे नाहीं ।" जो बाहरी जंजालों में फंसा है वह संत नहीं है । बाह्य प्रपञ्चों को भ्रम मानकर मूलसत्य तक पहुँचने वाला सिद्ध पुरुष ही संत है : "जाके अन्तर ब्रह्म प्रतीत"— (कल्याण-'संतअंक', पृ.५१४) । यही बात जगजीवन साहब की बानी में भी है : "रहिये जगत् जगत् से - न्यारे, दृढ़ है सूरति गहिये" । अर्थात् संत वही है, जो संसार में रहते हुए भी व्यर्थ के विवादों में नहीं पड़ता है । मालाजपना, बांग देना, भभूत लगाना, तिलक देना, गुदड़ी पहना, त्रिशूल या संसा धारण करना, धुनी रमाना आदि सन्तपन के आवरण हैं, जिनके भीतर सत्य छिपा है । सच्चा संत वही है, जो आवरण के भीतर छिपे सत्य का दीदार कर लेता है । सत्य का दीदार करना ही साईं हो जाना है । संत मलूकदास की बानी है :

"माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम ।
सुमिरन मेरा हर करै, मैं पाया विसराम ।। "

(दादूदयाल की बाणी, पृ.३२) ।

पुनश्च, "सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय ।
ओठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय ।। (वही, पृ. ३६) ।

हजरत ईसा को आश्चर्य है कि ईंट - पत्थर के मन्दिर को लोग पवित्र रखते हैं और शरीर रूपी मन्दिर को गन्दा करते रहते हैं । आखिर खुदा का दीदार कैसे होगा? शरीर तो जिन्दा खुदा का मन्दिर है, जहाँ से 'ज्ञानरत्न' प्रकट होता है : "हरि मंदरु एहु सरीरु है, गिआनी रतनि परगटु, होई"— (आदि ग्रन्थ-१३४६) । शब्द या नाम को अलग - अलग कौमों, मज़हबों और मुल्कों में अलग-अलग लफ्जों द्वारा

समझाने की कोशिश की गयी है । गुरुनानक इसे 'गुरुवाणी' या 'हुकम' कहते हैं। ऋषियों ने इसे 'राम-नाम' या 'दिव्यध्वनि' कहा है । फकीरों ने इसे 'बांगे-आसमानी' या 'कलामे इलाही' अथवा 'निदाए-सुल्तानी' से याद किया है । ईसा 'लोगास' और चीनी महात्मा इसे 'ताओ' कहते हैं । हमें लफ्जों के वाद-विवाद में न पड़कर शरीर के अन्दर उस शब्द या नाम की खोज करनी चाहिए । विश्वभर के महात्माओं ने 'सन्तपन' को ही राजा-रंक या पण्डित - मूर्ख के परखने की कसौटी माना है । असंत ही मूर्ख है और रंक भी । महात्मा कर्मकाण्ड से ऊपर उठकर सर्वत्र भगवान की छवि देखता है । वह जानता है कि जल में अनेक जीव भरे हैं, फूलों की सुगन्ध भौरों ने ले ली है और दूध को बछड़े ने जूठा कर दिया है । अतः ऐसे जल,माला और दूध से पूजा करना प्रभु का अपमान है । भीतर से सधा संत ऐसी भूल नहीं करता है और बाह्याडंबर एवं कृत्रिम भेद-भाव से ऊपर उठकर समदर्शी साईं बन जाता है ।

दर्शन विभाग
गनपत सहाय पी. जी. कॉलेज,
सुलतानपूर (उ. प्र.)

दुर्गादत्त पाण्डे

❋

ईसाई धर्म में मुक्ति की अवधारणा

बाइबल की इस प्रसिद्ध कथा से हम सभी परिचित हैं कि ईश्वर ने मानव को अपना प्रतिरूप बनाकर अदन के बाग में रखा था किन्तु उसने वर्जित फल खाकर ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन किया, जिसके दंडस्वरूप उसका अदन के स्वर्गोपम बाग से निष्कासन हुआ---और फिर अनेकानेक प्रकार के कष्ट तथा मृत्यु उसके पाप के फल बने। आदम का यह पाप उसकी मृत्यु के साथ ही समाप्त नहीं हुआ, वरन् उसके वंशजों को अर्थात् समस्त मानव जाति को मानों आनुवांशिकता के द्वारा मिलते गया। आदम के वंशजों ने इस पाप को दूर करना तो अलग, और भी अनेकानेक पाप करना प्रारंभ कर दिया। तब ईश्वर ने मानव को सही राह दिखाने के लिये अनेकानेक नबी भेजे। किन्तु मानव न सुधरा। अंततः ईश्वर ने मानव को पाप से मुक्त करने हेतु अपने इकलौते पुत्र यीशु को भेजने का निर्णय लिया---और इस तरह यीशु का जन्म हुआ। बडे होने पर यीशु ने ईश्वर अर्थात् अपने पिता-परमेश्वर का संदेश लोगों को सुनाना प्रारंभ किया --- पर रूढिवादी यहूदी शास्त्रियों ने उनका विरोध किया। अंततः क्रूस पर चढकर उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।

किन्तु कहानी यहीं खतम नहीं हुई। जैसा कि यीशु ने अपने शिष्यों से कह रखा था मृत्यु के तीसरे दिन वे जी उठे। इसके बाद चालीस दिन तक वे अपने शिष्यों से मिलते रहे। चालीसवें दिन यह कहते हुए वे स्वर्ग चले गये कि मैं फिर आऊँगा।

ईसाई धर्म में यीशु से जुडी सारी घटनाएँ अर्थात् उनका जन्म, मृत्यु, मृत्यु के बाद पुनः जी उठना (पुनरुत्थान) तथा पुनः आने का वायदा (पुनरागमन) ये सब अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ईसाई धर्म में मुक्ति का प्रत्यय वस्तुतः इन सभी प्रत्ययों पर आधारित है।

मुक्ति अर्थात् मृत्यु सहित समस्त दुखों से छुटकारे की आकांक्षा मानव मन में प्रारंभिक काल से रही है। इस हेतु मानव ने बराबर दुखों के कारण पर चिंतन किया है। ईसाई धर्म के अनुसार मानव के दुखों का मूल कारण वह पाप है जो आदि-मानव अर्थात् आदम ने किया था। संत पॉल लिखते हैं "इस पाप के कारण मृत्यु ने आदम से लेकर मूसा तक उन लोगों पर भी शासन किया जिन्होंने ईश्वर की आज्ञा

के उल्लंघन का पाप नहीं किया था।[१]"

जहाँ तक यीशु के क्रूस पर प्राण-त्याग की बात है, ईसाई धर्म में माना जाता है कि यीशु ने एक सामान्य मनुष्य के समान ही वेंदना सहते हुये क्रूस पर प्राण त्यागे थे। किन्तु उनकी यह वेदना उनके किसी पाप के कारण नहीं थी। वे तो एक निर्दोष मेमने के समान पाप-रहित थे ---दरअसल उन्होंने यह दु:ख आदम के पाप के प्रायश्चित-स्वरूप किया था, ताकि आगे से मानव-जाति उस पाप से मुक्त हो सके। संत योहन के अनुसार "क्रूस पर ईसा की मौत पवित्र मेमने का वह आत्मबलिदान है जो समस्त मानवजाति के पाप-विमोचन के लिये दिया गया है।[२] इसी तरह संत पॉल कहते हैं "यीशु को परमेश्वर ने मनुष्यों के पाप-निवारण का साधन बनाया। यह पाप-निवारण यीशु की मृत्यु के द्वारा संपन्न हुआ।"[३]

उल्लेखनीय है कि यहूदी धर्म में परमेश्वर को प्रसन्न करने हेतु अपने पाप के प्रायश्चित स्वरूप निर्दोष मेमने की बलि देने की प्रथा है। ईसा के अनुयायियों ने यह प्रथा समाप्त कर दी, क्योंकि वे यह मानते हैं कि यीशु, जो कि निर्दोष थे, ने मानव-जाति के पाप-विमोचन हेतु स्वयं की बलि दी है, अत: अब किसी मेमने की बलि आवश्यक नहीं है।[४] ईसा की यह बलि प्रतिनिधि-मूलक बलि कही जाती है।[५]

ईसाई धर्म के अनुसार ईसा ने अपनी बलि देकर इस तरह मानव-मुक्ति हेतु मध्यस्थता की है। एक याजक के समान उन्होंने मानव-मुक्ति के लिये पिता-परमेश्वर को अपना जीवन-दान दिया है। उन्होंने अपने जीवन बलिदान द्वारा परमेश्वर एवम् मानव के बीच एकता स्थापित की है। पॉल टिलिच के अनुसार-He represents God towards man and man towards God.[६]

उल्लेखनीय है कि ईसाई धर्म में यीशु का यह दु:खभोग अनुकरणीय माना जाता है। इस तरह यहाँ दुखों से मुक्ति हेतु दुखभोग आवश्यक है।[७] यीशु कहते थे "यदि कोई मेरा अनुयायी बनना चाहता है तो अपने आपको त्याग दे और अपना क्रूस उठाकर मेरे पीछे आये क्योंकि जो अपने प्राण सुरक्षित रखना चाहता है वह उसे खो देगा और ज़ो मेरे पीछे अपने प्राण खोएगा वह उसे सुरक्षित रखेगा। यीशु के दु:खभोग का अनुसरण करने की शिक्षा देते हुए संत याकूब लिखते हैं "मसीह ने शरीर में कष्ट सहे, अत: तुम भी इस भावना को शस्त्र बनाओं कि जो शरीर में कष्ट भोगता है वह पाप से सम्बन्ध तोड लेता है।[८] उल्लेखनीय है कि यह दु:खोपभोग अपने किसी पाप के कारण नहीं वरन्, यीशु के निमित्त, ईश्वर के निमित्त होना आवश्यक है। अर्थात् यीशु के वचनों का अनुकरण करते हुए हमें दु:ख, कष्ट उठाना पडे तो सहर्ष उठाना चाहिये।[९] यीशु की शिक्षा के प्रारंभिक प्रसारकर्ता, जिन्हें

'प्रेरित' कहा जाता है, की जीवनियों से पता चलता है कि उन्होंने अपने उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपार कष्ट उठाये थे, यहाँ तक कि यीशु के समान मौत को भी अंगीकार किया था।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जब ईसा ने अपने बलिदान द्वारा मानव को आदि-पाप से मुक्त कर लिया तब इस पृथ्वी पर मृत्यु का राज्य क्यों बना हुआ है? उत्तर में ईसाई धर्म कहता है कि ईसा का दुखोपभोग उन्हीं लोगों के लिये हैं जिन्होंने उन्हें ईश्वर का पुत्र स्वीकार किया, जिन्होंने ईसा में बपतिस्मा लिया । किन्तु इन सबका तात्पर्य मात्र ईसाई होना ही नहीं है । यदि ऐसा होता तो समस्त ईसाई जगत् कब का मोक्ष प्राप्त कर चुका होता । ईसा पर विश्वास रखने का मतलब है, उनके वचनों का अनुकरण करना, जो उन्होंने अपने जीवन के अंतिम तीन वर्षों में घूम-घूम कर दिये थे। इन उपदेशों में प्रमुख है, परमेश्वर से और परमेश्वर की संतान से अर्थात् मनुष्य मात्र से प्रेम । ईसाई धर्म में प्रेम को सर्वोपरि महत्व दिया गया है ।[१०] उल्लेखनीय है कि यहूदी धर्म में अपने पडोसी को अपने ही समान प्रेम करने की आज्ञा दी गई है। ईसा भी इसे स्वीकारते हैं, किन्तु उनके लिये पडोसी केवल वह नहीं जो बगल के घर में रहता हो, वरन् प्रत्येक आवश्यकता-ग्रस्त मानव है, चाहे वह किसी भी जाति का या देश का रहनेवाला क्यों न हो ।[११] प्रेम के समान 'त्याग' पर भी ईसाई धर्म में अत्याधिक जोर दिया गया है ।[१२]

ईसाई धर्म में ईसा के अनुकरण करने का अर्थ है उनके समान ज्योति में शामिल होना है । संत योहन लिखते हैं "ईसा का रक्त हमें तभी पापों से मुक्त करता है जब हम उसके ही समान ज्योति में सहभागी होते हैं ।"[१३] किन्तु ईसा की ज्योति में सहभागी होना कोई सरल काम नहीं है । इसके लिये हमें अंधकार का त्याग करना होगा । यह अंधकार ही तो है जो हमसे तरह-तरह के पापकर्म करवाता है । अत: ईश्वर की प्राप्ति के लिये यह बहुत जरुरी है कि हम अंधकार का त्याग करें । संत योहन अपने एक पत्र में यीशु का कथन उद्धृत् करते हुए लिखते हैं, 'परमेश्वर ज्योति है और उसमें अंधकार का लेशमात्र भी नहीं है । यदि हम यह कहें कि हमारी उनके साथ सहभागिता है पर हम अंधकार में चले तो हम झूठ बोलते हैं और सत्य का आचरण नहीं करते । किन्तु यदि हम ज्योति में चले जैसे वह ज्योति में है, तो हमारी एक दूसरे में सहभागिता है ।"[१४]

उल्लेखनीय है कि वेदों में भी इसी तरह परम सत्ता ब्रह्म को 'अभयज्योति' कहा गया है ----ऐसी ज्योति जिसका प्रकाश हमें सभी प्रकार के भयों से मुक्त करता है ।

क्रूस पर प्राण देने के तीसरे दिन यीशु का जी उठना अर्थात् 'पुनरुत्थान' का भी ईसाई मुक्ति की अवधारणा से घनिष्ट संबंध है । यहाँ माना जाता है कि इसी पर विश्वास करनेवाले का भी पुनरुत्थान होता है । इसी के साथ दु:खोपभोग करने का ईनाम हमें परमेश्वर के रूप में उनके ही समान पुनरुत्थान के रूप में किया जाता है। संत पॉल लिखते हैं "इस पुनरुत्थान के साथ हमारा भी पुनरुत्थान हुआ है । हम मृत्यु का बपतिस्मा पाने के बाद मसीह के साथ गाड़े गये हैं ताकि जैसे पिता की महिमा से मसीह मृतकों में से जी उठे वैसे ही हम भी नये जीवन के पथ पर चलें। यदि मसीह के समान हमारा उनसे संयोग हुआ है तो उनके द्वारा पुनरुत्थान में भी हमारा संयोग होगा । हमें ज्ञात रहे कि हमारा पुराना स्वभाव उनके साथ क्रूसित हो चुका है जिससे पापमय जीवन अशक्त हो जाए और हम आगे पाप के गुलाम न रहे --- क्योंकि जो मर चुका है वह पाप से मुक्त हो गया है ।[१५]

इसका तात्पर्य यह हुआ कि इसा की शिक्षा को मानकर चलनेवालों का उसके ही समान पुनरुत्थान होता है --- एक नया जीवन उसे मिलता है । इसकी अवश्यकता पर जोर देते हुए संत पॉल लिखते हैं "मसीह का जी उठना ही शुभ संदेश की सार्थकता है । यदि मृतकों का पुनरुत्थान नहीं, तो मसीह भी फिर नहीं जी उठे और यदि मसीह नहीं जी उठे तो हमारा शुभ-संदेश सुनाना व्यर्थ है [१६]---- पुनरुत्थान पर विश्वास हमें भौतिक जीवन से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है । पॉल कहते हैं, " यदि मृतक नहीं जी उठते तो हम खाएँ-पीये अर्थात् मौज-मस्ती करें क्योंकि कल तो मरना ही है ।"[१७]

संत पॉल मृतक से जीवित की उत्पत्ति को एक रूपक के द्वारा भी बतलाते हैं। जैसे अनाज के दाने को बोने पर पहले वह मरता है, तब नया उत्पन्न होता है, उसी तरह शरीर नाशवान स्थिति में बोया जाता है और अविनाशी स्थिति में जी उठता है ----निस्तेज स्थिति में बोया जाता है और अध्यात्मिक स्थिति में जी उठता है ।[१८]

उल्लेखनीय है कि इसी के साथ मरकर फिर उसके साथ पुनर्जीवित होने का यह विश्वास ईसाई धर्म में जीवन-मुक्ति कहा जायेगा । हिन्दू धर्म में इसी तरह पुराने जीवन को त्याग कर नये जीवन को धारण करनेवाले को 'द्विज' अर्थात् द्वितीय जन्म लेने वाला कहा जाता है । यही नूतन जीवन की प्राप्ति है, जिसमें संसार के प्रति, सांसारिक लोगों के प्रति, जीवन-मुक्त का व्यवहार पूर्णत: बदल जाता है । पॉल टिलिच के अनुसार, मनुष्य का स्वयम् से अन्य मनुष्यों से ईश्वर से जो अलगाव होता है वह इस नूतन जीवन से भर जाता है अर्थात् इस पुनर्जीवन में हम स्वयम् से, अन्य लोगों से, और ईश्वर से पुन: युक्त हो जाते हैं । यह नूतन जीवन एक प्रकार का

कायाकल्प है जो हममें आमूल परिवर्तन ला देता है और हम पहले जैसे नहीं रह जाते ।[१९] डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार, ईसाई धर्म में पुनर्जन्म लेने का अर्थ है एक नये प्रकार के जीवन में दीक्षित होना । --- हम जन्म से प्रकृति के शिशु हैं और पुनर्जन्म से ईश्वर के बेटे हैं ।[२०]

ईसाई धर्म में विदेह-मुक्ति की धारणा भी हैं, किन्तु हिन्दु धर्म की विदेह-मुक्ति से यह काफी अलग है । हिन्दू धर्म में देह-त्याग के बाद ही आत्मा विदेह-मुक्ति की प्राप्ति करती है ----वह फिर देह धारण नहीं करती । किन्तु ईसाई धर्म में इस नश्वर देह के त्याग के पश्चात् एक नवीन देह की प्राप्ति का भी विश्वास है जो दिव्य देह है, शाश्वत देह है । किन्तु इसकी प्राप्ति मुक्तात्मा तुरंत नहीं कर लेती । ईसाई धर्म के अनुसार यह चमत्कार न्याय-दिवस पर होगा । न्याय दिवस पर ईसा का इस पृथ्वी पर पुनरागमन होगा, तब वे हर व्यक्ति को उसके कर्मानुसार नई देह और नया स्थान देंगे । यह होगा-पुण्यात्माओं को शाश्वत स्वर्ग तथा पापियों को शाश्वत नरक। यह पापियों की द्वितीय मृत्यु होगी ।[२१] ईसा का यह पुनरागमन अचानक किसी भी दिन हो सकता है । अत: हमें जागरूक रहना है ।[२२] साथ ही हमें धैर्यपूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा करनी है ।[२३] यही मृत्यु पर विजय का क्षण है । संत पॉल कहते हैं हम सबकी मृत्यु नहीं होगी --- केवल रूप परिवर्तन होगा --- मृतक अविनाशी अवस्था में जीवित किये जायेंगे और हमारा रूप-परिवर्तित हो जायेगा । यह अनिवार्य है कि नश्वर शरीर अनश्वर रूप धारण करें और मरणशील काया अमरता प्राप्त करें ।[२४] यही मृत्यु पर विजय है, मुक्ति है ।

ईश्वरीय अनुग्रह :- ईसाई धर्म में मुक्तिकर्ता यीशु माने गये हैं, किन्तु मनुष्यों को मुक्तिकर्ता का यह कृपादान देनेवाला परमेश्वर कहा गया है । इस तरह मुक्ति परमेश्वर के असीम अनुग्रह का फल है । संत पॉल लिखते हैं, जब मनुष्य अपने पापों में डूबा था तब परमेश्वर ने आयोजन किया कि वह ईसा के आत्म-बलिदान के द्वारा उद्धार का मार्ग खोल दें ।[२५] एक अन्य स्थान पर पॉल लिखते हैं, "तुम अपने अपराधों और पापों के कारण मृत थे क्योंकि उस समय तुम्हारा आचरण इस संसार की रीति के अनुसार और दुष्ट आत्मा के अनुसार था । किन्तु परमकृपालु ईश्वर ने हमारे प्रति अपार प्रेम का परिचय दिया और हमें जो अपने अपराधों के कारण मर चुके थे, मसीह के साथ दान दिया । अनुग्रह से ही तुम्हारा उद्धार है ।[२६] यह परमेश्वर का दान है ।"[२७]

इस तरह हम देखते हैं ईसाई धर्म में मनुष्य को मुक्ति कर्म के द्वारा नहीं, ईश्वरीय अनुग्रह के द्वारा प्राप्त होती है । उल्लेखनीय है ईसी तरह हिन्दू संत

विचारकों ने भी मुक्ति हेतु भगवद् अनुग्रह को अत्यन्त आवश्यक बताया है। जैसे, सूरदास कहते हैं "करी गोपाल के सब होंई।
जो आपन पुरुसारथ जानत झूठो है सोई।"

इसी तरह तुलसीदास कहते हैं "माधव असि तुम्हारी यह माया
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहीं जब लगि करहूँ न दाया।"[२८]

अस्तु --- यहाँ प्रश्न उठता है कि उस ईश्वरीय अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये क्या हमें कुछ भी नहीं करना होगा ? क्या एकदम निष्क्रिय बने रहने से यह प्राप्त होगा ? उत्तर में ईसाई धर्म कहता है कि इस हेतु मुक्ति सम्बन्धी निश्चय (तुलनीय-मुमुक्षत्व) और मुक्तिदाता ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास आवश्यक है।[२९] यहाँ विश्वास में ईसामसीह के प्रति आत्मसमर्पण या प्रपत्ति भी निहित है। वस्तुतः इसी विश्वास के द्वारा मनुष्य अपने को मुक्तिदान प्राप्त करने हेतु समुचित रूप से ग्रहणशील बनाता है।[३०] विश्वास के साथ ही यहाँ ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त करने हेतु प्रार्थना पर भी जोर दिया गया है।[३१]

वैसे ईसाई धर्म में धीरता-पूर्वक सत्कर्म करने वाले भी ईश्वर के शाश्वत जीवन के अधिकारी माने गये हैं। साथ ही विश्वास के साथ कर्म करना भी यहाँ आवश्यक बतलाया गया है।[३२] ईसा स्वयम् एक सच्चे कर्मयोगी थे।[३३]

अस्तु -- इस तरह हम देखते हैं कि ईसाई धर्म में मुक्ति जीवितावस्था में भी संभव है जो प्रेम और त्यागमय जीवन का लक्षण है। वस्तुतः यही विदेह-मुक्ति की प्रत्याभूति है जो न्याय-दिवस पर शाश्वत-जीवन के रूप में मिलेगी। इसके लिये ईश्वरीय अनुग्रह आवश्यक है, किन्तु इस अनुग्रह हेतु ईश्वर में विश्वास, आस्था, श्रद्धा, प्रपत्ति, प्रार्थना एवम् शुभ कर्म भी आवश्यक है।

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर दर्शन विभाग,
शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय,
रायपूर (म.प्र.)

डॉ. शोभा निगम

टिपण्णियाँ

१. रोमियों को पत्र (बाइबिल) ५. १२
२. योहन सुसमाचार (बाइबिल) १. २९
३. रोमियों का पत्र (बाइबिल) ३. २५

४. याकूब मसीह, तुलनात्मक धर्म-दर्शन पृ. १४३
५. वही पृ. १३१
६. पॉल टिलिच, 'सिस्टेमेटिक थियोलाजी,' वाल्यूम ३ पृ. १६९
७. फाइस योहन, 'ईसाई दर्शन, इतिहास ओर सिद्धान्त - पृ. ४३,४४
८. मत्ती सुसमाचार (बाइबिल) पृ. १६,२४,२५
९. पतरस का पहला पत्र (बाइबिल) ४,१३,१४
१०. मत्ती सुसमाचार (बाइबिल) १६,२४,२५
तथा - योहन का पहला पत्र (बाइबिल) ४.२०
११. राधाकृष्णन् , प्राच्य धर्म एवम् पाश्चात्य विचार, पृ. १९०
१२. लूका सुसमाचार (बाइबिल) १८,२२,२३
१३. योहन का प्रथम पत्र (बाइबिल) १.७
१४. वही १.५,६
१५. रोमियों को पत्र (बाइबिल) ६.६,६
१६. कुरिंथियों को प्रथम पत्र (बाइबिल) १५.१३,१४
१७. वही १५.३२
१८. वही १५.४२
१९. पॉल टिलिच, सिस्टेमेटिक थियोलाजी' पृ. १६६
२०. राधाकृष्णन् 'प्राच्य धर्म एवम् पाश्चात्य विचार, पृ. १९१
२१. प्रकाशना ग्रंथ (बाइबिल) २०.१४
२२. मत्ती सुसमाचार (बाइबिल) २५. ४२,४४
२३. याकूब का पत्र (बाइबिल) ५. ७, ८
२४. कुरिथियों को पहला पत्र (बाइबिल) १५. ५१,५२
२५. रोमियौ को पत्र (बाइबिल) ५. ६
२६. इफिसियों को पत्र (बाइबिल) २. १,५
२७. वही २. ८
२८. शोभा, लक्ष्मीशंकर निगम,' श्रीमद् वल्लभाचार्य पृ. ६८,६९,७०
२९. रोमियों को पत्र (बाइबिल) २. २२
३०. लक्ष्मी सक्सेना, अस्तित्वाद के प्रमुख विचारक पृ. १२०
३१. याकूब का पत्र (बाइबिल) २.१६,१७
३२. हृदय नारायच मिश्र, तुलनात्मक कर्म पृ. ११४

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के व्यक्तित्व में दार्शनिक अभिव्यक्ति

भारत रत्न बाबा साहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी एक प्रतिभाशाली थे । उन्होंने मानवतावादी मूल्यों की स्थापना के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया । ये विद्वान् अधिवक्ता, विधिवेत्ता, जागरुक लेखक व पत्रकार तो थे ही साथ ही साथ महान् विचारक भी थे । आत्मविश्वास उनमें कूट-कूट कर भरा था । अपने मौलिक चिन्तन और दूरदर्शिता के कारण उन्होंने समाज में विशेष स्थान बना लिया था । वे एक आदर्श राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक, मजदूर नेता, शिक्षक और पत्रकार थे । इस प्रकार बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के व्यक्तित्व में विभिन्न आयाम देखने को मिलते हैं किन्तु मैं मेरे इस शोध-पत्र में बाबासाहेब के व्यक्तित्व में दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करने की कोशिश कर रहा हूँ ।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के दार्शनिक विचार अमूल्य किन्तु उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों से भिन्न हैं, क्योंकि उनकी मान्यताएँ और विचारधाराएँ कुछ विशेष परिस्थितियों की उपज हैं । तात्कालिक परिस्थिति उस प्रकार की थी जिस प्रकार एक अंधेरी रात । अंधेरी रात ही था उनका प्रारम्भिक जीवन जहाँ सूरज की किरण तो आना असंभव थी, मिट्टी के दिये की छोटी सी लौ भी नहीं थी । इतना ही होता तब भी ठीक था उस समाज (जिसमें बाबा साहेब पैदा हुए थे) ने तो निरन्तर अन्धेरे में रहने के कारण अन्धेरे को ही प्रकाश भी समझ लिया था । और जब कोई प्रकाश से दूर हो और अन्धेरे को ही प्रकाश समझ ले तो जीवन की सारी यात्रा अवरुद्ध हो जाती है । यदि इतना भी होश बना रहे कि मैं अन्धकार में हूँ, तो आदमी खोजता है, तडपता है, प्रकाश के लिए प्यास जगती है, टटोलता है, गिरता है, उठता है, मार्ग खोजता है, गुरु खोजता है, लेकिन कोई अंधकार को ही प्रकाश समझ ले तब जीवन की सारी यात्रा समाप्त हो जाती है । मृत्यु को ही कोई समझ ले जीवन, तो फिर जीवन का द्वार बन्द हो जाता है । इसी प्रकार तात्कालिक समाज की आँखे अन्धकार की इतनी अधीन हो गई थी कि वे पीछे लौट कर भी नहीं देख सकते थे, जहाँ प्रकाश का जगत था । प्रकाश को देखतें ही उनकी आँखे बन्द हो जाती थी

क्योंकि उस समाज की आँखे अंधकार की आदी हो गई थी, ऐसे में प्रकाश तिलमिलाता है, कष्ट देने लगता है । अन्धेरे से इतने राजी हो गये थे, कि अब प्रकाश से राजी नहीं हो पाती थी आँखे । सिर्फ अन्धेरे में ही आँख खुलती थी । प्रकाश में तो बन्द हो जाती थी । ऐसे भ्रम में था उस समय इनका समाज ।

जो जीवनभर रहे हैं अन्धकार में, वे पीछे लौट कर भी नहीं देख सकते थे। वे दीवाल की तरफ ही देखते थे । राह पर चलते व खिडकी, द्वार के पास से गुजरते लोगों की छायाएँ बनती थीं सामने दीवाल पर । वे समझते थे, वे छायाएँ सत्य हैं। ये ही असली लोग हैं, उस छाया को ही वे जगत समझते थे । धीरें-धीरे उन्होंने पीछे लौट कर देखना ही बन्द कर दिया । लेकिन एक आदमी ने हिम्मत की । क्योंकि उसे शक होने लगा कि ये छायाएँ सत्य छायाएँ नहीं हैं, क्योंकि इनसे बोलो तो ये उत्तर नहीं देतीं । इन्हें छुओ तों कुछ हाथ में नहीं आता, इन्हें पकडो तो कुछ पकड में नहीं आता । एक आदमी को शक होने लगा समाज अन्धकार में है, अज्ञान में है । वह आदमी बाबासाहेब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ही थे जिन्होंने धीरे-धीरे पीछे देखने का अभ्यास शुरू किया । वर्षों लग गये, बडा कष्ट हुआ । जब भी पीछे देखते, आँखे तिलमिला जातों । आंसू गिरते रहे । लेकिन उन्होंने अभ्यास जारी रखा, वह बडी तपश्चर्या थी । फिर धीरे-धीरे आँखें राजी होने लगी और तब वह चकित हुआ, कि हम किस कारागृह में पडे हैं । अम्बेडकर ने ही धीरे-धीरे इसकी चर्चा दूसरें लोगों से की थी । उन्होंने सभी जंजीरें तोडीं । जब प्यास प्रगाढ हो तब कमजोर आदमी शक्तिशाली हो जाता है । जब प्यास प्रगाढ न हो तो कमजोर जंजीरें भी बडी मजबूत मालूम पडती हैं । प्यास बढती चली गई और एक दिन उसने सारी जंजीरें तोड दीं और वह आडम्बर रूपी समाज के काराग्रह से निकल भागा तथा समाज को अपने ज्ञान रूपी दीपक की ज्योति से प्रकाशित किया ।

जीवन में क्या अवसर हैं, क्या परिस्थिति है, यह इस बात पर निर्भर नहीं होता है कि परिस्थिति क्या हैं । यह इस बात पर निर्भर होता है कि हम उस परिस्थिति को किस भाँति लेते है । किस व्यवहार में, किस दृष्टि से लेते हैं । परिस्थिति कैसी है इस पर कुछ निर्भर नहीं करता । हम परिस्थिति को कैसे लेते हैं इस पर सब कुछ निर्भर करता है । हर एक व्यक्ति को परिस्थिति कैसे लेनी है, यह सीख लेना चाहिए। यह सीख लिया था बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर ने तभी तो राह पर पडे हुए पत्थर भी सीढियाँ बनते चले गये । यदि परिस्थितियों को गलत ढंग से लेते तो सीढियाँ भी पत्थर मालूम पडने लगते, जिनसे रास्ता रूकता जाता । (पत्थर सीढियाँ बन सकते हैं, सीढियाँ पत्थर मालूम हो सकती हैं । अवसर दुर्भाग्य मालूम हो सकते

हैं, दुर्भाग्य अवसर बन सकते हैं । हम कैसे लेते हैं, हमारे देखने की दृष्टि क्या है, हमारी पकड क्या है, जीवन का कोण हमारा क्या है, हम कैसे जीवन को लेते हैं और देखते हैं, इस पर निर्भर करता है)

डॉ. अम्बेडकर ने आशा से भर कर जीवन को देखा, धैर्य से, अनन्त धैर्य से जीवन को देखा, प्रतीक्षा से जीवन को देखा, जो आज नहीं हुआ वह कल हो सकेगा, जो कल भी नहीं हो सकेगा वह परसों हो सकेगा । प्रतीक्षा और आशा उनके जीवन में पूर्ण थी । उन्होंने परिस्थितियों को दोष नहीं दिया, रास्ता ढूँढा था रास्ता मिल गया था समाजोत्थान का । डॉ. अम्बेडकर कठीन रास्तों से गुजर कर अवश्य आये, किन्तु कठीन रास्तों से गुजर कर आते हैं उनकी उपलब्धियों का मजा ही कुछ और है । उनके पा लेने का आनन्द ही और है, उनके जीत लेने की, उनकी विजय की कथा और गौरव-गाथा और ही है ।

इसमें सन्देह नहीं कि डॉ. अम्बेडकर कठीन परिश्रम और कठोर संघर्ष के बल पर धीरे-धीरे प्रगति की ओर अग्रसर हुए थे, किन्तु वे इस कटु सत्य से अवगत थे कि जब तक वे अछूत समझे जाते रहेंगे समाज में उन्हें उचित स्थान नहीं मिलेगा। उन्होंने देश के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास का गहन अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हिन्दू धर्म के चातुर्वर्ण्य से उपजी अस्पृश्यता ही तथाकथित दलित वर्ग के पिछडेपन का कारण है । डॉ. बाबा साहेब ने अछूतोद्धार का आन्दोलन बम्बई में १९२४ से 'बहिष्कृत हितकारणी सभा' नामक संगठन द्वारा शुरू किया था । अम्बेडकर की धारणा थी कि अस्पृश्यता की उत्पत्ति चातुर्वर्ण्य से हुई है अतः उन्होंने चातुर्वर्ण्य को समाप्त करने को कहा । अधिकांश इतिहास यह मानते थे कि चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था श्रमविभाजन के आधार पर हुई थी । इसके प्रति-उत्तर में डॉ. अम्बेडकर का कहना था कि अगर ऐसा ही था तो और देशों में इस प्रकार की व्यवस्था क्यों नहीं हुई? डॉ. अम्बेडकर मनुस्मृति को अछूतों के प्रति अन्याय की जड मानते थे, उनका कहना था कि – "मनुस्मृति ने अछूतों का सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनैतिक शोषण करके उन्हें दासता दी है ।

हमारे पुराने शास्त्रों का नाम है 'श्रुति' और 'स्मृति' । श्रुति यानी जो सुना है, जाना नहीं । स्मृति, यानी जो याद किया गया है, जाना नहीं । हम सदा से सुनते और याद ही करते रहे हैं । हमेशा पिछले से सुना है और आगे दोहरा दिया है । हजारों वर्ष से हम दोहरा रहे हैं । हिन्दू समाज की प्रतिभा पुराने समाधानों को पकड कर ठहर गई है । हमारे यहाँ जितनी पुरानी किताब हो, उतना ही सम्मान है । यह पुराने का आदर और सम्मान नये का कैसे जन्म होने देगा? और जो समाज नये को जन्म

देना बन्द कर देता है, वह बहुत पहले ही मर चुका होता है, अब वह जीवित नहीं है। जिन शास्त्रों को हम पकडकर बैठे हैं, वे शास्त्र भी यह कहते हैं, कि फलां ऋषि से फलां ऋषि ने सुना, फलां ऋषि ने फलां ऋषि से सुना, उनसे हमने सुना है, उसी को स्मरण करके हम कहते हैं। हमेशा पिछले से सुना और आगे दोहरा दिया है, इस दोहराने में, इस रिपिटीशन ने हमारे सारे मस्तिष्क को जंग लगा दिया है। इसीलिए जिन्दगी में हम रोज हारते चले गये और आज भी हार रहे हैं। कल भी बहुत कम आशा दिखाई पडती है कि हम जीत सकें। क्योंकि जब तक यह मस्तिष्क है, यह पुराना दिमाग, श्रुति और स्मृतियों को समाधान बनाता जायेगा, तब तक जीवन के संघर्ष में हमारी विजय असम्भव मालूम होती है। कोई पुरानी स्थिति फिर दुबारा नहीं दोहराती है। जो लोग कहते हैं History रिपीट करती है तो वे बिल्कुल झूठ कहते हैं। जगत् में कुछ भी नहीं दोहराता है, इतिहास कभी नहीं दोहराता है। ठीक वैसा नहीं हो सकता, जैसा था। अगर हमें दिखाई पडता है कि वैसा ही है, तो यह सिर्फ हमारे देखने की नासमझी है। जीवन प्रतिक्षण बदलता रहता है। चौबीस घण्टे में नदी का बहुत पानी बह चुका होता है उसी प्रकार मनुष्य की चेतना का भी बहुत जल बह चुका होता है। जीवन तो प्रति पल नया है लेकिन हमारा मन पुराना है, पुराने मन और नये जीवन में जोड नहीं बैठता, तालमेल नहीं बैठता। हमारे सामने सबसे बडी चिन्ता यह है कि ज़िन्दगी रोज नये-नये सवाल खडे कर देती है और हमारे पास पुरानी किताबें हैं, पुराने समाधान हैं। अगर अछूत के सम्बन्ध में फिर से सोचने का सवाल है तो मनुस्मृति खोल कर बैठेंगे लोग। और खोज रहे हैं लोग कि मनुस्मृति में क्या लिखा हुआ है। कोई तीन हजार वर्ष पहले मनु ने क्या कहा है, उसका आज क्या उपयोग हो सकता है? खतरनाक हैं यह प्रवृत्ति क्योंकि समस्या नयी है और स्मृतियाँ पुरानी हैं। अत: डॉ. अम्बेडकर ने मनु स्मृति का घोर विरोध किया कि सब सवाल नये हैं और नया सवाल, नयी चेतना की माँग करता है इसलिए पुरानी स्मृतियों का पीछा छोडो।

परम्परावाद- डॉ. अम्बेडकर ने परम्परावाद का विरोध किया, परम्परएँ तो होंगे, लेकिन परम्परावाद बिल्कुल दूसरी बात है। ट्रेडिशंस तो होंगे, लेकिन ट्रेडिशनलिज्म बिल्कुल दूसरी बात है। परम्पराएँ तो बडी हैं, रोज उनके पार जाते रहेंगे। लेकिन अगर परम्परावादी चित न हो, तो हम कभी उससे बंधे नहीं होंगे, उनसे सदा ऊपर उठते रहेंगे, उनको ट्रान्सेंड करते रहेंगे, लेकिन अगर परम्परा का वाद पैदा हो गया है—कि जो अतीत में है, जो पुराना है, उसे पकडना है; क्योंकि वही सत्य है वही ऋषि मुनियों का जाना हुआ है, वही ज्ञानियों का कहा हुआ

है। तो फिर पूरे मुल्क की जीवन-चेतना एक कोल्हू के बैल की तरह ताकत लगाती रहेगी।

पुरोहितवाद- हिन्दु धर्मशास्त्रों के अनुसार, जीवन के विभिन्न अनुष्ठानों एवं यज्ञों को सम्पन्न करानेवाला व्यक्ति पुरोहित कहलाता है। पुरोहितवाद का डॉ. अम्बेडकर ने बडा प्रतिरोध किया क्योंकि एक तो पुरोहित-समुदाय के धार्मिक अनुष्ठान जनता के लिए दुर्बोध हो गये हैं और दूसरे उनसे ऊँच-नीच, छुआछूत, जातिवाद, भेदभाव आदि को बढावा मिला है।

पुरोहितवाद से ही पण्डित बनते हैं, पाण्डित्यवाद में स्वयं पण्डित का कुछ नहीं होता, श्रुति और स्मृतियों पर निर्भर करते हैं। अब धर्मशास्त्र पुराने हो चुके हैं। तो पाण्डित्य बुढा हो गया, पाण्डित्यवाद को छोडो। पाण्डित्य का अर्थ होता है— उधार, बासा। औरों से इकट्ठा कर लिया। उपनिषद्, गीता, स्मृतियाँ, बाइबल, धम्मपद इन सब से इकट्ठा संग्रहित कर लिया। पाण्डित्य में अपना तो कुछ नहीं है। और जो अपना नहीं है वह मुक्तिदायी नहीं है। जो अपना नहीं है बह बन्धन बन जाता है। पाण्डित्य थोथी चीज है, पाण्डित्य से कभी किसी को कुछ नहीं मिला। हाँ धोखा होता है मिलने का। भ्रांति होती है मिलने की। क्योंकि सुंदर-सुंदर शब्दों की ये कतारें बांधे रहते हैं, प्यारे-प्यारे शब्दों की पंक्तियाँ मिल जाती हैं सुनने को।

डॉ. अम्बेडकर ने स्वयं सन् १९२९ में यह कहा था— "पैतृक हिन्दु पुरोहित के विरुद्ध अभ्यारोपण में आनेवाले बिन्दु अनेक तथा भयंकर हैं। वह हमारी सभ्यता की गति में एक अडगा है, एक रुकावट है। मनुष्य जन्म लेता है, विवाह करता है, किसी परिवार का पिता बनता है और समय आने पर मर जाता है। किन्तु एक अशुभ प्रतिमा के रूप में पुरोहित उसे निरन्तर घेरे रहता है। अपने द्वारा निर्मित शास्त्रों एवं स्मृतियों के अन्तर्गत निर्धारित कठोर नियमों से हटना भयावह रूप में पुरोहित द्वारा दण्डित होना है। सौ में से ९९ प्रतिशत लोग उसे सहन करने में असमर्थ होते हैं, फिर भी जाति-बहिष्कार अथवा समाज से निष्कासन एक ऐसा हथियार है जिसे उस समाज ने स्वयं गढा है। पुरोहित इसका प्रयोग निष्ठुर, निरन्तर तथा अटल उत्साह के रूप में करता है। मैं स्वीकार करता हूँ कि एक नियम के रूप में कोई स्थानापन्न ब्राह्मण मानवता का एक दयनीय नमूना है। वह इसे उसी प्रकार जानता है, जिस प्रकार हम जानते हैं। अदृष्ट शक्तियों और असहाय मनुष्य के बीच वह एक मध्यस्थ प्राणी होने का शर्मनाक व्यवहार करता है और इसी के द्वारा वह अपनी जीविका कमाता है। दार्शनिक यह पूछ सकते हैं—क्या यह वर्ग हृदय से

भ्रष्ट या पापी है?.....उत्तर कुछ भी हो, इस पराश्रित को जो समाज पर आश्रित है और उसकी जडों को खाये जा रहा है, बिना नियन्त्रण के काम करने की अनुमति नहीं मिलनी चाहिए ।

डॉ. अम्बेडकर इस प्रकार के, जन समूहों में फैले अनेकों प्रकार के अन्ध-विश्वासों को प्रभावशाली कानून द्वारा समाप्त करना चाहते थे ।

डॉ. अम्बेडकर ने अपनी पुस्तक (जाति का उन्मीलन) में वर्णवाद का खण्डन किया है और साथ ही जाति एवं छूआछुंत के उन्मूलन के उपाय सुझाए हैं । उन्होंने लिखा है कि– ''वर्णभेद ने सार्वजनिक भावना को मार डाला है । वर्णभेद ने सद्गुण को जात-पात के नीचे दबा दिया है और सदाचार को जात-पात में जकड दिया है ।'' वर्णवाद हिन्दु समाज में इतना छा गया है कि हिन्दुधर्म में विहित कुछ गुणों का भी लोप हो गया है । जब तक यह व्यवस्था हिन्दुओं के मन में है तब तक उनका समाज-सुधार, धर्म-प्रचार और शुद्धी आन्दोलन निरर्थक है ।

डॉ. अम्बेडकर ने गीता द्वारा जन्मजात गुणों के आधार पर प्रतिपादित चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का भी खण्डन किया, हालांकि गीता में यह दार्शनिक आधार सांख्य दर्शन से ग्रहण किया है । सांख्य दर्शन में यह माना गया है कि मनुष्य जाति के सभी मानसिक एवं शारीरिक गुण मूलतः तीन गुणों सत्त्व, रज, तम की अभिव्यक्ति है। इन तीनों गुणों में निरन्तर परस्पर संघर्ष एवं परिवर्तन होता रहता है । इसीलिये डॉ. अम्बेडकर ने यह तर्क दिया कि यदि मनुष्य में तीन गुणों की प्रधानता है तो यह कैसे मान लिया जाये कि एक व्यक्ति में जो गुण जन्म के समय प्रधान थे, वही गुण मृत्यु तक प्रधान बनें रहेंगे ? एक व्यक्ति में एक ही स्वरूप में कोई गुण बना रहेगा इसकी क्या गारन्टी है ? डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि से व्यक्ति का स्वभाव क्षण-क्षण में बदलता रहता है । उसी प्रकार समय और परिस्थिति के अनुसार प्रत्येक गुण भी बदलता रहता है । अत एवं सभी गुण परस्पर बदलते रहते हैं तो मानव प्राणियों को वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत चार स्थायी वर्गों में विभाजित करना न्यायोचित नहीं है।

डॉ. अम्बेडकर ने यह कहा कि ''चातुर्वर्ण्य को गुणकर्ममूलक बताकर उस पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के दुर्गन्ध से युक्त लेबिल लगाना एक प्रकार का भारत में पाखण्डी जाल फैलाना है ।''

अतः कह सकते हैं कि वर्तमान परिवेश में वर्णव्यवस्था (चातुर्वर्ण्य) गलत है और बाबासाहेब अम्बेडकर का वर्णविरोधी दर्शन युक्तियुक्त है । डॉ. अम्बेडकर का यह दृढ विश्वास था कि जाति एवं छुआछूत की जननी यही वर्ण व्यवस्था है । अतः यदि इनका अन्त करना है तो वर्ण का अन्त करना आवश्यक है । वर्णवाद तथा

जाति भेद के उन्मूलन के लिए, डॉ. साहेब के सामने यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि हिन्दुसमाज की व्यवस्था को कैसे सुधारा जाये ? जातिउन्मूलन कैसे हो ?'' उन्होंन इसके कुछ उपाय बताये ।

१. जाति उन्मूलन के लिये अन्तर्जातीय भोज (दावत) शुरू हों । उन्होंने कहा कि– ''Plan of action for abolition of cast is to begin with inter-cast dinners. This also in my opinion is inadequate remedy....(Annihilation of cast : By B.R. Ambedker P. 57)

२. जाति उन्मूलन का दूसरा मुख्य उपाय अन्तरजातीय विवाह है । केवल रक्त का मिश्रण ही स्वजन तथा मित्र होने की भावना उत्पन्न कर सकता है । उन्होंने कहा– I am convinced that realy remedy is intercast-marriage. Fusion of blood can alone create the feeling of kith and kin ... the real remedy for breaking cast is intercast-marriage (p. 58)

३. Dr. Ambedkar puts forth real reason that "cast is a notion. It is a state of the mind the destruction of cast does not therefore mean destruction of physical barrier, it means a notional change.....(p. 59)"

डॉ. अम्बेडकर आगे कहते हैं कि ''हिन्दु जातिभेद के साथ इसीलिये अनुबन्धित हैं कि उनको धर्म प्राणों से भी अधिक प्रिय है ।'' जातिभेद को मानने में हिन्दुओं की भूल नहीं है । भूल उन ग्रन्थों की है जिन्होंने यह भावना उनमें उत्पन्न की है । इसीलिए यदि आप जाति भेद को मिटाना चाहते हैं तो आपके लिए वेद और स्मृति धर्म को नष्ट कर देना आवश्यक है ।

डॉ. अम्बेडकर का वर्णाश्रमधर्म के प्रति मौलिक विरोध था । वह किसी भी कीमत पर वर्णवाद तथा ब्राह्मणवाद के साथ कोई समझौता नहीं चाहते थे । गाँधी ने इसका उलटा अर्थ लगा कर बाबासाहेब पर आरोप लगाते हुए कहा कि ''डॉ. अम्बेडकर हिन्दु धर्म के लिए चुनौती है ।'' अछूतोद्धार आन्दोलन के महान् नेता कहे जाने वाले महात्मा गांधी ने वर्णव्यवस्था को जन्म के आधार पर प्रतिष्ठापित करने का समर्थन किया और जब डॉ. अम्बेडकर ने इसका विरोध किया, तो इस विरोध को गांधी ने हिन्दु धर्म के विरुद्ध माना । इस प्रतिक्रिया तथा अन्य घटनाओं को ध्यान में रखते हुए, डॉ. अम्बेडकर ने, १३ अक्टूबर १९३५ को मेवला (नासिक) कान्फ्रेंस में, बहुत ही सोच-विचार के पश्चात् धर्मान्तर की घोषणा की और कहा– "Even if I was born as Hindu, I will not die as Hindu", ''दुर्भाग्य से मैं हिन्दु-समाज में एक अछूत के रूप में पैदा हुआ हूँ । यह मेरे बस की बात

नहीं थी लेकिन मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि मैं मरते समय हिन्दु नहीं रहूँगा।
प्रश्न उठता है कि उन्होंने 'यह घोषणा क्यों की ? इसका सरल उत्तर यही है कि
उन्होंने, अपने साथियों सहित हिन्दु-समाज में समता तथा सम्मान प्राप्त करने के
लिए, अनिवार्य सुधार के लिए, भारी प्रयत्न किये जिनकी वजह से, उन्हें कटु
अनुभवों तथा पीडाओं का सामना करना पडा, परन्तु फिर भी सवर्ण हिन्दुओं का
हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ । उल्टे गलत अर्थ लगाकर उन्हें निंदित किया गया।
इसीलिए अम्बेडकर ने कहा– "हमने हिन्दु-समाज में समानता का स्तर प्राप्त करने
के लिए, हर तरह के प्रयत्न और सत्याग्रह किए: परन्तु सब निरर्थक सिद्ध हुए।
हिन्दु समाज में समानता के लिए कोई स्थान नहीं है । हिन्दु धर्म का परित्याग करने
से ही हमारी स्थिति में सुधार हो सकेगा । धर्मान्तर के सिवाय, हमारे उद्धार के लिए
और कोई मार्ग नहीं है ।" डॉ. अम्बेडकर का यह विचार तथा पग ठीक ही था
क्योंकि जहाँ अनादर तथा अपमान हो उस स्थान को छोड देना ही श्रेयस्कर है।
सम्मानपूर्वक जीवन यापन करना, उनके नीति-दर्शन का एक मौलिक आदर्श है।
अतः धर्मान्तर का निर्णय उनके विचारानुकूल था ।

वे किसी ऐसे धर्म को स्वीकार करना चाहते थे जो भारतीय हो, जिसमें वर्ण-भेद तथा छुआछूत न हो, अन्धविश्वास तथा पाखण्ड न हो, मानव केन्द्रित तथा बुद्धि पर आश्रित हो, उसमें स्वतंत्रता, समता तथा बन्धुत्व भी हो । इस प्रकार के मूल्य उन्हें केवल बौद्ध धर्म में ही मिले जिसे उन्होंने १४ अंक्टूबर १९५६ को नागपूर में लगभग पाँच लाख अनुयायिओं के साथ सहर्ष स्वीकार किया ।

डॉ. साहेब के धर्म-परिवर्तन के बाद समाज-परिवर्तन में एक क्रान्ति आ गई जिसका सर्वाधिक प्रभाव महाराष्ट्र में देखने को मिलता है । आज महाराष्ट्र के प्रत्येक छोटे-छोटे गाँव में भी इन लोगों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है । प्रत्येक गाँव में 'बुद्धवाडी' नाम से इन की वस्ती को जाना जाता है । 'बुद्धवाडी' के लोगों में किसी भी प्रकार का छुआछूत नहीं रखा जाता । यह परिवर्तन प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सारे भारत में भी देखने को मिलता है । चाहे धर्म-परिवर्तन किया हो या नहीं। किन्तु इस परिवर्तन का कारण भी डॉ. अम्बेडकर का चिन्तन ही है क्योंकि भारत के संविधान का निर्माण आप ने ही किया जिसमें अछूतोद्धार के ऐसे नियम बना दिये गये कि समता समय पाकर अपने आप आती गई ।

अन्त में कहूँगा कि डॉ. स्वभाव से, एक सज्जन पुरुष किन्तु बुद्धि से ...वादी-दार्शनिक और परिस्थिति से आलोचक थे ।

औतार लाल मीणा

...विभाग
...नारायण व्यास विश्वविद्यालय
...पुर (राजस्थान

टिप्पणियाँ

Annihilation of caste, Dr. B.R. Ambedkar pp.-20-24, 37, 38, 43, 56, ...60.

Buddha and His Dharmma, Dr. B.R. Ambedkar.

डॉ. अम्बेडकर का धर्मांतर, लेखक शंकरराव खरात (मराठी).

Dr. B. R. Ambedkar on Hinduism, Dr. J. J.Shukla,

Dr. B. R. Ambedkar, Life and Mission, Dhananjay Keer .

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर के व्यक्तिमत्त्व में दार्शनिक अभिव्यक्ति का यह ...अंश मात्र है, इसके अतिरिक्त धर्म की परिकल्पना, साम्यवाद व समाजवाद का ...य, त्रयी सिद्धान्त और नैतिकता आदि मुख्य हैं ।

यशदेव शल्य का संस्कृति चिन्तन : वर्तमान भारतीय परिप्रेक्ष्य में

आज हमारे सामने खडी बहुआयामी सांस्कृतिक चुनौती ने संस्कृति सम्बधी विमर्श को अति प्रासंगिक बना दिया है । सांस्कृतिक संक्रमण से उपजे इस संकट के रचनात्मक समाधान के लिए कुछ मूलभूत अवधारणाओं का विश्लेषण आवश्यक है। संस्कृति से हमारा तात्पर्य क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? अधिष्ठान कहाँ है? संस्कृति इतिहास सापेक्ष है या सनातन ? संस्कृति और सभ्यता में क्या सम्बन्ध है? आर्थिक विकास और संस्कृति में क्या रिश्ता है ? राजनीति किस तरह संस्कृति को प्रभावित करती है ? धर्म और संस्कृति में क्या सम्बन्ध है ? सांस्कृतिक अस्मिता से क्या तात्पर्य है ? क्या एक ग्लोबल संस्कृति सम्भव है ? बाजार और संचार की नयी तकनीक संस्कृति को किस तरह प्रभावित करती है ? वर्तमान भारतीय समाज में आ रहे सांस्कृतिक परिवर्तन को किस तरह व्याख्यायित किया जाय ? संस्कृति पर किसी सार्थक चर्चा के लिए उपरोक्त प्रश्नों का समाधान जरूरी है । प्रस्तुत लेख में श्री यशदेव शल्य के संस्कृति सम्बन्धी चिन्तन के परिप्रेक्ष्य में उक्त प्रश्नों पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है ।

संस्कृति को विद्वानों ने कई प्रकार से परिभाषित किया है । मानव वैज्ञानिकों की दृष्टि में संस्कृति सम्पूर्ण जीवन की शैली है जिसके अन्तर्गत मानव का समस्त सीखा हुआ व्यवहार समाहित है । सुविधा के लिए संस्कृति को भौतिक, विचार एवं क्रिया पक्ष में विभाजित किया जा सकता है किन्तु ये एक दूसरे से सावयवी रूप से जुडे रहते हैं । उनका अन्तरावलम्बन ही संस्कृति को पूर्णता देता है । इसके विपरीत संस्कृति की सीमित व्याख्या मानव की विशिष्ट उपलब्धियों कला, दार्शनिक चिन्तन, वैचारिक-उपलब्धियों को प्राथमिकता देती है और जीवन के अन्य पक्षों को गौण मानती है । संस्कृति की **भिन्न भिन्न परिभाषाओं** से एक बात सामान्य तौर पर उभर कर आती है कि इसका सम्बन्ध मूलत: मनुष्य की चेतना के संस्कार से है और सांस्कृतिक विकास का अर्थ मानवीय चेतना का गुणात्मक विकास ही है । विकास का अर्थ उसके लक्ष्य के ज्ञान के आधार पर ही समझा जा सकता है जो उसे प्रेरणा देता है । अत: किसी भी संस्कृति की प्रकृति का स्वरूप और निर्धारण वे आदर्श

और मूल्य ही करते हैं जिनकी सिद्धि में कोई समाज अपनी सार्थकता स्वीकार करता है । संस्कृति को इसीलिए मूल्य दृष्टि भी कहा जाता है । किन्तु संस्कृति को मूल्यों के धारणात्मक स्तर तक सीमित करके कई विचारक उनके अर्जन की सामाजिक-व्यक्तिगत प्रक्रिया को तथा सामान्य उपयोगिता की अन्य बातों को सभ्यता के दायरे में रखते हैं और इस प्रकार संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विभाजक रेखा खींच देते हैं । किन्तु संस्कृति को सिर्फ मानसिक व्यापार तक केंन्द्रित रखने से इसका यथार्थ जीवन से कोई रिश्ता नहीं रह जाता और विचार तथा आचार में एक विसंगति विकसित हो जाती है । इस भ्रामक दृष्टि का परिणाम यह हुआ है कि अत्याचारी, साम्राज्यवादी और शोषक समाज में साहित्य और कला का विकास होते हुए और जीवन की भौतिक सुविधाएँ जुटाने में सक्रिय देखकर उसे सुसंस्कृत मानने में कोई अनौचित्य नहीं दिखता । अत: संस्कृति को केवल मूल्य दृष्टि तक सीमित रखना उचित नहीं, यह मूल्य निष्ठा भी है, केवल विचार नहीं, विश्वास एव आचरण भी है। संस्कृति सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है । किसी भी जाति की मूल्य दृष्टि, उसकी आस्थायें और विश्वास उसकी प्रक्रिया और स्वरूप का निर्धारण करते है । इसका एक साध्य रूप होता है और दूसरा साधन रूप । सभ्यता और संस्कृति में अत्यधिक भेद नहीं है । सभ्यता को संस्कृति का साधनात्मक रूप माना जा सकता है । अत: संस्कृति मूल्य दृष्टि, मूल्य निष्ठा होने के साथ-साथ मूल्यों को अर्जित करने की प्रक्रिया भी है । इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में विभिन्न कारणों से कई बार अन्तर्विरोध भी विकसित हो सकते है । किसी संस्कृति की जीवन्तता का प्रमाण ही यही है कि वह इन विसंगतियों से कैसे निपटती है ।

संस्कृति के स्वरूप को परिभाषित करने में आने वाली कठिनाई के कारण ही अपने पूर्व ग्रन्थों में संस्कृति को "सामाजिक व्यक्तित्व" या "समाज की आत्मा" स्वीकार करते हुए भी शल्य जी अपनी नई पुस्तक में श्री अरविन्द की परिभाषा "संस्कृति मनोमय जीवन का स्वयं उसके अपने लिये अनुशीलन है" को भी स्वीकारने को बाध्य हैं । उनके अनुसार दोनों परिभाषाएँ संयुक्त रूप से संस्कृति के स्वरूप के दो पक्षों को निरूपित करती हैं । इसका कारण यह है कि किसी समाज में ऐसी परम्परा का होना सम्भव है जो उसके आत्म प्रत्यय से बहिष्कृत हो । किन्तु यहीं यह प्रश्न भी उठता है कि यदि दूसरी परम्परा बेहद शक्तिशाली हो तो आत्म प्रत्यय किसे मानेंगे ? उदाहरण के लिए भारतीय सामाजिक जीवन में विवाह पूर्व तथा विवाहोत्तर सम्बन्धों को मान्यता नहीं है किन्तु विविध कला रूपों में कृष्ण-राधा प्रसंग का वर्चस्व है जो निश्चय ही पति-पत्नी का मर्यादित सम्बन्ध नहीं है । ऐसे में

हम भारतीय संस्कृति के आत्म प्रत्यय को किस परम्परा से परिभाषित करेंगे ? यदि इस बहुलता को संस्कृति की सम्पन्नता मानें तो फिर एकता का आधार क्या होगा ? यहाँ पर संस्कृति की उपरोक्त दोनों परिभाषाओं में विरोध देखा जा सकता है ।

यशदेव शल्य की दृष्टि में संस्कृति मानव प्राणि की विशेषता है, मानवेतर जीवों में संस्कृति नहीं होती । वस्तु हो या व्यवहार, संवेद हो या अनुभूति, संस्कृति की वाहक तभी कहीं जा सकती है जब उस पर किसी अर्थ या कल्पना की छाप हो । रचनात्मक अर्थों के विभिन्न आयाम है जिनमें मानव चित्त का अर्थ और वस्तुमूलक द्वैत विषय में एकत्व पाता है । इनमें से किसी विशिष्ट आयाम के प्रति विशेष आग्रह संस्कृति को विशिष्ट व्यक्तित्व देता है, यह आग्रह एक आयाम को प्रतिष्ठित कर अन्यों को तिरस्कृत भी करता है । इसी आधार पर सोरोकिन द्वारा किया गया संस्कृतियों का वर्गीकरण उन्हें उचित जान पड़ता है तथा स्पेंग्लर और टायनबी द्वारा संस्कृति को जैव शरीर के रूप में अवधारित करके उसे जन्म-यौवन-जरा क्रम में रखने के प्रयत्न से शल्य सहमत नहीं हो पाते । उनके अनुसार ये दोनों इतिहास दार्शनिक दो प्रकार की भवितव्यताओं को एक में घपला करने तथा वर्णनात्मक निरूपण को ही सिद्धान्त पद पर प्रतिष्ठित करने के दोषी है । उपरोक्त विवेचन के आधार पर वे मेकाइवर-पेज द्वारा सभ्यता और संस्कृति के बीच भेद किये जाने की आलोचना को एक सुस्पष्ट वैचारिक आधार प्रदान करते हैं । अन्यथा भौतिक जैविक आर्थिक मूल्यों को ही साध्य रूप में देखने वाली पाश्चात्य संस्कृति को परिभाषित नहीं किया जा सकता । किन्तु अपने विश्लेषण में भौतिक जैविक आर्थिक अनुसरणों को साधन रूप मानकर उन्हें सांस्कृतिक अनुसरणों से बाहर रखने के कारण विज्ञान के सांस्कृतिक मूल्य को कम करके ही आंकते हैं । यह शायद भारतीय परम्परा का अप्रत्यक्ष प्रभाव ही है जो अध्यात्मिकता को चरम मूल्य मानती है । किन्तु मूल्य की वरणीयता के प्रश्न को सबसे महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी शल्य इसका कोई सैद्धान्तिक आधार प्रदान नहीं करते । मानव शास्त्रीय अध्ययनों से भी भारतीय संस्कृति के मूलतः अध्यात्मिक होने की बात सिद्ध नहीं होती । यही उनका यह कहना भी संगत नहीं प्रतीत होता कि

"कलात्मक-अध्यात्मिक व्यक्तित्वयुक्त समाज की योजना में अनहतिकता अविशिष्ट और अनपेक्षित केवल व्यवहार रूप में ही हो सकती है । इसके विपरीत एक वैज्ञानिक व्यक्तित्त्वयुक्त समाज में मूल्यहीनता आदि उसके व्यतित वैशिष्ट्य से असंगत नहीं है । यदि अर्थ, मूल्य, आदर्श, संस्कृति के लक्षण है तब वैज्ञानिक समाज सांस्कृतिक दृष्टि से निम्नतर स्तर का ही हो सकता है, जबकि अध्यात्मिक

और कलात्मक दृष्टि से समृद्ध समाज उच्चतर स्तर का ही होगा'' । यदि हम भारतीय समाज में ऐतिहासिक रूप से व्याप्त भ्रष्टाचार पर दृष्टि डाले तो इस कथन की सत्यता पर सन्देह होने के पर्याप्त कारण है ।

संस्कृति को शल्य जी ''सामाजिक व्यक्तित्व'' कहना उपयुक्त मानते हैं । इस व्यक्तित्व को व्यष्टि-व्यक्तित्व की भाँति ही उसकी वह अभियोजक वृत्ति, जिसे हम उसके समग्र जीवन दर्शन का मूल सूत्र कह सकते हैं धारण करती है । संस्कृति को जातीय व्यक्तित्व कहने का अर्थ है कि अनुभव, प्रवृत्ति, व्यवहार, चेष्टा आदि का ऐसा न्यूनाधिक निश्चित संस्थान होता है जो मानव व्यक्तियों से स्वतंत्र विद्यमान होता है और उसके - अस्तित्व का अतिक्रमण करता है ।

संस्कृति के अधिष्ठान के प्रश्न पर भी शल्य जी ने गम्भीरता से विचार करते हुए ऐन्द्रिक प्रत्यक्षवादियों की आलोचना की है जो निर्मित वस्तुओं तथा सामाजिक राजनैतिक सांस्कृतिक संस्थाओं आदि को ही अधिष्ठान के रूप में कल्पित करते हैं। इनकी कठिनाई यह है कि ये सब किसी संयोजक तत्त्व द्वारा एकसूत्रित होने की अपेक्षा करते है, अन्यथा ये अधिक से अधिक एक संघात मात्र है । इसी प्रकार वे भौगोलिक क्षेत्र और समाज के व्यक्तियों के मनों में भी संस्कृति का अधिष्ठान नहीं स्वीकारते । उनके अनुसार संस्कृति का अधिष्ठान व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान अनुभूत एकत्व में नहीं होता । उसके एकत्व को गीत की उपमा पर कल्पित करना अधिक उपयुक्त है । इसे हम देखते भी हैं और भोगते भी, किन्तु इसका भोग इसमें निहित होकर करते हैं, इसको निहित करके नहीं । उन्हीं के शब्दों में ''यह वृत्तियों का ऐसा संस्थान है जो व्यक्ति संस्थानों में - अपना स्वरूप व्यक्त करता है, जिस प्रकार व्यक्ति में निहित विभिन्न वृत्ति संस्थान व्यक्तित्व से रंजित होने हैं ।

पुनः अधिष्ठान की समस्या पर विचार करते हुए शल्य कहते हैं कि 'जो स्थान व्यक्तित्व में आत्मा का है, वहीं स्थान समाज में संस्कृति का है' । किन्तु इसकी संरचना किसी अहं प्रत्यय में अधिष्ठित न होकर उस सत् त्रिषयक दृष्टि में अधिष्ठित होती है जो सत् मनुष्य का साध्य होता है किन्तु संस्कृति मात्र यह दृष्टि ही नहीं होती। उन् सब क्रियाओं की विषयिता और विषयता भी संस्कृति ही होती है जिसमें समाज चेतना अपने को क्रियान्वित और व्यक्त करती है । संस्कृति दृष्टि इस संपूर्ण व्यवहार को एक मूल्यात्मक व्यवस्था में प्रतिष्ठित करती है । यहीं यह प्रश्न उठता है कि व्यक्ति मानस से बाहर संस्कृति का अधिष्ठान मानना क्या उसे एक रहस्यमय तत्त्व नहीं बना देते? यदि संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है तो इसे जातीय स्मृति के रूप में हर पीढी परम्पराओं के रूप में अपनी परवर्ती पीढी को सौंपती है । अब चाहे इसे

हम वृत्तियों का संस्थान कहे या सत् विषयक दृष्टि ।

मेरी आपत्ति उस आधारभूत मान्यता पर है जो संस्कृति को किसी एक अभियोजन वृत्ति, एक केन्द्र से परिभाषित करना चाहती है जिस कारण वे संस्कृति में एकत्व दर्शाने हेतु "व्यक्तित्व", "आत्मा" ऐसे प्रत्ययों का सहारा लेने को बाध्य है । संस्कृतियों का ऐतिहासिक अध्ययन किसी एक परम्परा को सार्वकालिक और सार्वभौमिक स्वीकार करने से इन्कार करता है । एक साथ कई विरोधी और शक्तिशाली परम्पराएँ सम्भव हैं जैसे भारत में ब्राह्मण और श्रमण परम्पराएँ । दोनों को एक ही अभियोजक दृष्टि से जोडने की कोशिश इस संघर्ष से आँख मूंदना है जो सदियों से भारतीय समाज में चलता रहा है । यह दोष संस्कृति की अधूरी व्याख्या है जो उसकी अभिव्यक्ति को उसके स्वरूप का एक विशिष्ट अनुवाद भर मानती है जो ऐतिहासिक कारणों से बदलता रहता है । आखिर यह शुद्ध स्वरूप रहता कहाँ है? यदि यह भौगोलिक, ऐतिहासिक परिस्थितियों या व्यक्तिमनों में नहीं रहता तो फिर इसे "सांस्कृतिक मानस" ऐसी वायावी कल्पनाओं से भी नहीं समझाया जा सकता। अपनी ऐतिहासिक अभिव्यक्ति से अलग किसी शुद्ध स्वरूप के अधिष्ठान का प्रश्न हमें ऐसी जटिलताओं से उलझा देता है जिनका निराकरण सम्भव नहीं दीखता । कुछ विचारकों ने इसके लिये "सांस्कृतिक आत्म" के प्रत्यय का सहारा लिया है किन्तु इसे अधिष्ठित करने का प्रश्न तो बना ही रहता है । इसमें एकत्व की अनुभूति और एकसूत्रता देखने के लिए केवल जीवन दर्शन, विश्व दर्शन पर निर्भर रहना नाकाफी है । भारतीय संदर्भ लें तो अतीत में किसी एक जीवन दर्शन की कुछ समय तक प्रमुखता तो स्वीकार की जा सकती है परन्तु विभिन्न परस्पर विरोधी जीवन दर्शनों के समानान्तर अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता । शल्य जब स्वीकारते हैं कि भारत में किसी एक संस्कृति की कभी पूर्ण व्यापकता नहीं रही है फिर उनकी इस मान्यता का क्या आधार है कि "युगो तक इस देश में एक संस्कृति की प्रमुखता रही है शेष संस्कृतिया विदेशी संस्कृति के रूप में देखी जाती रही है"। यदि भारतीय संस्कृति का मूल आत्मबोध योग साधना पूर्वक मोक्ष कहा जा सकता है तो आधुनिक काल की संस्कृति को 'ऐहिक' कहने का क्या औचित्य है । यदि समाज के सदस्यों के वास्तव जीवन व्यवहार को निर्णय का आधार बनाया जाय तो फिर पूर्ववर्ती कालों में व्याप्त ऐहिक प्रवृत्तियों को नकारा नहीं जा सकता । यह सही है कि शल्य किसी भी समाज में परस्पर विरुद्ध भाव-विचार और प्रवृत्तियों की उपस्थिती स्वीकार करते हैं किन्तु वे उन्हें उस मूल धारा या व्यवस्था के भीतर ही उपकारक रूप में स्वीकारते है जो इस संस्कृति का आधार होता है । अब इसका

निर्णय कैसे होगा कि कोई प्रवृत्ति मूल धारा की उपकारक है या नहीं, उसके भीतर है या बाहर, क्योंकि कई बार कालान्तर में वहीं प्रवृत्ति उपकारक दिखाई देती है जो उस समय उपकारक मानी जाती है। यदि बाहर है तो उसकी शक्ति कितनी है? यदि उसकी शक्ति मूल शक्ति से अधिक है तो क्या उसे मूल स्वरूप का परिवर्तन माना जायेगा। उदाहरण के लिए यदि शल्य के अनुसार 'मोक्ष' और 'कर्म' फलवाद' को भारतीय संस्कृति का मूल स्वीकारें तो सिद्धान्त में अद्वैत की उदारता और व्यवहार में वर्णव्यवस्था की क्रूरता का सामंजस्य किस सूत्र से सम्भव है।

संस्कृति को मृत परम्परा के स्थान पर केवल भविष्योन्मुख, सृजनात्मक परम्परा से परिभाषित करने का शल्य का प्रयत्न वर्तमान सांस्कृतिक संकट से निपटने के लिये महत्त्वपूर्ण है। वे दृष्टिविहीन गतानुगतिकता को सनातन सांस्कृतिक परम्परा नहीं स्वीकारते बल्कि कभी चुनौती, कभी पूरक और कभी विनाशक के रूप में आये प्रभावों से निपटने के लिए परम्परा के नवसर्जन की आवश्यकता स्वीकारते हैं। निश्चय ही वे भारतीय सन्दर्भ में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बढते विदेशी प्रभावों से चिन्तित दिखाई देते हैं किन्तु वे यह नहीं मानते कि भारतीय संस्कृति को कोई दूसरी संस्कृति विस्थापित कर सकेगी। किन्तु उदारीकरण-बाजारीकरण-भूमण्डलीकरण के इस दौर में संचार क्रान्ति के बाद विदेशी केबल नेटवर्क के द्वारा अमरीकी संस्कृति के दबाव के आगे उसकी उक्त स्थापना पर पुनर्विचार आवश्यक लगता है क्योंकि शल्य ने स्वयं माना है कि "जब कोई जाति अपने कर्मों की सार्थकता का निर्धारण भिन्न मूल्यों के अनुसार करना आरम्भ कर देती है तब उसकी संस्कृति भिन्न हो जाती है"। आज तथाकथित साधन मूल्य ही साध्य मूल्यों का स्थान पा चुके हैं और हम अपने कर्मों की सार्थकता उन्हीं के अनुसार मापने लगे हैं।

अपने एक लेख "भारतीय संस्कृति : जीवित या मृत" में शल्य ने यह स्वीकारा है कि भारतीय संस्कृति का स्वरूप पक्ष इस समय नष्ट होने की स्थिति में है, किन्तु अभी समाप्त नहीं हुयी है। किन्तु उनकी दृष्टि में अस्मिता का यह संकट केवल योरोपीय संस्कृति के बढते प्रभाव के कारण है। वे भारतीय संस्कृति के आन्तरिक अन्तर्विरोध को नहीं स्वीकारते जो उसकी मूल्य दृष्टि और मूल्य अर्जन की प्रक्रिया के मध्य सदियों से उपस्थित रहा है। इस कारण संस्कृति की सृजनात्मकता का क्या तात्पर्य है ? क्या यह सिर्फ उन प्रतिमानों को सिद्ध करने के प्रयत्नों को ही अपने में समेटती है या नये प्रतिमान गढने को भी? यदि सामाजिक व्यवस्थाएँ सांस्कृतिक प्रतिमानों के विपरीत आचरण करती हैं तो उनके स्थान पर नयी व्यवस्थाएँ लाना आवश्यक है और युगानुरूप नये प्रतिमानों के स्वीकार के साथ नयी

व्यवस्थाओं का निर्माण भी जरूरी है । हमें इस प्रश्न से टकराना ही होगा कि भारतीय संस्कृति अपनी अध्यात्मिक उँचाइयों के बावजूद विज्ञान को जन्म क्यों नहीं दे सकी? हमारे सामाजिक जीवन में समता का मूल्य कभी स्वीकार्य क्यों नहीं हुआ? क्या हमें उक्त दोनों की जरूरत नहीं है? क्या लोकतंत्र और समता मूलक समृद्ध समाज की स्थापना हम मोक्ष कर्मफलवाद के आधार पर कर सकते हैं?

ठीक ही शल्य जी भारतीय सांस्कृतिक अस्मिता की श्रेष्ठता के कायल न होते हुए भी अपनी अस्मिता बचाने के लिए संघर्ष को स्वीकारते हैं क्योंकि अनुकरण से हम केवल अपने को खो सकते हैं, अन्य की श्रेष्ठता नहीं पा सकते किन्तु वैज्ञानिक परिदृष्टि को निर्धनतम और संकुचित मानने के कारण उनके उपरोक्त कथन की सत्यता पर संदेह होने लगता है क्योंकि वे भारतीय संस्कृति की सर्जनात्मकता इसकी अपनी सम्भावनाओं के क्रियान्वयन में देखते हैं, दूसरी संस्कृतियों से कुछ सीखने में नहीं । यहाँ भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता का भाव छिपा दिखाई देता है । ऐतिहासिक रूप में यह सब होते हुए भी कि संस्कृतियों में बराबर आदान-प्रदान होता रहा है, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता की श्रेष्ठता के भाव ने आज नये-नये संघर्षों को जन्म दिया है। शायद यही कारण है कि सदियों से भारत में मुस्लिम संस्कृति मुख्य धारा के समानान्तर अस्तित्वगत है और हम किसी सामासिक संस्कृति का निर्माण करने में असफल रहे है । अत: आज जरूरत संस्कृति को सनातन बोध से जोडने की नहीं संस्कृति की ऐतिहासिकता समझने की है जिससे हम भविष्य की आकांक्षाओं के अनुरूप उसका नवसृजन कर सकें, अस्मिता को बचाने के नाम पर मृत परंपराओं से चिपके न रहे । यहाँ यह भी समझ लेना जरूरी है कि परम्परा, संस्कृति और जातीय भावना पर्यायवाची नहीं है किन्तु राजनीतिकरण की प्रक्रिया ने इस अन्तर को घुघला कर दिया है । संस्कृति अधिक व्यापक अवधारणा है, परम्पराएँ उसकी अपेक्षाकृत दीर्घजीवी धाराएँ और उपधाराएँ होती हैं । किसी भी संस्कृति की बुनावट के लिये परम्पराएँ अनिवार्य हैं किन्तु उससे ही पूरी संस्कृति को नहीं समझा जा सकता । परम्पराओं के सम्बन्ध में सबसे बडी भ्रान्ति उसे जड और अपरिवर्तनीय मानना है । जबकि सच तो यह है कि संसार में एक दम शुद्ध परम्परा कोई है ही नहीं । परम्पराओं का सह अस्तित्व सम्भव है पर उसके लिये हमें अपनी मानसिकता बदलनी पडेगी ।

हमारे लिए यह भी देखना जरूरी है कि जिस मूल्य को भारतीय संस्कृति की केन्द्रीय प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया गया क्या उसके अनुरूप संस्कृति के समग्र स्वरूप का, उसके साधनात्मक रूप का विकास हो सका? क्या भारतीय समाज

व्यवस्था में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन उस मूल प्रेरणा के अनुरूप कभी विकसित हो पाया? परम मूल्य और साधनात्मक मूल्य में कही गहरा अन्तर्विरोध तो नहीं? कितनी विचित्र बात है कि जिस संस्कृति ने अद्वैत की अनुभूति को परम मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा दी उसीने साधनात्मक मूल्य के रूप में वर्णव्यवस्था जैसी स्तर भेदवादी व्यवस्था को जन्म दिया और उसे धर्म का एक रूप, सनातन व्यवस्था भी माना गया। इसका एक परिणाम भारतीय समाज व्यवस्था और इस्लाम के बीच गहरी खाई है तो दूसरी ओर सवर्ण-दलित-शूद्र के बीच गहरा अलगाव है जो आज के राजनैतिक संकट के मूल में है। हमें अपने से यह भी पूछना चाहिये कि क्या किसी प्राचीन युग की संस्कृति से हमारे आज के प्रश्नों का हल पाया जा सकता है? यदि वह संस्कृति उतनी ही महान थी तो नष्ट ही क्यों हुई। और यदि नष्ट नहीं हुई तो संकट कैसा ? यदि उभरते सामाजिक द्वन्द्वों का समाहार उस दृष्टि से सम्भव नहीं है तो बाहरी मदद में हमें इनकार नहीं करना चाहिये। निश्चय ही अपनी संस्कृति की जीवन्तता के लिये हमें अपनी कुछ संस्थाओं को मृत लकडी की भाँति काट देना होगा। संस्कृति बन्द डिब्बे की तरह नहीं होती। भारतीय संस्कृति ने भी सदियों से दूसरी संस्कृतियों से आदान-प्रदान किया है। अत: हमें खुले मन से सांस्कृतिक-परिवर्तन की अनिवार्यता को स्वीकार करना होगा। तभी तक मूलतत्त्ववाद और जडहीन पश्चिमीकरण से संघर्ष का औचित्य समझकर एक वैकल्पिक संस्कृति के निर्माण में जुट सकेंगे।

• संस्कृति और बाजार के सम्बन्धों को ठीक से न समझ पाने के कारण हम परिवर्तन की चुनौतियों का सामना ठीक से नहीं कर पा रहे हैं। पश्चिमी जीवन शैली का सम्मोहन एक और छद्म आधुनिकीकरण को बढावा दे रहा है तो अपनी सांस्कृतिक अस्मिता का आग्रह धर्म के दुरुपयोग में प्रकट हो रहा है। संक्रमण की इस पीडा का परिणाम है - त्रिशंकु संस्कृति जो हमारे सांस्कृतिक संकट का हल नहीं हो सकता। हमें यह याद रखना होंगा कि स्वर्णिम अतीत की परिकल्पना झूठी है और पश्चिम से आयातित सब कुछ अपनाने योग्य नहीं है। धर्म दर्शन के ग्रन्थों से चुने गये आदर्शों से बनाया गया चित्र ही भारतीय संस्कृति का वास्तविक रूप नहीं है और पश्चिमी केबल नेटवर्क द्वारा दर्शायी जानेवाली पश्चिम की छवि भी वहाँ के सांस्कृतिक उत्कर्ष का प्रतिनिधित्व नहीं करती। हमें सही इतिहास बोध से लैस होकर परम्परा का मूल्यांकन करना होगा और आधुनिकीकरण युग की चुनौतियों का सामना करने के लिए विदेशी पूँजी को ही तरह पश्चिमी मूल्योंको। (तार्किक विवेक, परानुभूति, सामाजिक गतिशीलता और सक्रिय सहभागिता) अपनाने का मानण्ड

बनाना होगा । यह काम नकल से नहीं स्वजातीय सृजनशीलता के विकास से ही सम्भव होगा जिसे यशदेव शल्य ने संस्कृति की जीवन्तता का प्रमुख आधार माना है। पर यह काम करेगा कौन? हमें आशा है कि शल्य जी अपने सुदीर्घ एवं गम्भीर चिन्तन के आधार पर हमें यह विवेक मंत्र देने का सफल प्रयास निकट भविष्य में अवश्य करेंगे जिससे हम धार्मिक मूलतत्त्ववाद एवं सांस्कृतिक नव उपनिवेषवाद से अपनी अस्मिता की रक्षा कर सकें । किन्तु इसके लिए उन्हें राजनीति, बाजार और नयी संचार प्रणाली से संस्कृति के उभरते सम्बन्धों की गहरी पडताल करनी होगी।

डॉ. आलोक टण्डन
५३ अश्रफ टोला
हरदोई (उ.प्र.) 241001

संदर्भग्रन्थ

1. संस्कृति: मानव-कर्तृत्वकी व्याख्या, यशदेव शल्य, 1969
2. सत्ता विषयक अन्वीक्षा, यशदेव शल्य, 1988
3. विषय और आत्म, यशदेव शल्य, 1972
4. समाज : दार्शनिक परिशीलन, यशदेव शल्य, 1992
5. भारतीय संस्कृति, डा. देवराज, 1966
6. भारतीय परम्परा के मूल स्वर, डा. गोविन्द चन्द्र पाण्डे, 1989
7. संस्कृति का व्याकरण, नन्द किशोर आचार्य, 1988
8. संस्कृति और सनातनता, डा. छगन मेहता, 1986
9. परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, पूरन चन्द्र जोशी, 1987
10. अवधारणाओं का संकट, पूरन चन्द्र जोशी, 1995
11. परम्परा, इतिहास बोध और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे, 1991
12. संक्रमण की पीडा, श्यामाचरण दुबे, 1991
13. नव साम्राज्यवाद और संस्कृति, सुधीश पचौरी, 1995
14. उत्तर आधुनिक परिदृश्य, सुधीश पचौरी, 1994

परामर्श (हिंदी) प्रकाशन

आत्मस्वीकृति – ले. प्रो. सुरेंद्र बारलिंगे
अनु. प्रा. राजमल बोरा
सं. डॉ. सुभाषचंद्र भेलके

पृ. ८८ मूल्य रु. ६०।-

मनुष्य और समाज के गौरवशाली अस्तित्व की प्रस्थापना में दर्शन किस तरह अपनी भूमिका अदा कर सकता है ? दार्शनिक का भावविश्व एवं विचार-विश्व किस तरह का होता है ? दार्शनिक अपना जीवन किस तरह व्यतीत करता है ? इन प्रश्नों की खोज का समाधान दिलानेवाली यह पुस्तक अवश्य ही पाठकगण के लिए नयी दृष्टि प्रदान करेगी ।

★

नव्यन्याय के पारिभाषिक पदार्थ (प्रथम खंड)

ले. डॉ. बलिराम शुक्ल

पृ. २१० मूल्य : रु. १६०।-

नव्यन्याय के अध्ययन के लिए पारंपरिक शिक्षा की आवश्यकता है । लेकिन प्राथमिक स्तर पर तथा तौलनिक अभ्यासकों के लिए नव्यन्याय के पदार्थों का मौलिक परिचय होना जरूरी है । इस दृष्टि से यह पुस्तक पाठकों की सहायता करेगी ।

प्रतिक्रिया एवं परिचर्चा

-१-

कुछ दिन पूर्व मैंने 'परामर्श' के जून १९९८ के अंक में वर्तमान युग में मोक्ष की प्रासंगिकता के विषय में आप का संक्षिप्त लेख पढ़ा है जिस में आप ने इस विषय पर मेरे विचारों के संबंध में अपनी स्पष्ट प्रतिक्रिया अभिव्यक्त की है । आप की इस प्रतिक्रिया के लिए मैं आप का आभारी हूँ, क्योंकि इस से यह स्पष्ट है कि आप ने मेरी पुस्तक, 'धर्म-दर्शन की मूल समस्याएँ' को केवल ध्यानपूर्वक पढ़ा ही नहीं है, अपितु इस में व्यक्त किए गए मेरे कुछ अपारंपरिक विचारों के विषय में स्वयं गहन चिंतन भी किया है । आप का यह स्वतंत्र चितन प्रशंसनीय है और इस के लिए मैं आप को हार्दिक बधाई देता हूँ । आजकल दर्शनशास्त्र के बहुत कम अध्येयता हिंदी में इस प्रकार का परंपरा-मुक्त चिंतन करते हैं । आशा है आप अपने इस प्रकार के स्वतंत्र चिंतन को भविष्य में भी बनाए रखेंगे ।

आप ने मानव-जीवन में मोक्ष की प्रासंगिकता के विषय में मेरे विचारों पर जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं उन के संबंध में यहाँ मैं कुछ स्पष्टीकरण देना चाहूँगा । सर्वप्रथम आप का कथन है कि मैं ने 'गीता' की स्थितप्रज्ञ विषयक जिस अवधारणा को मनुष्य की मुक्ति घोषित किया है वह स्वयं 'गीता' की उन्हीं तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं पर आधारित है जिन्हें मैं पहले ही अस्वीकार कर चुका हूँ । आप की इस आपत्ति के उत्तर में मैं यह कहना चाहता हूँ कि वस्तुतः स्थितप्रज्ञ की अवधारणा किसी प्रकार की तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यताओं पर अनिवार्यतः आधारित नहीं है । यह सत्य है कि 'गीता' में आत्मा की अमरता और ईश्वर तथा ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है, किंतु 'स्थितप्रज्ञ' का मैं जो अर्थ समझता हूँ वह किसी भी रूप में इन तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं पर आधारित नहीं है । जैसा कि आप ने स्वयं लिखा है, मेरे विचार में मनुष्य के स्थितप्रज्ञ होने का अर्थ अपने व्यावहारिक जीवन में यथासंथव अधिकतम सर्वांगात्मक परिपक्वता और नियंत्रण प्राप्त करना । यह सर्वांगात्म नियंत्रण मनुष्य स्वयं अपने सतत प्रयास तथा अभ्यास द्वारा प्राप्त कर सकता है और इस के लिए उसे किसी अलौकिक शक्ति या सत्ता को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । संभवतः आप ने स्वयं अपने जीवन में यह अनुभव किया होगा कि कुछ व्यक्ति सर्वांगात्मक दृष्टि से बहुत स्थिर एवं परिपक्व होते हैं

और कुछ बहुत अस्थिर तथा अपरिपक्व । इस प्रसंग में मैं श्री वल्लभभाई पटेल के जीवन की एक सच्ची घटना का उल्लेख करना चाहूँगा । एक बार जब वे किसी मुवक्किल के वकील के रूप में न्यायालय में बहस कर रहे थे तभी एक व्यक्ति ने उन्हें एक तार ला कर दिया जिसे पढ़ कर उन्होंने चुपचाप अपनी जेब में रख लिया। जब वे अपनी बहस समाप्त कर चुके तो उस व्यक्ति ने उन से कहा कि उस ने उन्हें जो तार ला कर दिया था उस में तो उन की पत्नी के देहान्त का दुखद समाचार था और आश्चर्य की बात यह है कि उन्होंनें इस पर अपनी कोई प्रतिक्रिया ही व्यक्त नहीं की । तब पटेल जी ने उस व्यक्ति से यह कहा कि उन की जो भयंकर हानि होनी थी वह तो हो ही चुकी थी, ऐसी स्थिति में क्या यह उचित होता कि वे उसी समय रोना आरंभ कर के अपने उस मुवक्किल को भी हानि पहुँचाते ? स्वयं गांधी जी ने भी अपनी पत्नी के देहांत पर इसी प्रकार के धैर्य का परिचय दिया था । यहाँ आप यह कह सकते हैं कि अपने सर्वांगों पर ऐसा नियंत्रण प्राप्त करना अत्यंत कठीन है। यह बात निश्चय ही सत्य है और सामान्य व्यक्ति इस प्रकार के सर्वांगात्मक नियंत्रण की आशा नहीं करता । परंतु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि कोई 'भी' आदर्श सरल तथा सुलभ नहीं होता । यदि ऐसा होता तो उसे 'आदर्श' नहीं माना जाता। जब मनुष्य ऐसी भावनात्मक परिपक्वता प्राप्त कर के न तो सुख में उल्लसित होता है और न दुख में विचलित तो वह वस्तुत: स्थितप्रज्ञ हो जाता है और मेरे विचार में यही मनुष्य की मुक्ति है जिस की उस के वर्तमान व्यावहारिक ज़ीवन में प्रासंगिकता हो सकती है ।

यहाँ मैं इस प्रकार की मुक्ति के स्वरूप के विषय में अपने मत को कुछ और अधिक स्पष्ट करना चाहूँगा । मेरे विचार में मनुष्य के स्थितप्रज्ञ होने का अर्थ यह नहीं है कि वह शरीर और उस से संबद्ध मूल प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाएगा । जब तक वह जीवित है तब तक ये सब और अन्य सभी पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्व अनिवार्यत: उस के साथ ही रहेंगे । परंतु वह इन सब के प्रति आसक्ति नहीं रखेगा जो साधारण मनुष्यों में पाई जाती है । मुक्त मनुष्य अपने जीवन से संबद्ध समस्त कर्म करेगा, किंतु उसके ये कर्म केवल लोक-हित द्वारा ही निर्धारित होंगे। यदि आप चाहें तो इस स्थिति को लोक-हित के प्रति उस की आसक्ति कह सकते हैं । महायान के बोधिसत्त्व में भी इसी प्रकार की परोपकारात्मक आसक्ति को स्वीकार किया गया है जो मेरे विचार में उचित है । मुक्ति के संबंध में यह विचार उसे उस स्वार्थपरायणता से मुक्त करता है जो व्यक्ति-विशेष तक सीमित मोक्ष की परंपरागत भारतीय अवधारणा में अनिवार्यत: पाई जाती है । इस के अतिरिक्त

स्थितप्रज्ञ विषयक मुक्ति की यह अवधारणा परंपरागत मोक्ष की तत्त्व मीमांसीय अवधारणा के विपरीत सकारात्मक है । इस के अनुसार मुक्त मनुष्य समाज में ही रहेगा, किंतु वह अपने निजी स्वार्थ से ऊपर उठ कर केवल लोकसंग्रहार्य समस्त कर्म करेगा । वह अपने समाज से उतना ही लेगा जितना उस के स्वस्थ जीवन के लिए अनिवार्य है । मेरा यह विचार आप की उस आपत्ति का उत्तर देता है जिस में आप ने यह कहा है कि स्थितप्रज्ञ विषयक मुक्ति की अवधारणा उतनी ही निषेधात्मक है जितनी मोक्ष की परंपरागत अवधारणा । इस संबंध में वास्तविक स्थिति यह है कि मैं मुक्ति की जिस अवधारणा का समर्थन करता हूँ वह केवल इसी अर्थ में निषेधात्मक है जिस अर्थ में वह मनुष्य को अपनी वासनाओं को संयमित एवं नियंत्रित करने के लिए प्रेरित करती है । लोकसंग्रह को कर्म का एकमात्र मूल आधार स्वीकार करने के कारण वह मुख्य: सकारात्मक ही है ।

यहाँ मुक्ति की उपयुक्त अवधारणा के विषय में दो प्रश्न उठाए जा सकते हैं जो बहुत महत्त्वपूर्ण हैं । पहला प्रश्न यह है कि क्या यह अवधारणा मुक्त मनुष्य की आत्यंतिक दु:ख-निवृत्ति करती है ? और दूसरा प्रश्न यह है कि क्या कोई भी मनुष्य कभी भी जीवन में इस प्रकार की मुक्ति के लिए प्रयास आरंभ कर सकता है ? प्रथम प्रश्न के उत्तर में मैं यह कहना चाहूँगा कि यदि 'आत्यंतिक दुख-निवृत्ति' का अर्थ मनुष्य के समस्त दुखों से पूर्ण मुक्ति है तो, यह संभव नहीं है । मनुष्य जब तक सशरीर जीवित है तब तक उसे सुख-दुख का अवश्य अनुभव होगा, क्योंकि यही प्रकृति का अनिवार्य नियम है । परंतु जैसा कि मैं ने पहले ही कहा है, मुक्त मनुष्य पर इस सुख-दुख का न्यूनतम प्रभाव पड़ेगा । मैं यह मानता हूँ कि केवल इसी सीमित अर्थ में उस की दुख-निवृत्ति संभव है । अधिकतर मोक्ष-समर्थक भारतीय दार्शनिकों ने दुख-निवृत्ति के इस विचार को स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वे मनुष्य की 'आत्यंतिक दु:ख-निवृत्ति' चाहते थे जो एक सुखद कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । अपनी इसी सुखद कल्पना के कारण अधिकतर भारतीय दार्शनिकों ने विदेह-मुक्ति का ही समर्थन किया है ।

अपने उपर्युक्त दूसरे प्रश्न का मैं यह उत्तर देना चाहूँगा कि केवल वही मनुष्य स्थितप्रज्ञ विषयक मुक्ति के लिए प्रयास कर सकता है जिससे पहले अपनी नैसर्गिक इच्छाओं की तृप्ति तथा अपने अनिवार्य पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति कर ली हो । इस संबंध में मैं भारतीय मनीषियों की आश्रम-व्यवस्था का कुछ संशोधित रूप में समर्थन करना चाहूँगा । संशोधन केवल इतना ही है कि प्रत्येक आश्रम की अवधि को २५ वर्ष तक अनिवार्य न मानकर पारिवारिक दायित्वों की पूर्ति के

अनुसार निश्चित किया जाए। आज बहुत कम मनुष्य सौ वर्ष तक जीवित रहने की आशा कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक आश्रम की परंपरागत अनिवार्य सीमा को वर्तमान जीवन की आवश्यकता के अनुसार पुनः निर्धारित करना अनिवार्य हो जाता है।

यहाँ आप यह आपत्ति कर सकते हैं कि मनुष्य की इच्छाएँ वासनाएँ कभी तृप्त नहीं होती और न ही धन-संपत्ति के लिए उस का लोभ तथा परिवार-जनों के प्रति उस का मोह कभी समाप्त होता है। परंतु मेरे विचार में आप की यह आपत्ति पूर्णतः उचित नहीं होगी। मैं स्वयं अपने व्यक्तिगत अनुभव तथा अपने कुछ मित्रों के अनुभव से यह जानता हूँ कि एक अवस्था के पश्चात् मनुष्य की इच्छाओं, वासनाओं, लोभ तथा मोह की तीव्रता बहुत कम हो जाती है। तब उस में भौतिक समृद्धि तथा वासनाओं की पूर्ति की वह ललच नहीं रह जाती जो कभी युवावस्था में थी। कम से कम कुछ व्यक्तियों के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है। इसी स्थिति को अपने प्रयास तथा अभ्यास द्वारा कुछ और अधिक आगे बढा कर ये व्यक्ति कम से कम कुछ सीमा तक स्थितप्रज्ञ होने का प्रयत्न कर सकते हैं। अपने इस प्रयत्न में सफल होने पर वे स्वार्थपरायणता, सुख-दुख में वैयक्तिक लिप्तता एवं कर्म-फल के प्रति आसक्ति से मुक्त हो सकते हैं और इसे ही व्यावहारिक जीवन में उन की वास्तविक मुक्ति कहा जा सकता है। यह स्पष्ट है कि ऐसी मुक्ति के लिए किसी अलौकिक सत्ता या शक्ति से संबंधित तत्त्वमीमांसीय पूर्वमान्यता को स्वीकार करना मनुष्य के लिए अनिवार्य नहीं है। इस के अतिरिक्त मुक्ति की यह अवधारणा स्वार्थपूर्ण तथा नकारात्मक भी नहीं है, क्योंकि इस अवधारणा के अनुसार मुक्त मनुष्य परोपकार या लोकसंग्रह की भावना से प्रेरित हो कर ही अपने समस्त कर्म करेगा। हाँ, इस के विरुद्ध आप यह अवश्य कह सकते हैं कि यह मुक्ति सभी मनुष्यों के लिए संभव नहीं है। परंतु यही आपत्ति परंपरागत मोक्ष अथवा कैवल्य के विषय में भी उठाई जा सकती है।

मैं यह मानता हूँ कि यदि वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनुष्य के लिए मुक्ति का कोई अर्थ या उस की कोई प्रासंगिकता है तो वह स्थितप्रज्ञ विषयक अवधारणा अथवा ऐसी ही किसी मनोवैज्ञानिक अवधारणा पर आधारित हो सकती है। यदि इस अर्थ में मुक्ति संभव नहीं है तो फिर मुक्ति या मोक्ष के विचार को भूल जाना ही तर्कसंगत होगा। भारत में आत्मा, ईश्वर, ब्रह्म आदि तत्त्वमीमांसीय मान्यताओं पर आधारित मोक्ष की जो परंपरागत अवधारणा स्वीकार की जाती रही है वह कुछ दार्शनिकों की सुखद कल्पना ही है जो हमारे मन को आनंदित तो करती है किंतु जो

मिथ्या होने के कारण मनुष्य के लिए निरर्थक, महत्त्वहीन तथा अप्रासंगिक है। मेरे विचार में ईश्वर की सत्ता तथा आत्मा अमरता से संबंधित सुखद मानवीय कल्पनाओं की भी यही स्थिति है। यह विचार हमारे लिए कष्टदायक हो सकता है, किंतु यथार्थ कटु सत्य को स्वीकार करना ही मनुष्य की विवेकशीलता का प्रमाण है।

मैं ने कर्मवाद, पुनर्जन्म, बौद्ध दर्शन की दुख-निवृत्ति का विचार आदि कुछ अन्य भारतीय विषयों पर भी ऐसा ही अपारंपरिक चिंतन करने का प्रयास किया है जिसे आप ने मेरी पुस्तकों में देखा होगा। मैंने अपनी बहुचर्चित एक अन्य पुस्तक, 'नीतिशास्त्र के मूल सिद्धांत' में तीसरे परिशिष्ट के अंतर्गत भारत के भौतिकवादी चार्वाक दर्शन पर एक निबंध लिखा है जो इस दर्शन के विषय में पारंपरिक मत से भिन्न एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। यदि इस विषय में आप की रुचि हो तो कृपया इसे पढ़ कर इस के संबंध में अपने विचार मुझे अवश्य लिखें। मेरी नवीनतम पुस्तक, 'भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में निरीश्वरवाद' अलाईड पब्लिशर्स द्वारा शीघ्र ही प्रकाशित होगी जिस में मैंने भारतीय एवं पाश्चात्त्य दर्शन में प्राचीन काल से वर्तमान शताब्दी तक उपलब्ध होने वाली निरीश्वरवादी विचारधाराओं का सविस्तर तुलनात्मक विवेचन किया है। यह पुस्तक दो-तीन महीनों में आप को उपलब्ध हो सकेगी।

वेद प्रकाश वर्मा

३८/८, प्रोविन रोड
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली ११०००७.

-२-

'स': याने आत्मा, यही अर्थ योग्य है।

डॉ. जावडेकरजी के लेखपर मेरा अभिप्राय 'सः' का अर्थ देना इतना ही मर्यादित है।

(१) सभी दर्शनों ने शास्त्रों ने, पुराणों ने, उपनिषदों ने वेदों को ही प्रमाण मानकर अपने अपने सिद्धान्त बनाएँ हैं। सभी तर्क श्रुतिसंमत होने चाहिए, इस पर उस समय के विद्वानों का आग्रह था। डॉ. जावडेकजी ने व्याकरण का ही केवल आश्रय लेकर नाम-सर्वनाम का नियम बताकर, निर्दिष्ट गीताश्लोक में आये हुअे 'सः' सर्वनाम का अर्थ 'काम' निकाला है, यह योग्य लगता नहीं है।

(२) आद्य श्री शंकराचार्य ने भाष्य में ऐसा कहा है कि वे केवल तर्क का आश्रय लेकर ब्रह्मसूत्र का अर्थ लगा सकते हैं। परंतु वे 'श्रौत' आचार्य थे। उन्होंने

उपनिषदों का आधार लेकर ही उनसे सुसंगत तर्क का उपयोग कर के अपना लेखन किया है ।

(३) गीता के सत्रहवें अध्याय में "ॐ तत् सत् इति निर्देशो ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः।" ऐसा भगवान् श्रीकृष्णजी का वचन हैं । 'सः' यह शब्द तत् (जो परोक्ष है) शब्द का पुल्लिंगरूप सर्वनाम का प्रथमा का एकवचन है, और उसका अर्थ "तत् प्रसिद्धं ब्रह्म" ऐसा ही होता है ।

(४) "इन्द्रियाणि पराण्याहुः इंद्रियेभ्यः परं मनः" यह जो श्रेष्ठत्व की मालिका "यो बुद्धेः परतस्तु सः" कहकर गीता में जिस तरह आती है, उसी तरह कठोपनिषद् में है – "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः । "मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः । क -१, ३,१०

इन दोनों अवतरणों में शब्दों का और उनकी रचना का थोडा बहुत कुछ भेद जरूर है, परंतु मूल भावार्थ एक सा ही है । इस तरह के कितने ही अवतरण और श्लोकार्ध गीता में आते हैं । "आश्चर्यवत् पश्यति – "ऊर्ध्वमूलं अधःशाखम्" इत्यादि । उपनिषद् गोमाताएँ हैं, और गीता उनका दूध है यह वचन सुप्रसिद्ध है। इसका मतलब यही है कि जो उपनिषदों को अभिप्रेत अर्थ है वही गीता को ग्राह्य होना चाहिये, और वैसाही 'सः' शब्द का अर्थ लेना उचित होगा । 'सः' का अर्थ आत्मा या ईश्वर करना सरल है ।

(५) 'अनुस्मृति' में भी श्लोक ७१-७४ लगभग ऐसे ही हैं । इन सभी में बुद्धि के परे जो है वह आत्मा (ब्रह्म) ही है ऐसा स्पष्ट निर्देश है ।

(६) श्रेष्ठत्व के परंपरा में काम का वर्णन करते समय 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः' ये उसके अधिष्ठान हैं, और उनके द्वारा यह ज्ञान को आवृत करता है, ऐसा कहा है। अर्थात् उन पर काम ने अपना आधिपत्य जमाया है । ऐसे स्थिति में तीनों में से एक एक अथवा तीनों मिलकर भी काम को कैसे मार सकते हैं ? परन्तु आगे कहा है कि, 'संस्तभ्यात्मानमात्मना जहि शत्रुम् ,' यह कैसे संभव होगा ? मारनेवाला काम से बलिष्ठ दूसरा कोई चाहिये, उसके हाथों से अथवा उसका सहाय लेकर ही काम पर विजय मिल सकेगी । और ऐसा जो कोई तत्त्व होगा तो वह केवल आत्मा ही है, अर्थात् ' 'सः' का अर्थ वही आत्मा है ।

(७) इन निर्दिष्ट श्लोकों में काम की इतनी प्रशस्ति और महत्ता गायी है कि इसको शरण जाने की सीख न देकर उसको मार डालो ऐसा विचित्र उपदेश किया है । परंतु 'सः' का अर्थ आत्मा किया जाय तो उसमें यह विसंगति नहीं रह जाती है । इसी मद्देपर मेरा विशेष जोर है '

(८) 'यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणि 'तम' अभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ।।गी. १८-४६ श्लोक में ये जो सर्वनाम आते हैं, उनके पीछे या आगे 'आत्मा' शब्द का प्रयोग नाम के रूप में कहीं आया नहीं है, तो भी 'तम' सर्वनाम से आत्मा या ईश्वर ही अर्थ स्पष्ट है । दूसरा हो ही नहीं सकता ।

(९) इन के सिवाय 'रसो वै स:' , 'रसमेवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति, तृप्तो भवति' इ. वाक्य आते हैं । वे भी मेरे विचार को पुष्टि देते हैं । अस्तु ।

ज. द. मनोहर

निवृत्त अधिकारी, आकाशवाणी
शंकरपोळ, रावपुरा वडोदरा - ३९०००१.

ग्रन्थ-समीक्षा

-१-

'बँधी महावट से नौका' तथा अन्य निबंध : "डॉ. वसन्त चक्रवर्ती; अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपूर ; पृष्ठ ९६, मूल्य ६०/-

'कामायनी' यह हिन्दी साहित्य की एक अनुपम कृति है जो जयशंकर प्रसादजी की प्रतिभा का आविष्कार है । इस काव्य की एक पंक्ति पर बडी ही साहित्यिक उथल-पुथल हुई । वह वाक्य था 'बँधी महावट से नौका थी' । प्रस्तुत महाकाव्य में कवि ने हिमालय के परिसर में घटित घटनाओं का चित्रण किया है । विश्वनिर्माता मनु जब पृथ्वी पर आये, उस समय हुई घनघोर वर्षा के चित्रण के समय प्रस्तुत वाक्य लिखा गया है । लेखक के अनुसार 'महावट' का अर्थ 'विशाल वटवृक्ष' लिये जाने के कारण अनेक साहित्यिक चर्चाएँ हुई जिनका निष्कर्ष कभी कभी कवि की प्रतिभा पर साशंकता व्यक्त करने तक गयी । यह सोचा गया की इतने महान कवि ने इतनीसी मामुली बात पर ध्यान न दिया है । लेकिन डॉ. चक्रवर्ती ने अपने परिश्रमपूर्ण अभ्यास से यह साबित कर दिया है कि गलती असल में प्रूफ रीडिंग की है । 'बँधी महावट से नौका थी' ऐसी पंक्ति न होकर 'कँपी महावट में नौका थी' ऐसी पंक्ति है । इस निबंध पर अनेकों साहित्यिकों की प्रतिक्रियाएँ भी निबंधबद्ध हैं। सारे आलोचक डॉ. चक्रवर्ती से सहमत नहीं हैं । डॉ. सियाराम तिवारी, शांतिनिकेतन के मतानुसार डॉ. चक्रवर्ती 'भ्रांति निवारण' के लिए प्रशंसा के पात्र हैं । राँची की डॉ. माधुरी नाथ जो स्वयं भी 'कामायनी' की अभ्यासक हैं, डॉ. चक्रवर्ती के साथ पूरी तरह सहमत नहीं हैं । वे कहती हैं कि लेखक के 'महावट' शब्द की व्याख्या सही है, लेकिन उन्होंने जो प्रूफ रीडिंग की गलती बतायी है की 'कँपी महावट--' को 'बँधी महावट----' पढकर वैसाही लिखा गया, वह नामुमकिन है । मूल पुस्तक की पाण्डुलिपि में भी बँधी महावट----' ही पढा जाता है । हैदराबाद के डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय भी डॉ. चक्रवर्ती की भूमिका से सहमत नहीं हैं । वे शतपथ ब्राह्मण तथा प्रसादजी के हस्तलिखित का सहारा लेकर अपनी भूमिका प्रस्तुत करते

हैं। डॉ. सुभाष दामले, श्री. शशीभूषण पाठक, श्री. एस.एन. गणेशन, डॉ. ऋषभदेव शर्मा आदि मान्यवर विद्वान डॉ. चक्रवर्ती की व्याख्या से सहमत है। तथा डॉ. एन.पी. कुट्टन पिलै, प्रो. कैलाशनाथ तिवारी, डॉ. रामनिरंजन पाण्डेय आदि मान्यवर डॉ. चक्रवर्ती से सहमत नहीं है। डॉ. देवीशंकर के मतानुसार पौराणिक वाङ्मय को उस काल के सांस्कृतिक सम्बन्धों में तथा उनके अन्तर-सम्बन्धों में समझने की जरूरत है ना कि आज के सन्दर्भों में !

सवाल यह उठता है कि जिस पंक्ति से बात छिडी है वह उपरनिर्दिष्ट काव्य की चौखट में क्या महत्त्व रखती है कि जिसपर इसे साहित्यिक, विद्वान चर्चा में शामिल है। भाषा विज्ञान और वाङ्‌यमीमांसा की दृष्टि से देखा जाय तो यह महत्त्वपूर्ण संदर्भ है तो जरूर लेकिन साहित्यिक, सांस्कृतिक, काव्यात्मक तथा दार्शनिक दृष्टि से इस चर्चा का क्या मूल्य है ?

अन्य निबन्ध

सांप्रतीय काल में छायावाद की प्रस्तुतता का आग्रह दिखाकर लेखक हमें चिन्तन को प्रवृत्त करतें हैं। यह आग्रह विवाद्य भी हो सकता है। लेकिन इसके अनुकूल पक्ष का मंडन विचारणीय है। वही बात रही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की। साहित्य के क्षेत्र में उभरे वादों को नये परिप्रेक्ष्य में जागृत रखने की चुनौती स्पृहणीय है। इसी से कवि के दार्शनिक पक्ष को लेकर इस पुस्तक के अंतिम निबंध रचे गये हैं जो इस पुस्तक का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आशा है पाठकगण इस पुस्तक का स्वागत करेंगे।

-२-

भारत महारथी सुभाषचंद्र बोस (युरोप प्रवास) : डॉ. प्रदीपकुमार जैन; अखिल भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन शोध संस्थान; मुजफ्फरनगर; पृष्ठ ५४, मूल्य -१०/-रु.

डॉ. प्रदीपकुमार जैन की सुभाषचंद्र बोस की युरोप यात्रा पर लिखी पुस्तिका आज के संदर्भ में सभी देशवासियों के लिये महत्त्वपूर्ण है। सुभाषचंद्र बोस प्रखर राष्ट्रवाद की उत्तम मिसाल है। देश की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने हर संभव प्रयत्न

किये। २६ जनवरी १९४१ की रात्रि उन्होंने पुलिस की निगरानी से पलायन किया और वे देश से निकले। अलग अलग भेस बदलकर अनेकों तकलीफों का सामना कर ढाई महीने की रोमांचक यात्रा सफलतापूर्वक संपन्न करके नेताजी बर्लिन पहुँचे। उनके युरोप प्रवास तथा घटनाएँ, उनके दाँव-पेंच आदि का लेखक ने बहुतही रोचक वर्णन किया है। नेताजी की यात्रा का बारीकियोंसे अभ्यास कर उन्होंने आजाद हिंद सेना के गठन तथा उसकी आधारशिलाओं का वर्णन किया है।

नेताजीने जब अपना 'आन्दोलन' छेड दिया तथा उस दिशा में प्रयत्न शुरू किये तब देश में स्वातंत्र्य संग्राम की हवा जोरों से बह रही थी। उस पद्धति से नेताजी हरगिज सहमत नहीं थे। ऐसे अनेकों युवक थे गांधीजी के शांतिपूर्ण तरीकों से असहमत थे। लेकिन नेताजी में वह साहस था, धैर्य था कि वे पुलिस की चंगुल से छूटकर विदेश गये। 'शत्रु के शत्रु अपने मित्र' इस नीति को उन्होंने अपनाया और एक सशस्त्र राष्ट्रसेना का निर्माण किया, आजाद हिन्द सरकार की स्थापना की। उन्होंने अपने डाक-टिकट, करेन्सी नोट तथा पासपोर्ट का निर्माण किया।

यह काफी मुष्किल काम रहा होगा। परन्तु राष्ट्रवाद की चिनगारी से सुलगा हुआ यह अंगारा किसी भी कठिनाइयोंका सामना कर भारत को आजाद करने के लिए विवश था। उनकी इस दृढता के आगे सर झुक जाता है। यह सब दर्शाने वाली पुस्तिका लिखने के लिए डॉ. प्रदीपकुमार जैन हार्दिक अभिनंदन के सुपात्र है।

-३-

हिन्दी के महावीर प्रबन्ध काव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन : डॉ. दिव्यगुणी; विचक्षण स्मृति प्रकाशन, अहमदाबाद; पृष्ठ २७५; मूल्य- सदुपयोग

साध्वी दिव्यगुणाश्रीजी 'हिन्दी के महावीर प्रबन्धों का आलोचनात्मक अध्ययन' एक उत्तम प्रबन्ध है। लेखिका ने काफी अध्ययन के साथ जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवनपट के पहलुओं का अध्ययन किया है। यह करते हुए लेखिका की भूमिका दार्शनिक की है।

प्रथम अध्याय में वे जैन धर्म की प्राचीनता को आलोकित करते हुए तीर्थंकरों की परंपरा विशद करती हैं। महाकवि अनूप शर्मा द्वारा रचित 'वर्धमान महाकाव्य',

कवि रामकृष्ण शर्मा लिखित 'भगवान महावीर', आचार्य श्रीमद विद्याचंद्रसूरि की 'चरम तीर्थंकर भगवान महावीर' और अन्य प्रबन्धों का लेखिका ने बारीकियोंसे अध्ययन किया है । आगे चलकर वे भगवान महावीर के जीवन का सुंदर तथा उपयुक्त चित्रण करती हैं । यद्यपि यह प्रबन्धं भगवान महावीर पर लिखे गये काव्य प्रबन्धों का अध्ययन है, तथापि जैन दर्शन के मूल स्रोत तथा उसके विकास को जानने के लिए यह बहुतही उपयुक्त है । उपरोल्लिखित महाकाव्यों में चित्रित स्त्री तथा पुरुष पात्रोंका चित्रण वे करती हैं । तृतीय अध्याय में जैन दर्शन में चर्चित ईश्वर, विश्वरचना, पञ्चमहाव्रत, अपरिग्रह, स्यादवाद, सप्तभंगीन्याय आदि संकल्पनाओं का विवरण है । साध्वी दिव्यगुणाश्रीजी जैन धर्म के केवल ऐतिहासिक अध्ययन तक संतुष्ट नही हैं, वे उसे राजकीय, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश में समझना तथा व्यक्त करना चाहती हैं । चतुर्थ अध्याय में वे भाषा की दृष्टि से प्रबन्धों का अध्ययन करती हैं ।

इस ग्रंथ को लिखने में लेखिका ने पद्धतिशास्त्र का अच्छी तरह से उपयोग किया है । इस से यह ग्रंथ समझने में सरल और सुबोध बन गया है । यह शैली आम आदमी की सूझबूझ तक सहजता से पहुँचती है । यह इस ग्रंथ की सफलता है ।

दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय
पुणे ४११००७

वैशाली खांडेकर

-४-

भारतीय चिन्तन और लोकदृष्टि, डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी, कला प्रकाशन, वाराणसी-२२१००५ पृ.१२९, मूल्य रु. १२०/-

मानवी इतिहास के उगम से ही मनुष्य विचारक्षम रहा है । जिस तरह मानवी समाज अपने लिए प्रगति के नए नए मकाम बनाते आ रहा है, उसके विचारों के अनगिनत आयाम प्रकाशित हुए हैं । मनुष्य और मानवी जीवन की खोज के संदर्भ में किए गए विचार दर्शन के स्वरूप में आकारित होते आए हैं । — डॉ. उर्मिला चतुर्वेदी अपनी पुस्तक भारतीय चिन्तन और लोकदृष्टि में दर्शन का ज़ीवन के विविध

स्तरोंपर प्रतिबिंबित होने वाले परिणामों की चर्चा करती है ।

दर्शन का प्रभाव मानवी जीवन के सामाजिक राजकीय एवं साहित्यिक अंगो पर होता है । लेखिका अपने प्रथम निबंध 'भारतीय दर्शन: सिद्धान्त और साधना' में लगभग सभी दर्शन-धाराओंका संदर्भ देते हुए किस तरह मानवी जीवन, अभ्युदय की ओर जानेवाला है, इसका विश्लेषण करती हैं । उनका कहना है कि विविध दर्शन-धाराएँ मनुष्य के लौकिक तथा अध्यात्मिक समस्याओं को आलोकित करते हुए उनके निवारण का अर्थात् दुख निवारण का मार्ग सूचित करती हैं । उपनिषद् काल से लेकर उन्नीसवीं शती के पुनर्जागरण के काल तक के अनेक संदर्भ देकर विश्लेषण करते हुए उनका कहना है कि दर्शन का जीवन से सम्बन्ध बहुत गहरा तथा सारगर्भित है । इसी विचार को आगे बढाते हुए वह द्वितीय लेख 'दर्शन और जीवन' में कहती हैं "दर्शनशास्त्र अपने सहज और व्यापक अर्थ में जीवन पद्धति का ही निर्धारण है ।" भारतीय दर्शन मानवी चेतना के विकास की प्रेरणा देते हैं और आत्मनिरीक्षण का मार्ग बताते हैं जिससे कि मानव अपने लौकिक और पारमार्थिक उन्नयन के सोपान चढ सके ।

तृतीय निबंध 'मूल्य संकट' में लेखिका मुख्यत: आधुनिक जीवन प्रणाली से निर्मित मूल्यों के अध:पतन को व्यक्त करती हैं । जीवन पद्धति से उभरी हुई विसंगतियों का उपाय हमें हमारे बहुआयामी दर्शन विचार में मिल सकते हैं । उनकी धारणा है कि हमें हमारी प्रगति के मापदण्डों का पुन: परीक्षण करने की आवश्यकता है तभी हम अपने पतनोन्मुखता से सचेत होकर आत्मोन्नति के मार्ग पर चल सकेंगे।

भारतीय पुनर्जागरण : धर्म और राष्ट्रीयता इस चतुर्थ निबंध में लेखिका ने भारतीय पुनर्जागरण की प्रक्रिया में समाविष्ट अनेक उन भारतीय विचारकों का संदर्भ दिया जिनके विचारोंपर धर्म का प्रभाव अधिक रहा है । इन विचारकों ने धर्म की कुरीतियों का मंडन करते हुए धर्म के मूल विचारों को प्रकाशित किया । समाज में आत्मविश्वास बढाया और उसे कर्म करने की प्रेरणा दी ।

'महामना पं. मदन मोहन मालवीय और धर्म समभाव' इस पंचम लेख में पं. मालवीयज़ी के विचार तथा कार्य का विवरण किया है । लेखिका के अनुसार पं. मालवीयजी धर्म के संदर्भ में विश्लेषणात्मक दृष्टि रखते थे । धर्म को समस्त जीवन का मूलाधार बताते थे । उनका यह मानना था कि धर्म से उत्पन्न विसंगतियाँ और पारस्परिक द्वन्द्व धर्म को सही तरह से न समझने का परिणाम है । धर्म की समन्वयात्मक दृष्टि से हम सामाजिक असहिष्णुता का उच्चाटन कर सकते हैं ।

'वेदान्त और लोकजीवन' इस निबंध में वेदान्त-दर्शन के भारतीय लोकजीवन पर हुए गहरे प्रभाव की चर्चा की है । वेदान्त से ज्ञान और भक्ति के विचारों का उगम तथा विकास होता आया है । मनुष्य जीवन का लक्ष्य अमृतत्व बताया गया है जो भारत के अनेकों विचारप्रवाहों में प्रतिबिंबित होता दिखाई देता है । 'सन्त कबीर और उनके युग की दार्शनिक धाराएँ' इस सप्तम निबंध में संत कबीर के मौलिक जीवन-दर्शन और उनकी अध्यात्मिक गवेषणा की चर्चा की गयी है । कबीर और तत्कालीन दार्शनिक धाराएँ इनके परस्पर प्रभाव का उत्तम विवेचन इस लेख में आता है । 'कबीर-साहित्य में माया-निरुपण' इस निबंध में आगे चलकर संत कबीर के साहित्य में प्रतिबिंबित होती उनकी माया की संकल्पना की चर्चा की गयी है । उनका कहना है की कबीर-दर्शन में हमें माया के शास्त्रीय और व्यावहारिक रूप के दर्शन होते हैं । 'आत्मज्ञान, विज्ञान और विनोबा भावे' इस अंतिम निबंध में विनोबा जी के अध्यात्म तथा विज्ञान के समन्वयात्मक विचारों का अभ्यास किया गया है । उनके अनुसार विज्ञान, आत्मज्ञान और साहित्य इन तीनों विचारप्रणाली से मनुष्य का समग्र विकास हो सकता है ।

इस तरह इन नौ निबंधों के एकत्रित करते हुए यह पुस्तक आवश्य ही पठनीय तथा चिन्तनीय हुई है ।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे ४११००७

कलिका कोकाटे

-५-

पाण्डेय, संगमलाल, ज्ञानमीमांसा के गूढ प्रश्न, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, १९९९, पृ. viii+१२०, मूल्य रु.२८/-

ज्ञान का स्वरूप समझाने के हेतु दार्शनिकों ने सदियों से गहन विचार प्रस्तुत किये हैं और अपने सिद्धांत प्रस्थापित किये हैं । इस में अनेकों प्रश्न हैं । इन में से कुछ प्रश्नों को लेकर प्रस्तुत पुस्तक में दर्शनशास्त्र के वरिष्ठ एवं मँजे हुए प्राध्यापक डॉ.संगमलाल पांडेयजी ने उठाया है । पाश्चिमात्य दर्शनधारा में उठाये प्रत्ययवाद,

नव्य यथार्थवाद, समीक्षात्मक यथार्थवाद, तार्किक भाववाद, व्यवहारवाद, अस्तित्ववाद तथा संवृत्तिशास्त्र की ज्ञानमीमासाओं का विश्लेषण कर के भारतीय परंपरा के नव्य न्याय तथा अद्वैत वेदांत के सिद्धान्तों का समीक्षापूर्ण विवेचन किया गया है । ज्ञान के स्वरूप को विस्तृत रूप से प्रस्थापित करने के उपरान्त प्रमाण और प्रमेय के परस्पर संबंधों से उन का स्वरूप अधिक स्पष्ट किया है । प्रामाण्यवाद की विवेचना में स्वतः एवं परतः प्रामाण्यवाद की चर्चा की है । सत्य की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए लेखक पाश्चिमात्य सिद्धांतों की समीक्षा करते हैं । इस पृष्ठभूमि के बाद लेखक अपने नये विचार प्रस्तुत करते हैं जिन में प्रमाणाद्वैत का एक सिद्धांत है और अज्ञान की समस्या का विवेचन है । अंततः लेखक गहन ज्ञानमीमांसा के नाम से अपने सिद्धांत की युक्तिसंगत प्रस्थापना करते हैं । इस में भारतीय दर्शन के सभी ज्ञानविषयक सिद्धांतों को पृष्ठभूमि में लेकर, नव्यन्याय तथा अद्वैत वेदांत के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकारते हुए अपने सिद्धांत की रचना की है जिस में कांट के विचारों का भी योगदान है ।

लेखक का यह प्रयास दर्शन के अध्येताओं के लिए अत्यंत विचारणीय है । अपनी सरल एवं सुबोध शैली में लेखक ने इन सिद्धांतों को प्रस्तुत किया है । लेखक को अपने चिंतन का योगदान पाठकों के सामने प्रस्तुत है । इस पुस्तक के पाठकों के दर्शन के अध्ययन में विशेष लाभ होगा । पाठकगण इस पुस्तक का हार्दिक स्वागत करेंगे ।

-६-

पाण्डेय, संगमलाल, समाज-दर्शन की एक प्रणाली, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, १९९८, पृ. ८ +२००, मूल्य रु. ८०/-

सांप्रत काल में सामाजिक समस्याओं का ऊहापोह अत्यधिक मात्रा में हो रहा है । दार्शनिकों ने इस के पूर्व ही अपने सिद्धांत चलाये हैं । भारतीय परिवेश में भारतीय भूमि में उपजे सिद्धांतों का विवेचन बहुत दुर्लभ है । प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक वेद तथा उपनिषद् के मंत्रों को लेकर कुछ सिद्धांतों की प्रस्थापना करते हैं जिसे लोकायनवाद या लोकमानववाद या लोकात्म-दर्शन के नाम से पहचाना गया है ।

समाज-दर्शन के स्वरूप को समझाकर समाज, परिवार, विवाह-संस्था, राज्य-संस्था, उद्योग, धर्म, शिक्षा तथा समाज-परिवर्त्तन इन के बारे में पाश्चिमात्य एवं भारतीय दार्शनिक परंपराओं की दृष्टि से समीक्षा प्रस्तुत की है । समानता के विविध पहलुओं को विशद करते हुए लेखक अंततः अपने सिद्धांत को विकसित करते हैं जिस का आकृतिबंध अद्वैत वेदांत का है और इस में आधुनिक पाश्चिमात्य विचारधाराओं का समुचित संमेलन है । इस प्रयास में लेखक ने एक नयी दृष्टि प्रस्तुत की है जो अवश्य ही विचारणीय है । प्राप्त सिद्धांतों के उपायोजन से हमें वर्तमान की समस्याओं के उत्तर ढूँढने हैं । इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक स्पृहणीय एवं महत्त्वपूर्ण प्रयास है । अपनी ओघवती शैली से पुस्तक की मूल्यवत्ता वृद्धिंगत हुई है। दर्शनशास्त्र के अध्येताओं के लिए यह महत्त्वपूर्ण विचार-प्रवर्तक ग्रंथ होने के नाते इस का स्वागत अवश्य होगा । यह पुस्तक अपने तृतीय परिवर्द्धित संस्करण में हमें प्राप्त है । पाठकगण इस का उपयोग कर के लाभान्वित होंगे ।

दर्शन-विभाग — सुभाषचंद्र भेलके
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७.

सामान्य और कृत्रिम भाषा

१- विषय-प्रवेश

गतांक (खंड २०, अंक ३) में भाषा के स्वरूप का जो विवेचन किया गया है वह मुख्यत: सामान्य भाषा को ध्यान में रखते हुए। वस्तुत: भाषादर्शन 'भाषा' से हमारा तात्पर्य 'सामान्य भाषा' से रहता है। और अन्यथा होने पर संदर्भ द्वारा, या उपयुक्त विशेषणों द्वारा, हम अपना आशय स्पष्ट कर देते हैं। भाषा के कार्यों का विश्लेषण भी जब किया जाता है, तो वह प्राय: सामान्य भाषा के कार्यों का ही होता है। हम यह अस्वीकार नहीं करते कि कृत्रिम भाषा का दार्शनिक अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है।

२- सामान्य भाषा

सामान्य भाषा को प्राकृतिक भाषा भी कहते हैं। 'प्राकृतिक' का अर्थ इस संदर्भ में 'प्रकृतिजन्य' या 'जन्मजात' नहीं है। हमने देखा है कि कोई भी भाषा जन्मजात या प्रकृतिजन्य नहीं है। कोई भी भाषा लेकर कोई जनमता नहीं है। वातावरण के अनुसार कोई भी शिशु किसी भी भाषा को सीख सकता है। माँ की भाषा ही उसकी अपनी भाषा बनेगी, यह बिलकुल अनिवार्य नहीं है।

सामान्य या प्राकृतिक भाषा से तात्पर्य है वैसी भाषा से जो स्वाभाविक, प्राकृतिक ढंग से हमारे सजग, जान-बूझकर, सोद्देश्य, प्रयत्नों के बिना भी, विकसित होती रहती है। किसी पौंधे की तरह उसका विकास प्राकृतिक ढंग से होता रहता है। यद्यपि उसमें हमारा भी योगदान हो सकता है। किन्तु किसी भी समय उसके वर्तमान रूप के विषय में हम यह नहीं कह सकते कि उस रूप को उसे हमने दिया है। किसी मकान के विषय में ऐसी बात नहीं है। मकान हम बनाते हैं और अपनी विशिष्ट आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, अपने पास लभ्य साधनों के द्वारा उसे बनाते हैं। जितना नियंत्रण मकान के बनाने में हम कर सकते हैं उतना किसी पौधे के विकास में कतई नहीं, हालाँकि पौधे से भी हमारी महत्त्वपूर्ण आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं।

सामान्य भाषा रोज-रोज के व्यवहार की, हमारी दैनंदिन संप्रेषण की, सामान्य जीवन की अनन्त आवश्यकताओं को पूरा करनेवाली भाषा है। इसे सामाजिक-

सांस्कृतिक विरासत के रूप में हम पाते हैं और अपनी नई आवश्यकताओं की पूर्ति का, नए अनुभवों को व्यक्त करने का, साधन बना इसमें परिवर्तन-परिवर्धन लाकर इसे उत्तरोत्तर समृद्ध करते चलते हैं । किन्तु इसकी समृद्धि अधिकांशत: नैसर्गिक, प्राकृतिक, ढंग से हुआ करती है और यद्यपि हम उसमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं, यह कहना प्राय: कठिन होता है कि हमने इसे क्या दिया है । कुछ अंशों तक हम अपने योगदान के विषय में सोचते रहते हैं, किन्तु अधिकांशत: नहीं । उदाहरण के लिए जिस हिन्दी का प्रयोग हम रोज-रोज के जीवन में घर-बाहर, हाट-बजार, लेन-देन, गीत-गली, झगडे-समझौते, किस्सा-कहानी, आदि में करते हैं वह सामान्य भाषा का नमूना है । साहित्य, इतिहास, कला, वाणिज्य, कुछ अंश तक विज्ञान, आदि की भाषा भी सामान्य भाषा होती है ।

३- तकनीकी भाषा

सामान्य भाषा का भेद तकनीकी भाषा से है । कोई भी तकनीकी पद किसी विशिष्ट अन्वेषण में किसी विशिष्ट आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रयुक्त होता है । यह आवश्यकता सामान्य जन की नहीं, बल्कि उस विशिष्ट अन्वेषण की होती है जिसे किसी विशिष्ट अनुभव, विचार, भाव तथ्य या संबंध, आदि क़ो व्यक्त करना होता है। जैसे, दो प्रतिज्ञप्तियों के बीच के एक विशिष्ट प्रकार के संबंध को व्यक्त करने के लिए तर्कशास्त्री 'आपादन' शब्द का प्रयोग करता है । दो प्रतिज्ञप्तियों, प और फ, में जब ऐसा संबंध हो कि सत्य प और असत्य फ का संयोग असत्य हो तो इस संबंध को आपादन कहेंगे या यह कि प से फ आपादित है । प - फ के इस प्रकार के संबंध के लिए, जो तर्कशास्त्री के लिए बडा महत्त्वपूर्ण है, एक पद चाहिए और इस आवश्यकता की पूर्ति 'आपादन' से की जाती है । भाषीय ध्वनि के न्यूनतम खण्ड के लिए भाषाशास्त्री तकनीकी पद 'ध्वनिग्राम' का प्रयोग करता है । भाषीय सिद्धांत की रचना में उसे सार्थक ध्वनि की न्यूनतम इकाई के संप्रत्यय की चर्चा करनी पडती है, और उसके लिए कोई पद चाहिए, अन्यथा उसकी, ध्वनि की न्यूनतम इकाई की, चर्चा न हो सकेगी । इस इकाई के लिए वह 'ध्वनिग्राम' का प्रयोग करता है । चिकित्सक खास प्रकार के ज्वर के लिए जिसमें कफ, पित्त, वायु तीनों एक साथ कुपित हो जाते हैं, तकनीकी पद 'सन्निपात' का प्रयोग करता है ।

ज्ञान के हर एक क्षेत्र में, साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान, धर्म आदि में तकनीकी पदों की आवश्यकता होती है । किसी सामान्य पद और तकनीकी पद में अंतर यही होता है कि तकनीकी पद विशेषज्ञों की, ज्ञान-विज्ञान के विशेष खण्डों की, आवश्यकताओं को पूरा करता है, जबकि सामान्य पद सामान्य जीवन की

आवश्यकताओं को । समाज के शैक्षणिक-बौद्धिक विकास के साथ-साथ तकनीकी पद बनते जाते हैं और उनमें से कुछ सामान्य भाषा में प्रवेश भी कर जाते हैं । जिस समाज का शैक्षणिक-बौद्धिक स्तर जितना ही ऊँचा होता है उसकी सामान्य भाषा में तकनीकी पदों का समावेश उतनी ही सुगमता से हो जाता है । बल्कि सामान्य जन के रोजमर्रे के जीवन में संप्रेषण की ऐसी आश्यकताएँ हुआ करती हैं कि उन्हें पूरा करने के लिए उसे कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के कई तकनीकी पदों का व्यवहार करना पडता है ।

विशिष्ट दिशा में सामाजिक विकास, या विशिष्ट सामाजिक आवश्यकताएँ, भी काफी हद तक निश्चित करती है कि किस प्रकार के तकनीकी पद सामान्य भाषा के अंग सुगमता से बन पाएँगे । प्रचुर यांत्रिक विकास से संपन्न समाज में कई यंत्रों के टेढे-मेढे तकनीकी नाम (जैसे अंग्रेजी, अमरीकी समाज में 'कारबोरेटर', व्लेंडर आदि) आसानी से सामान्य भाषा में घुस जाते हैं यद्यपि उनका निर्माण किसी तकनीकी, किसी विशेषज्ञ की विशिष्ट, आवश्यकता को पूरा करने के लिए होता है। सामान्य जन को भी उनकी आवश्यकता होती है, और यदि उसका शैक्षणिक स्तर अपेक्षित रूप में सुविकसित है तो वह उन्हें अपना लेता है । इस प्रकार सामान्य और तकनीकी भाषा की विभाजक रेखा काफी अस्थिर रहती है । किसी नदी के दोनों ओर के गांवों की तरह उनकी सीमाबंदी घटती-बढती रहती है । यह इस अर्थ में भी सत्य है कि तकनीकी भाषा के ही कुछ पद सामान्य भाषा में नहीं प्रवेश कर पाते हैं, सामान्य भाषा के भी कुछ पद तकनीकी बन जाते हैं, या बनाए जा सकते हैं । सामान्य और तकनीकी भाषा की लेन-देन पारस्पारिक है ।

तकनीकी शब्द कभी तो बिलकुल नए बनाए जाते हैं, कभी प्रचलित शब्दों को ही तकनीकी अर्थ में व्यवहृत किया जाता है । तर्कशास्त्र का 'प्रतिज्ञप्ति', भाषाशास्त्र का 'ध्वनिग्राम', प्रशासन का 'राज्यपाल', संगीत का 'आलाप' आदि विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनाए गए शब्द हैं । इस तरह के तकनीकी शब्दों का वही अर्थ होता है जो उन्हें दिया जाता है; उनका अपना, लोक व्यवहार से प्राप्त, कोई अर्थ नहीं होता क्योंकि नए होने के कारण उनका लोक व्यवहार होता ही नहीं । वे तो एक तरह से अर्थशून्य रहते हैं, इसलिए हम उन्हें जो चाहें वही अर्थ दे सकते हैं । इसीलिए जिस अर्थ का वाहक हम उन्हें बनाना चाहते हैं, बना सकते हैं । कभी-कभी लोक व्यवहार में विद्यमान किसी शब्द को ही हम तकनीकी अर्थ दे देते हैं और परिभाषा द्वारा उसके नए, तकनीकी अर्थ को स्पष्ट करते हैं । सिनेमा की भाषा में 'मुहूरत' प्रशासन में ' कुलपति', दर्शन में 'आत्मा', गणित में 'संख्या', मनोविज्ञान

में 'अचेतन' आदि लोक व्यवहार से लिए गए शब्द हैं जिनका अपने-अपने क्षेत्रों में तकनीकी प्रयोग होता है । किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि रूप की दृष्टि से ये पुराने शब्द होते हैं, इनका अर्थ नया होता है जो पुराने अर्थ से भले ही मिलता-जुलता हो किन्तु बिलकुल वही नहीं होता है । इसलिए ये भी एक प्रकार से नए अर्थ के वाहक होने के कारण नए शब्द होते हैं । उदाहरण के लिए, यद्यपि 'कुलपति' लोक व्यवहार का प्रचलित शब्द है, किन्तु इसका प्रशासनिक अर्थ (विश्वविद्यालय का अध्यक्ष) लोक व्यवहार से मिले अर्थ (कुल का पति) से भिन्न है । अपने-अपने कुल का पति होते हुए भी हम सभी कुलपति नहीं बन पाते ।

४- सामान्य भाषा की प्राथमिकता

सामान्य भाषा तकनीकी भाषा की अपेक्षा आधारिक या प्राथमिक होती है । किसी भी तकनीकी शब्दावली के लिए जरूरी है कि उसका अर्थ अंततः सामान्य भाषा में परिभाषेय, व्यक्त हो सकनेवाला, हो, अन्यथा वह हमारे लिए अर्थहीन हो जाएगी । कारण यह है कि तकनीकी पद का लोक व्यवहार से प्राप्त अर्थ तो रहता नहीं, और जो अर्थ उसे दिया जाता है यदि उसको अन्ततः सामान्य भाषा में नहीं व्यक्त किया जा सका तो वह पद निरर्थक ही रहेगा । एक तकनीकी पद को दूसरे में, दूसरे को तिसरे में, हम परिभाषित कर सकते हैं, किन्तु जब तक इस क्रम को तोडकर सामान्य भाषा की शब्दावली में नहीं उतरेंगे तब तक पहले तकनीकी पद का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाएगा । इसलिए तकनीकी भाषा पर सामान्य भाषा का प्रत्यक्ष या परोक्ष नियंत्रण बना रहता है ।

सत्य है कि सामान्य भाषा में परिवर्तन लाकर, उसके साथ छेड-छाडकर, कवि, विज्ञानी, दार्शनिक, कलाकार, नए-नए प्रयोगों को आरंभ करते हैं, प्रचलित प्रयोगों से भिन्न प्रयोगों को लाकर अपनी बात वांच्छित ढंग से कह पाते हैं, और परिणामतः भाषा को समृद्ध करते हैं । किन्तु यहां भी उनके नए प्रयोग अन्ततः प्रचलित प्रयोगों के माध्यम से व्याख्येय होने चाहिएँ, अन्यथा वे अर्थबोध न कर सकेंगे । हिन्दी के पुराने और नए कवियों ने भाषा के नए प्रयोग किए हैं, किन्तु इन नए प्रयोगों को कर सकने की योग्यता प्राप्त करने के लिए, सामान्य भाषा की चहार-दीवारी को तोडने या आगे बढाने के लिए उन्हें पहले उसे सीखना पडता है, उस पर अधिकार जमाना पडता है । उनके नए प्रयोग प्रचलित प्रयोगों के द्वारा परिभाषेय हुए बिना बोधगम्य नहीं हो पाते । इसलिए अर्थबोध और अर्थभिव्यक्ति दोनों की दृष्टि से सामान्य भाषा की प्राथमिकता सिद्ध है ।

५- भाषीय स्वच्छंदता की सीमा

यद्यपि एक दृष्टि से, सिद्धांततः, हमारे अंदर भाषीय स्वच्छंदता है, हम नए शब्दों को बना सकते हैं, प्रचलित शब्दों को नए अर्थों में प्रयुक्त भी कर सकते हैं, किन्तु यह स्वच्छंदता पूर्णतः अनियंत्रित या सीमारहित नहीं है । सामान्य भाषा, या भाषीय लोक व्यवहार, को हम मोड सकते हैं, उसके द्वारा बनाए गए रास्ते से अलग भी जा सकते हैं, किन्तु एक खास सीमा के भीतर ही । हम उससे हटकर उतनी ही दूरी तक जा सकते हैं जहाँ से उसके साथ संपर्क बिलकुल टूट न जाय - हमारे नए प्रयोगों को अन्ततः सामान्य भाषा द्वारा व्याख्येय होना उनकी सार्थकता के लिए अनिवार्य है । जब कभी यह संपर्क टूट जाता है या जिस मात्रा में टूट जाता है उसी मात्रा में, नए प्रयोग अर्थहीन हो जाते हैं । अर्थबोध का हमारा मूल साधन सामान्य भाषा ही है । नए प्रयोग, नई भाषीय रचनाएँ, उसमें समाहित होकर, उससे जुडकर, ही सार्थक संप्रेषण का साधन बन सकते हैं । यदि सरकार कोई नया सिक्का चलाती है तो उसे यह बताना पडता है कि वर्तमान मुद्रा-व्यवस्था में उसका क्या स्थान है, विभिन्न मूल्य के प्रचलित सिक्कों के साथ उसका कैसा ताल मेल है, नहीं तो वह सिक्का जनता द्वारा स्वीकृत नहीं होगा । यदि कोई उसे स्वीकार कर भी ले तो वह उसके लिए सिक्का न रह जाएगा क्योंकि उसे उसका मूल्य पता नहीं होगा । व्यापार में ऐसे सिक्के से खरीद-बिक्री के कार्य न हो पाएँगे । किन्तु खरीद-बिक्री में प्रयुक्त हो पाने की क्षमता उसके वस्तुतः सिक्का होने के लिए अनिवार्य है । जिस सिक्के को कोई मानता नहीं, उसका मेल कौडी के बराबर भी नहीं होता । शब्द भी सिक्कों की तरह होते हैं । संप्रेषण में, भाषीय व्यापार में, जिस शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता वह अर्थ का वाहक नहीं कहा जा सकता ।

कुछ रहस्यवादी चिंतक, कवि, दार्शनिक समझते हैं कि सामान्य भाषा से बिलकुल असंबद्ध, असंपृक्त, भाषा में ही अपने विचारों को व्यक्त कर सकते हैं । ऐसा सोचना भाषा के स्वरूप को न समझने का परिणाम है । सामान्य भाषा में सुधार की अपेक्षा हो सकती है, होती भी है; वह कभी स्थिर नहीं रहती । पुराने शब्द, शब्द-प्रयोग, सिक्कों की तरह, घिसते रहते हैं, और नए शब्द, नए प्रयोग, भाषा-शिल्पी बनाते रहते हैं । किन्तु सामान्य भाषा, या लोकव्यवहार, का सर्वथा परित्याग अर्थपूर्ण संप्रेषण की संभावना को नष्ट करके ही किया जा सकता है । जिसे गुप्त-भाषा कहते हैं, वह भी उन्हीं के लिए सार्थक होती है जो सामान्य भाषा में उसके रूपांतर के नियमों को जानते हैं । कबीर की उलटवाँसियाँ, रहस्यवाद-छायावाद की कविताएँ, गूढ तत्त्व-शास्त्रीय रचनाएँ, या किसी विज्ञान के अत्यंत ही तकनीकी

सिद्धांत उसी मात्रा में सार्थक होते हैं जिसमें उनका रूपांतर, या अनुवाद, सामान्य भाषा में वस्तुत: या सिद्धांतत: संपन्न हो सकता है । बल्कि किसी तथाकथित अर्थपूर्ण भाषा-खण्ड की सार्थकता की परीक्षा करने का सही मार्ग यह देखना है कि अन्तत: इसकी व्याख्या या इसका रूपांतर सामान्य भाषा में हो सकता है या नहीं ।

६- भाषा की (तथाकथित) अपर्याप्तता

कई बार ऐसा होता है कि जो हम कहना चाहते हैं वह कह नहीं पाते क्योंकि हमारे पास पर्याप्त शब्दावली नहीं होती । इस तरह के अनुभव हर व्यक्ति को कभी न कभी अवश्य होते हैं । कई बार हमारे अनुभव हमारी अभिव्यक्ति की क्षमता को चुनौती देते हैं और हार मानकर हमें कहना पडता है 'गिरा न नयन, नयन बिनु वानी।' किन्तु यह भी सत्य है कि प्राय:, सामान्यतया हम अपनी बातों को कहने के लिए पर्याप्त शक्तिवाली भाषा ढूँढ ही निकालते हैं, कभी सुगमता से, कभी न्यूनाधिक कठिनाई से । यदि ऐसा नहीं होता तो हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, क्रियाकलाप ठप्प हो गए रहते ।

भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति में कठिनाइयाँ अनुभूत हैं, इसीलिए उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता । ये कठिनाइयाँ दो प्रकार की होती हैं : वैयक्तिक और भाषिक । वैयक्तिक कठिनाई व्यक्ति की अपनी निजी भाषीय अक्षमता, उसके भाषीय शिक्षण की अपर्याप्तता, का परिणाम या द्योतक होती है । यदि कोई व्यक्ति 'अमलतास' या उसका कोई पर्यायवाची शब्द, का प्रयोग नहीं जानता है तो अमलतास के पेड को देखने पर वह उसे 'अमलतास' कहकर नहीं वर्णित कर पाएगा । हो सकता है वह उसके विषय में ठीक-ठीक कुछ भी न कह पाए । किन्तु यह उसकी शिक्षा का दोष है जिसे प्रयत्न द्वारा दूर किया जा सकता है । ऐसी कमियों को दूर करके ही हमारी भाषीय योग्यता का विस्तार होता है । ये अक्षमताएँ भाषा की नहीं, बल्कि भाषा के प्रयोग करनेवालों की होती हैं । उपर्युक्त उदाहरण में उक्त व्यक्ति को 'अमतलास' शब्द का प्रयोग सिखाकर उसकी कठिनाई दूर की जा सकती है ।

भाषिक कठिनाई किसी भाषा विशेष की त्रुटी या अपर्याप्तता का परिणाम होती है । यदि हमारी भाषा में 'अमलतास' या उसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं है, तो अमलतास को हम अमलतास कहकर नहीं वर्णित कर पाएँगे, और यदि उस वृक्ष के लिए कोई अन्य पद भी हमारी भाषा में नहीं है तो उसको किसी नाम से अभिहित नहीं कर सकेंगे । यह कमी हमारी भाषा की होगी और इसे दूर करने के लिए हमें अपनी भाषा में उपर्युक्त पद को लाना पडेगा । हिन्दी की ऐसी स्थिति बहुतों का ध्यान

आकृष्ट कर चुकी है । हिन्दी में विभिन्न विषयों के तकनीकी पदों का कभी अभाव था और आज भी उसकी यह कमी पूरी तरह दूर नहीं हो पाई है । इसे दूर करने का उपाय है हिन्दी में तकनीकी शब्दावली का निर्माण । हर एक भाषा में ऐसी स्थिति आती है जब उसमें किसी चीज या अनुभव के लिए पर्याप्त शब्दावली का अभाव रहता है और नए शब्दों, प्रयोगों, द्वारा उसे दूर किया जाता है ।

वैयक्तिक और भाषिक कठिनाइयाँ स्वाभाविक हैं, उनके चलते भाषा मात्र को अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता । अब तो भाषा विज्ञानियों ने यह सिद्ध कर दिया है कि कोई भी भाषा सिद्धांततः अपूर्ण या अपर्याप्त नहीं है । जिस समुदाय या समाज की वह भाषा होती है, उसकी संप्रेषण की सारी आवश्यकताएँ वह पूरा कर लेती है और जब कभी कोई नई स्थिति या नई माँग होती है तो उसमें इतनी शक्ति रहती है कि नए शब्दों, नए प्रयोगों का उसमें समावेश कर नई आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है । इसलिए यह कहना कि अमुक भाषा अनिवार्यतः अमुक कार्य के लिए अमुक भाव की अभिव्यक्ति के लिए, अक्षम या अपर्याप्त है, गलत है । अंग्रेजी में बर्फ के लिए दो शब्द हैं 'स्नो' और 'आइस', जबकि हिन्दी में एक ही, और एस्किमों की भाषा में दर्जन से भी ज्यादा । किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि हिन्दीवाले 'स्नो' और 'आइस' से व्यक्त होनेवाले अंतर को नहीं व्यक्त कर सकते हैं । तकनीकी पदावली के अभाव से जो लोग यह कहते हैं कि हिन्दी, या कोई अन्य भाषा, तकनीकी ज्ञान को व्यक्त करने में अक्षम है, तो इस अक्षमता को भाषिक, सामयिक अक्षमता के अर्थ में ही लिया जा सकता है जो नई पदावली ओर नए प्रयोगों द्वारा परिहार्य है ।

किन्तु कुछ विचारक विशेषकर रहस्यवादी प्रवृत्तिवाले भाषा को, अर्थात् भाषा मात्र को, एक अत्यधिक गंभीर अर्थ में अपर्याप्त मानते हैं । वे कहते हैं कि कुछ अत्यन्त ही गंभीर, गूढ, सत्य हैं जिन्हें कोई चिंतक अपने अद्वितीय अनुभव द्वारा प्राप्त करता है और ये सत्य, ये अनुभव, ऐसे हैं कि उनको किसी भी भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता । अर्थात् भाषा मात्र इन्हें व्यक्त करने में तर्कतः, अनिवार्यतः, अक्षम रहेगी । जिसे आँख देखती है उसे आँख तो वर्णित कर नहीं सकती क्योंकि उसकी वाणी नहीं है, और जीभ भी नहीं जिसके पास वाणी है क्योंकि वह देख नहीं सकती । तो ऐसे सत्य अनिर्वचनीय ही रहेंगे । भाषा की यह (तथाकथित) अपर्याप्तता दुर्निवार है; वैयक्तिक और भाषिक कठिनाइयों से वह अधिक गंभीर है। यदि रहस्यवादी आक्षेप सत्य है तो किसी भी सुधार से भाषा को रहस्यवादी सत्यों को व्यक्त करने में सक्षम नहीं बनाया जा सकता । भाषा की इस प्रकार की

(तथाकथित) अक्षमता या अपर्याप्तता को रहस्यवादी पारिभाषिक, संप्रत्ययात्मक, बना देता है। उसके लिए भाषा परिभाषत: उसके सत्यों को व्यक्त नहीं कर सकती है।

रहस्यवादी यह भूल जाता है कि जो अर्थपूर्ण है वह परिभाषत: भाषा में व्यक्त हो सकता है, और यदि कभी व्यक्त न हो सकता है तो इसलिए कि कोई वैयक्तिक या भाषिक कठिनाई विद्यमान रहती है। यदि वस्तुत: कोई सत्य भाषा द्वारा पूर्णत:, अनिवार्यत: व्यक्त न हो सकनेवाला है तो उसकी चर्चा भी हम नहीं कर सकते। उसके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि वह महत्त्वपूर्ण सत्य, या सत्य है, या यह भी कि उसे व्यक्त करने में भाषा असमर्थ है। उसके विषय में तो चुप्पी साधने के सिवा हम और कुछ नहीं कर सकते। किन्तु रहस्यवादी यह भी मानने पर तैयार नहीं होगा क्योंकि वह अपने सत्यों की चर्चा भी करना चाहता है। वस्तुत: वह वैयक्तिक या भाषिक कठिनाइयों को गलत समझकर, अतिरंजित कर, पारिभाषिक बना डालता है, और भाषा के प्रति दुर्निवार असंतोष का अनुभव करने लगता है। चूँकि उसका आक्षेप भाषा के स्वरूप के विषय में व्यामोह या आश्रित है, उसे यथार्थ नहीं माना जा सकता। यदि सचमुच उसका आक्षेप सत्य होता तो आज रहस्यवादी साहित्य की रचना ही न हुई होती। जैसा कि विटगेंस्टाइन ने कहा है, जब बोल नहीं सकते तो चुप ही तो रहेंगे।

एक और, अत्यंत ही निराधार, पूर्णत: भ्रांत, धारणा कुछ लोगों में घर कर गई है कि जो सत्य या अनुभव कठिनाई से व्यक्त हो सकता है वह आसानी से व्यक्त हो सकनेवाले से अधिक महत्त्वपूर्ण या मूल्यवान होता है। यह पक्षपात उतना ही निराधार है जितना कि यह सोचना कि जो दवा जितनी ही कड़वी होगी वह उतनी ही मुफीद होगी। ऐसे लोग भूल जाते हैं कि अभिव्यक्ति की यथार्थ कठिनाइयाँ, वैयक्तिक या भाषिक दूर की जा सकती हैं, और वे भाषा मात्र को अनिवार्यत:, सदा के लिए, असमर्थ या अपर्याप्त नहीं सिद्ध करतीं। भाषा की अनिवार्य असमर्थता में विश्वास करनेवालों की तर्कना इस प्रकार की होती है : जो जितना अधिक कठिनाई से भाषा में व्यक्त हो सकता है, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण या गंभीर सत्य है, इसलिए जिसके व्यक्त हो सकने की संभावना ही नहीं है, वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा। यह तर्क उतना ही दोषपूर्ण है जितना यह कि जिस स्त्री की कमर जितनी ही पतली होगी वह उतनी सुन्दर होगी, इसलिए जिसे कमर ही न होगी वह सर्वाधिक सुंदरी होगी। स्पष्ट है कि कमर न होने पर वह स्त्री, मनुष्य कहे जानेवाले प्राणि, ही न रह जायगी जिससे उसे सर्वाधिक सुन्दर स्त्री कहने का प्रश्न अनर्गल हो जायगा।

भाषीय अभिव्यक्ति मनुष्य के संप्रेषण, विवेचन-सामर्थ्य, की सीमा है ; जो अनिवार्यत: इस सीमा के बाहर रहनेवाला है उसके विषय में वह कुछ भी नहीं कह सकता, यह भी नहीं कि वह इस सीमा के बाहर है ।

७-कृत्रिम भाषा

तकनीकी भाषा सामान्य भाषा के कंधे पर ही खड़ी होती है । वह अंशत: कृत्रिम होती है क्योंकि उसकी पदावली जान बूझकर सोद्देश्य बनाई जाती है, और कभी-कभी यह भी कहना संभव होता है कि किस पदावली का प्रवर्तक कौन है । सामान्य भाषा के शब्द तो बनते-बदलते रहते हैं, जबकि तकनीकी भाषा के शब्द प्रयत्न करके बनाए जाते हैं । ज्ञान के विभिन्न खण्डों की भाषा में, किसी में कम, किसी में अधिक, तकनीकी पद अनिवार्यत: समाविष्ट रहते हैं क्योंकि प्राय: सामान्य भाषा उनके लिए पर्याप्त नहीं होती । किन्तु ज्ञान की कुछ विशिष्ट प्रक्रियाएँ हैं जिनके लिए एक पूरे भाषा-खण्ड का निर्माण करना पड़ता है । यह भाषा पूर्णत: बनाई हुई, कृत्रिम, होती है । साधारणत: ऐसी ही भाषा के लिए 'कृत्रिम भाषा' का प्रयोग होता है । इसे कृत्रिम इसलिए भी कहते हैं कि इसकी बनावट को सामान्य भाषा के समावेश से मुक्त रखा जाता है और बिलकुल ही कृत्रिम प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है ; ऐसे प्रतीकों का जो सामान्य भाषा के प्रतीक नहीं होते, और सामान्य भाषा की दृष्टि से उनका कोई अर्थ नहीं होता ।

कृत्रिम भाषा का अच्छा नमूना तर्कशास्त्र में मिलता है । तर्कशास्त्र का यह सर्वसम्मत सिद्धांत है कि किसी भी तर्क की वैधता आकारिक होती है, अर्थात् वह उसमें प्रयुक्त प्रतिज्ञप्तियों के आकार पर, न कि उनकी विषय वस्तु पर, निर्भर करती है । यदि किसी विशिष्ट आकारवाला कोई एक तर्क वैध है तो उस आकारवाले सभी तर्क वैध होंगे । किन्तु सामान्य भाषा में व्यक्त तर्कों के आकार प्राय: स्पष्ट नहीं दीख पड़ते । कभी-कभी भिन्न आकारवाले तर्क एक आकारवाले, और एक आकारवाले तर्क भिन्न आकारवाले, जान पडते हैं । उदाहरण के लिए यह तर्क

यदि आज मंगल है, तो मुझे उपास रहना है
आज मंगल है, इसलिए मुझे उपास रहना है (१)

वैध है, और जो भी तर्क इस आकार का होगा वह वैध होगा, उसकी विषय-वस्तु कुछ भी क्यों न हो । निम्नलिखित तर्क भी, भले ही देखने में भिन्न आकार का लगता हो, वस्तुत: इसी आकार का है :

केला मीठा होता है केवल तभी जब पूरी तरह पका होता है और चूँकि यह केला मीठा है इसलिए पूरी तरह पका होगा ही । (२)

यदि 'आज मंगल है' के लिए म, 'मुझे उपास रहना है' के लिए उ, ' केला मीठा होता है' के लिए क 'पूरी तरह पका होता है' के लिए 'प', और 'यदि-तो' के लिए ⊃ प्रतीकों का प्रयोग किया जाय तो

(१) का प्रतीकात्मक रूप होगा ।

म ⊃ उ (१)
म
∴ उ

और (२) का होगा

क ⊃ प (२)
क
∴ प

स्पष्ट है (१) और (२) का आकार एक ही है । अक्षरों का प्रयोग न कर, हम यह भी कह सकते हैं कि १ और २ दोनों का आकार है □ ⊃ ☑, □, ∴ ☑ चूँकि यह आकार वैध है , जब हम किसी भी तर्क को इस आकार में पाएँगे, बिना विचारे भी कह सकते हैं कि वह वैध होगा ।

तर्कों के आकार उनमें प्रयुक्त प्रतिज्ञप्तिओं के आकार द्वारा निर्दिष्ट होते हैं । सामान्य भाषा में व्यक्त प्रतिज्ञप्तिओं के रूप कई बार उनके वास्तविक रूप के सच्चे परिचायक नहीं होते । इसे यों भी कह सकते हैं कि किसी प्रतिज्ञप्ति का व्याकरणिक रूप उसके तार्किक रूप को हमेशा ठीक-ठीक व्यक्त नहीं करता । व्याकरणिक रूप उसके तार्किक रूप को गलत भी दिखा सकता है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित को लें :-

मेरे गांव में ब्राह्मण बहुत हैं । (५)
मेरे गांव में ब्राह्मण गरीब हैं । (५क)
मैंने कल रात मजेदार सपना देखा । (६)
मैंने कल रात मजेदार नाच देखा । (६क)

(५) और (५क) के और (६) और (६क) के व्याकरणिक रूप एक हैं । उनके शब्दों का व्याकरणिक पदच्छेद एक जैसा होगा किन्तु तर्कतः, तार्किक दृष्टि से (५) और (५क), (६) और (६क), के रूप अलग अलग हैं । उदाहरण के लिए (५) और (५क) को लें । (५क) के संदर्भ में ब्राह्मणों की गरीबी के संबंध में, यह प्रश्न हो सकता है कि वे कितने गरीब हैं, किन्तु (५) के संदर्भ में यह प्रश्न निरर्थक है कि वे कितने बहुत हैं । और, यह जानकर कि अमुक ब्राह्मण मेरे गांव का है, मैं

यह निगमित कर सकता हूँ कि वह भी (संभवतः) गरीब ही है, किन्तु यह निगमित करना कि वह (संभवतः) बहुत है, बिना किसी अर्थ का होगा । इसी प्रकार (६) और (६क) के तार्किक अंतर को भी स्पष्ट किया जा सकता है । (६क) के संदर्भ में श्रोता पूछ सकता है । चश्मा लगाकर देखा या बिना चश्मा के ? पत्नी के साथ या अकेले ? आदि आदि । (६) के विषय में ऐसे प्रश्न कर देखे : वे निश्चित रूप से वे सिर-पैर के ही लगेंगे । एक ही व्याकरणिक आकार का कोई वाक्य सार्थक और कोई निरर्थक भी हो सकता है जैसे –

मेरा सरदर्द बहुत तेज है (७)

मेरा सरदर्द बहुत लाल है (७क)

(७) अर्थपूर्ण है किन्तु (७क) अर्थहीन, जबकि दोनों व्याकरण सम्मत हैं । हिन्दी व्याकरण का कोई ऐसा नियम नहीं है जो (७क) व्याकरण, वाक्य-रचना, की दृष्टि से गलत या अशुद्ध बता पाते । ऐसे वाक्यों को नियम विरुद्ध सिद्ध करना केवल व्याकरण या वाक्य-रचना के नियमों के आधार पर संभव नहीं है ।

इस प्रकार तर्कशास्त्री देखता है कि सामान्य भाषा तर्कशास्त्र की दृष्टि से संतोषप्रद नहीं है । तर्कों के वास्तविक आकार को वह सदा स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं करती, जिसके फलस्वरूप उनकी वैधता-अवैधता की पहचान कठिन हो जाती है और उनके विषय में भ्रम की संभावना बढ जाती है । सामान्य भाषा के वाक्य अपने द्वारा व्यक्त प्रतिज्ञप्तियों के रूप को भी हमेशा ठीक-ठीक नहीं बतलाते । एक ही प्रकार के व्याकरणिक रूप विभिन्न प्रकार की प्रतिज्ञप्तियाँ जैसे (८) 'राम हिन्दू है', (९) 'ब्राह्मण हिन्दु है', (१०) 'राम ईमानदार है; आदि को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किए जाते हैं । (८) में व्यक्त प्रतिज्ञप्ति का तथ्य है कि राम हिन्दु-वर्ग का सदस्य है, (९) का कि 'ब्राह्मण'-वर्ग 'हिन्दु' वर्ग का एक उपवर्ग है, और (१०) का कि राम 'ईमानदारी'-नामक गुण से विशिष्ट है । किन्तु व्याकरणिक रूप तीनों का एक जैसा ही है । सार्थक और निरर्थक वाक्य भी एक ही भाषीय आकार के हो सकते है, और एक ही प्रकार के नियमों से अनुशासित भी ।

सामान्य भाषा के बहुत सारे पद अनेक अर्थवाले, अनिश्चित अर्थवाले, और रागात्मक अर्थवाले भी होते हैं । तर्कशास्त्र की दृष्टि से ये भाषीय दोष हैं, और तार्किक, वैज्ञानिक, चिंतन में बाधक भी होते हैं । इन और उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त, सामान्य भाषा में व्यक्त किए गए तर्कों का आकार लम्बा भी होता है, और कभी-कभी इतना लम्बा कि उसके निर्णायक वाक्यों के पारस्परिक संबंधों, तार्किक व्यापारों, को ठीक-ठीक पहचान लेना अत्यन्त ही दुष्कार हो जाता है । वाक्य-रचना

के सारे नियम भी स्पष्ट रूप में लभ्य नहीं होते, और वाक्यों के रूपांतर के नियम, एक वाक्य से दूसरे वाक्य को निष्कृष्ट करने के नियम भी, सभी स्पष्ट नहीं रहते। (११) 'हिमालय दुर्लंघ्य पर्वत है' से तो यह निष्कृष्ट किया जा सकता है कि 'हिमालय' नामक कोई पर्वत है क्योंकि जब इस नाम का पर्वत ही न होगा तो वह दुर्लंघ्य कैसे होगा ? किन्तु (१२) 'रावण काल्पनिक दैत्य है' से यह निष्कृष्ट करना गलत है कि 'रावण' नाम का कोई दैत्य है, क्योंकि यदि है तो फिर काल्पनिक कैसे होगा ? किंतु सामान्य भाषा के स्तर पर, जिसके ये दोनों (११) और (१२) वाक्य हैं, इस समस्या का समाधान नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्यों के पारस्परिक संबंधों को अनुशासित करनेवाले नियमों का स्पष्ट विवेचन इस स्तर पर लभ्य नहीं होता।

अतः तर्कशास्त्री सामान्य भाषा को अपने कार्य के लिए, तर्कशास्त्र के प्रतिपादन के लिए, अपर्याप्त पाता है। वह कृत्रिम भाषा का निर्माण करता है जिसमें सामान्य भाषा के शब्दों के बदले कृत्रिम प्रतीकों जैसे 'यदि-तो' के लिए $\supset$, वियोजन के लिए V, संयोजन के लिए., आदि का प्रयोग होता है। वाक्य-रचना के, विभिन्न संप्रत्ययों के पारस्परिक संबंधों के, वाक्यों के रूपांतरण के, सभी नियम, पूर्णतः स्पष्ट और सुनिश्चित रूप में प्रतिपादित कर लिए जाते हैं, और उनकी संख्या भी सदा के लिए स्थिर कर दी जाती है। शब्दबद्ध वाक्यों के बदले भी प्रतीक प्रयुक्त होते हैं जो अक्षर या चिह्न मात्र होते हैं।

कृत्रिम भाषा के प्रतीक लोक व्यवहार से न लिए जाकर बिलकुल अर्थशून्य चिह्न होते हैं ताकि उन्हें मनचाहा अर्थ दिया जा सके। चूँकि उनके पिछे कोई भाषीय परंपरा या प्रचलन नहीं होते, वे अपने अंदर किसी प्रकार के पूर्वग्रह को छिपाए नहीं रहते। यही कारण है कि उनके प्रयोग पर हमारा पूरा नियंत्रण रहता है, हम उन्हें जिस अर्थ का वाहक चाहे बना सकते हैं। इससे यह भी निष्कृष्ट होता है कि अनेक कृत्रिम भाषाएँ बनाई जा सकती हैं। वस्तुतः तर्कशास्त्रीयों ने कई तार्किक कृत्रिम भाषाएँ बनाई भी हैं। इन भाषाओं में किसी को किसी से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि कोई किसी से अधिक सरल, व्यापक, सुगठित, सुरूप, सौंदर्य बोघ को भानेवाली हो।

कृत्रिम भाषा बंद समष्टि होती है। उसमें सब सुनिश्चित, एकार्थक, होता है और किसी भी प्रतीक का कोई रागात्मक पक्ष या कार्य नहीं होता। यह तय करने के लिए ही प्रतीकों की कोई लडी सुगठित, नियमानुकूल, है या नहीं, निश्चित परिभाषएँ बनी होती है। सामान्य भाषा में 'वाक्य' को परिभाषित करना कितना कठिन है किन्तु कृत्रिम भाषाओं में वाक्यता के निर्णायक सुनिश्चित नियम लिए गए होते हैं जिनके

माध्यम से प्रतीकों के समूहों की वाक्यता या न-वाक्यता निर्विवाद रूप में स्थिर की जा सकती है ।

कृत्रिम भाषा सामान्य शब्दावली से रहित होती है इसलिए इसका कोई अर्थ नहीं किया जा सकता जब तक कि ऐसे नियम न दिए जाय जिनके माध्यम से किसी कृत्रिम वाक्य या फार्मुला का अनुवाद सामान्य भाषा की शब्दावली में किया जा सके। ये अनुवाद, व्याख्या, के नियम ही कृत्रिम भाषा का सामान्य भाषा से संबंध जोडते हैं । स्पष्ट है कि कृत्रिम भाषा किसी विशिष्ट तकनीकी लक्ष्य को पूरा करने के लिए, जैसे तर्कशास्त्र के प्रतिपादन के लिए, बनाई जाती है । इससे सामान्य संप्रेषण, सामाजिक जीवन के भाषीय कार्य-व्यापार, नहीं संपन्न किए जा सकते । उसके लिए तो सामान्य भाषा ही एक मात्र साधन है । जो तर्कशास्त्र, विज्ञान की तकनीकी, दृष्टि से उसके दोष हैं, जैसे अनेकार्थकता, अनिश्चितता, रागात्मकता आदि, वे संप्रेषण की दृष्टि से उसकी समृद्धि, बहुमुखी उपयोगिता, के कारण बनते हैं । भाषा का अलंकरण बहुत कुछ इन तकनीकी दोषों के अस्तित्व से ही संभव और प्रभावी बन पाता है ।

स्टेडिअम मेन गेट के सामने
प्रेमचंद पथ, राजेन्द्र नगर
पटना (बिहार) ८०००१६

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

★

शुद्धिपत्र

खंड २०, अंक ३ (जून १९९९) के अंक में पृष्ठ ३२ के आगे और पृष्ठ ३३ के पहले का कुछ अंश छपाई में रह गया है। वह यहाँ सुविधाके लिए दिया है। वाचक इस पर ध्यान देने की कृपा करें।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकार संयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।१७-५।।
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं ताचिद्धयासुरनिश्चयान् ।।१७-६।।

दंभ, अहंकार, काम और आसक्ति से युक्त होकर कुछ लोक शास्त्रविहीन घोर तप करते हैं। वे अपने शरीरान्तर्गत पंचमहाभूतों को ही नहीं परन्तु अन्तस्थ मुझको भी कष्ट देते हैं।

काम का धार्मिक रूप

अन्त में हम काम को धर्मानुरूप बनाने की आवश्यकता कैसी है इसका गीता का अभिप्राय जान लेंगे। इसका विविध रूप में अभ्यास जगह जगह में गीता में आता है।

यह बात सर्वविदित है कि मनुष्य के चार पुरुषार्थ होते हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। अर्थात् काम का स्थान और धर्म का स्थान साथ साथ ही रहता है। दोनों पुरुषार्थ है, इससे प्रमाणित होता है कि काम मूलमें और मूल से ही कदापि त्याज्य नहीं माना है। अधर्मरूप काम सर्वथा त्याज्य है, यह हमने देखा है। परंतु धर्मरूप काम है वह स्वीकार्य है, इतना ही नहीं वह प्राप्तव्य अर्थ, याने की पुरुषार्थ बन जाता है।

सातवें अध्याय में ईश्वर की कुछ विभूतियाँ का वर्णन इस प्रकार आता है।

बलं बलवतामस्मि ----- पृष्ठ ३३ पर आरंभ

डेविड ह्यूम के नैतिक चिन्तन में 'परोपकार' की अवधारणा

स्व से भिन्न किसी अन्य से लगाव और उसके कल्याण की भावना किसी भी नैतिक चिन्तन का अनिवार्य तत्त्व है ।[1] सम्भवतः यही कारण है कि किसी भी धार्मिक व नैतिक चिन्तन में 'परोपकार' की अवधारणा अवश्य एवं प्रभावी होती है । डेविड ह्यूम (1711-1776) अपने नैतिक विचारों[2] की विवेचना में 'परोपकार' को एक सामाजिक गुण एवं परोपकारवृत्ति को नैतिकता का स्रोत या मूल आधार[3] मानते हैं । अपने अनन्तिम अनुभववादी ज्ञानमीमांसा के सामञ्जस्य में ह्यूम 'परोपकार' को मानव की स्वीकृति तथा व्यक्तिगत भावनाओं यथा- प्रेम, करुणा व सहानुभूति से उद्भूत मानते हैं ।[4] यहाँ हम डेविड ह्यूम के 'परोपकार' की अवधारणा को प्रेम, न्याय व सामाजिक गुणों की अवधारणा के परिप्रेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयास करेंगे । साथ ही यह भी दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि व्यक्ति केन्द्रित नैतिक चिन्तन में 'परोपकार' की अवधारणा किस प्रकार आत्मविरोधी तर्कों में फँस जाती है ? नैतिक चिन्तन में परोपकार का जो अर्थ लिया जाना चाहिए, वह लगभग विलुप्त हो जाता है । परन्तु, आलोचनात्मक पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम 'परोपकार' पर ह्यूम के विचारों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत करें । अतः सर्वप्रथम हम ह्यूम की कृति- 'ए ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर' एवं 'एन एन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग एण्ड प्रिन्सिपल्स ऑफ मॉरल्स' में विवेचित 'परोपकार' सम्बन्धी उनके विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे ।

ह्यूम का नैतिक चिन्तन व्यक्ति-केन्द्रित है और यदि व्यक्ति स्व से इतर किसी अन्य के कल्याण की कामना करता है तो यह व्यक्ति के बौद्धिक चिन्तन का परिणाम न होकर उसकी व्यावहारिक व आनुभाविक आवश्यकता का परिणाम होता है । ह्यूम के मतानुसार व्यक्ति को अपने हितों की पूर्ति हेतु उसे सहयोग व सद्भावना की आवश्यकता पडती है साथ ही व्यक्ति को मूलरूप से आत्मप्रशंसा की इच्छा होती है । उपरोक्त दो कारणों से व्यक्ति 'परोपकार वृत्ति' की ओर प्रेरित होता है-ऐसा डेविड ह्यूम का विचार है । सहयोग, सद्भाव व प्रशंसा के अभाव में

व्यक्ति नितान्त अकेला पड जाता है और इस अकेलेपन की तीव्र अनुभूति उसके लिए असहाय हो जाती है । इस सन्दर्भ में ह्यूम लिखते हैं- ''हमारे मन में ऐसी कोई इच्छा नहीं हो सकती है, जिसका समाज से सम्बन्ध न हो । पूर्ण अकेलापन हमारे लिए शायद सबसे बडा दण्ड है । दूसरों के सहयोग के बिना प्रत्येक सुख व्यर्थ तथा प्रत्येक दुख और अधिक असह्य हो जाता है ।''[5] वह पुनः कहते हैं कि व्यक्ति की सेवा में प्रकृति के समस्त साधनों के उपस्थित होने पर भी वह तब तक दुखी रहेगा, जब तक उसे कम से कम एक ऐसे व्यक्ति का साथ न मिल जाय, जिसके साथ वह अपना सुख बाँट सके और जिसकी मैत्री का वह आनन्द प्राप्त कर सके।[6]

यद्यपि मानव को स्व से भिन्न व्यक्ति की आवश्यकता है, क्योंकि वह उससे सहयोग, सद्भाव व प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, परन्तु वह अन्य मानव से अपने सम्बन्धों व लगाव को तर्कबुद्धि के माध्यम से निर्धारित नहीं करता है क्योंकि ह्यूम के मतानुसार तर्कबुद्धि नहीं अपितु मनोवेग सर्वोच्च निर्णायिका होगी व तर्कबुद्धि मात्र उसका अनुपालन करेगी । इस सन्दर्भ में ह्यूम अपना स्पष्ट मत निम्न शब्दों में व्यक्त करते हैं- ''तर्कबुद्धि मनोवेगों की सेविका मात्र है तथा होनी भी चाहिए और इन मनोवेगों की सेवा एवं आज्ञा में रहने के अतिरिक्त उसे अन्य कोई पद प्राप्त करने का अधिकार नहीं है ।''[7]

यहाँ यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि ह्यूम के दृष्टिकोण 'तर्कबुद्धि' का तात्पर्य किसी 'जन्मजात क्षमता' से है, जिसका खण्डन जॉन लॉक [8] ने पहले ही कर दिया था । साथ ही ह्यूम 'तर्कबुद्धि' को सदियों से उपलब्ध अनुभव से निष्कर्षित किसी ऐसे सार्वभौमिक तर्कवाक्य की अनिवार्यता से भी नहीं जोडते हैं, जिसमें आगत समस्त यथोचित सन्दर्भों में सत्य प्रमाणित होने की क्षमता हो ।[9] इस प्रकार का कोई भी ज्ञान मात्र 'विचारों के सम्बन्धों' की सीमा में ही सम्भव है, जिसके तर्क वाक्य पुनरुक्ति मात्र होते हैं । चूंकि ह्यूम के मतानुसार व्यवहारात्मक एवं तथ्यात्मक परिप्रेक्ष्य में पृथक् एवं असम्बद्ध इन्द्रिय-संवेदन ही हैं और यही संवेदन मानवीय मनोवेगों के कारण भी है, अत: 'परोपकार' वृत्ति का निर्धारण एवं विवेचन दोनों ही तर्कबुद्धि के माध्यम से सम्भव नहीं है । उपरोक्त पृष्ठभूमि में ह्यूम 'परोपकारवृत्ति' का उद्भव एवं विकास भी मनुष्य की मूल वृत्ति प्रेम से दिखाते हैं। उसके मतानुसार प्रेम और घृणा क्रमशः व्यक्ति के मन में करुणा और दुर्भावना उत्पन्न करते हैं, जिससे परोपकार एवं क्रोध वृत्ति का विकास होता है । प्रेम व घृणा का क्रमशः परोपकार व क्रोध से सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए ह्यूम कहते हैं-

"प्रेम और घृणा के आवेगों के पश्चात् हमेशा परोपकार और क्रोध के भाव उत्पन्न होते हैं, या यूँ कहिए कि ये प्रेम व घृणा के साथ संयुक्त होते हैं।"[10]

ह्यूम अपने ज्ञानमीमांसीय एवं तत्त्वमीमांसीय विवेचन में कारण व कार्य के बीच किसी अनिवार्य सम्बन्ध के विचार का खण्डन करते हैं; परन्तु उपरोक्त अनुच्छेद में 'हमेशा' शब्द का प्रयोग ह्यूम के अपने ही सिद्धांतो के विरुद्ध होने का आभास देता है। परन्तु ह्यूम यहाँ आवश्यकता से अधिक सतर्क हैं, इसलिए वे प्रेम व परोपकार; घृणा और क्रोध में न केवल भिन्नता दिखाते हैं अपितु वे इन्हें अनिवार्यत: सम्बद्ध न मानकर केवल संयुक्त मानते हैं, जैसा कि वे लिखते हैं- "परोपकार और क्रोध के आवेश, प्रेम और घृणा से भिन्न होते हैं और मन की मूल रचना द्वारा वे केवल उनसे संयुक्त होते हैं।"[11]

ह्यूम के मतानुसार मानवीय मन में प्रेम से करुणा का उद्भव होता है और परोपकारी वृत्ती करुणामय सहानुभूति से निर्देशित होती है। अत: यहाँ सहानुभूति की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका बन जाती है। वह सहानुभूति ही है जिसके कारण व्यक्ति अपने स्वार्थों की सीमा से कुछ क्षण के लिए बाहर निकलकर अन्य के सुख-दुख से प्रभावित हो उठता है और सहानुभूति के कारण ही वह समाज की इतनी अधिक चिन्ता करने लगता है और यह सहानुभूति ही व्यक्ति को उसके अहम् से बाहर निकालकर दूसरों के सुख-दुख को स्वयं उसके सुख-दुख के रूप में अनुभव करने के लिए प्रेरित करती है।[12]

प्रेम-करुणा-सहानुभूती से उद्भूत परोपकार की विवेचना के पश्चात् परोपकार की व्याख्या सुख व आत्म-प्रेम के सन्दर्भ में करते हैं। यहाँ वे प्रिय व्यक्ति के सुख और दुख का सन्दर्भ भी लेते हैं, उनके मतानुसार 'परोपकार' एक मूल सुख है जिसकी उत्पत्ति प्रिय व्यक्ति के सुख से होती है और साथ ही एक ऐसा दुख भी जिसकी उत्पत्ति प्रिय के दुख से होती है[13]। परन्तु प्रिय व्यक्ति के सुख-दुख तभी प्रभावित करते हैं जब उनके संस्कारों से ज्ञान एवं समान अनुभूति संभव हो। ह्यूम के मतानुसार अन्य व्यक्ति के संस्कारों की अनुभूति की तीव्रता परोपकारवृत्ति उत्पन्न करती है, क्योंकि "परोपकार के अनुरूप आवेश की गति के लिए यह अनिवार्य है कि हम उस व्यक्ति के संस्कारों के अनुरूप ही इन दोनों संस्कारों का अनुभव करें, जो हमारे ध्यान में हैं और इसके लिए केवल एक ही संस्कार पर्याप्त नहीं होगा।"[14]

ह्यूम इस तथ्य का सम्यक्‌रूपेण निरूपण करते हैं कि यद्यपि 'परोपकार' प्रिय व्यक्ति से सम्बद्ध होता है, परन्तु अत्यधिक विपत्ति होने पर अपरिचित के प्रति भी सहानुभूति के माध्यम से परोपकारी वृत्ति की अनुभूति होती है। दूसरे शब्दों में प्रिय

व्यक्ति के कम विपत्ति की अनुभूति भी तीव्र हो सकती है, परन्तु अपरिचित व्यक्ति से सहानुभूति तब होती है जब वह अत्यधिक कष्ट में हो। अतः व्यक्ति की व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता यहाँ अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। ह्यूम स्पष्ट शब्दों में इसे अभिव्यक्त भी करते हैं- "....परोपकारी वृत्ति की उत्पत्ति या तो अत्यधिक विपत्ति से होती है या फिर विपत्ति किसी भी मात्रा में हो, किन्तु उसकी तीव्र सहानुभूति द्वारा भी परोपकार वृत्ति उत्पन्न होती है।"[15]

ह्यूम इसे एक उदाहरण से भी स्पष्ट करते हैं - निर्धनता की एक विशेष मात्रा से हेय भाव उत्पन्न होता है, किन्तु निर्धनता की इससे अधिक मात्रा द्वारा करुणा और सद्भावना उत्पन्न होती है। हम किसी किसान और नौकर की विपत्ति को इतना महत्त्व न देते हों, किन्तु जब किसी भिखारी की विपत्ति बहुत अधिक हो या उसे बहुत सजीव रंगों में उभारा गया हो, तो हम उसके कष्ट के प्रति सहानुभूति अनुभव करते हैं और अपने हृदय में करुणा और परोपकार प्रस्फुटित होते हुए अनुभव करते हैं, किन्तु यदि इसकी मात्रा अलग-अलग हो तो उसी वस्तु से विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं।[16]

ह्यूम का उपरोक्त निष्कर्ष व्यावहारिक अनुभव पर आधारित है। प्रायः ऐसा होता है कि परिचित और प्रिय व्यक्ति का दुख एक सीमा से कम है तो उसके प्रति उसे ही उत्तरदायी मान लिया जाता है, परन्तु अन्य व्यक्ति का दुख इतना अधिक है कि वह निर्बल, लाचार और असहाय प्रतीत हो तभी उसके प्रति करुणा-सहानुभूति और इसी क्रम में परोपकार की भावना का उदय होता है।

ह्यूम इस बात को स्वीकार करते हैं कि अभिमान और महत्त्वाकांक्षा के समान ही 'परोपकार' व सहानुभूति भी सभी व्यक्तियों की मूलभूत इच्छा है। किन्तु जहाँ अभिमान एवं महत्त्वाकांक्षा की इच्छा मानव को अमानवीय व्यवहार तक पहुँचा देता है, परोपकार एवं सहानुभूति के सन्दर्भ में उसका व्यवहार मानवता से ओत-प्रोत होता है और उनका मानना है कि इसलिए नैतिकता के आधार के रूप में इसका अनुमोदन करना चाहिए- ".... यद्यपि यह मानवता की भावना (परोपकार) अभिमान एवं महत्त्वाकांक्षा के समान प्रबल नहीं मानी जाती है, फिर भी सभी व्यक्तियों में विद्यमान होने के कारण केवल यही भावना नैतिकता की आधारशिला हो सकती है। जो आचरण मुझमे विद्यमान मानवता की भावना के कारण मेरा अनुमोदन प्राप्त करता है, वही आचरण अन्य सभी व्यक्तियों में विद्यमान इसी भावना के कारण उनका भी अनुमोदन प्राप्त कर लेता है।"[17]

सी. डी. ब्रॉड ने उपरोक्त तथ्य का विस्तृत विवेचन किया है और यह दिखाने

का प्रयास किया है कि 'परोपकार' जैसे मनोभाव की आवश्यकता 'स्वीकृति' के लिए अपरिहार्य है। इस स्वीकृति व अस्वीकृति के संवेगों को अनुगत करने वाली प्रवृत्ति ही नैतिक मनोभाव है एवं इस नैतिक मनोभाव के कारण के रूप में परोपकार के मनोभाव को स्वीकार करते हैं - "मनुष्यों में ये मनोभाव जो दिशा पकडते हैं उनका कारण बतलाने के लिए ह्यूम मानता है कि उनमें दूसरे मनोभाव का अस्तित्व स्वीकार करना आवश्यक है, जिसे वह परोपकार का मनोभाव या मानवता का मनोभाव कहता है।" यद्यपि सी. डी. ब्रौड भी ह्यूम की सम्पूर्ण नैतिकता का आधार परोपकार मानते हैं, परन्तु अपने अन्तिम निष्कर्ष में वे अपने को ह्यूम से सहमत नहीं पाते हैं।[18]

ट्रिटाइज में ह्यूम 'परोपकार' की संरचना का कारण एवं उद्भवका विस्तृत विवेचन करते हैं, जब कि इन्क्वायरीज में वे 'परोपकार' को सामाजिक प्रतिप्रेक्ष्य में विवेचित करने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार परोपकारी समाज एवं व्यक्ति दोनों के लिए लाभकारी होता है। यहाँ ह्यूम का विचार शेक्सपीयर के 'दया'सम्बन्धी विवेचन से साम्य रखता है जिसमें वे 'दया' को कर्ता एवं प्राप्तकर्ता दोनों के लिए उपयोगी एवं प्रसन्नतादायक बताते हैं। ह्यूम के मतानुसार " 'परोपकार' से अधिक किसी अन्य क्षेत्र में मानव को महानता नहीं प्राप्त हो सकती है, क्योंकि यह पूरे समाज में प्रसन्नता प्रसारित करती है और सबके लिए लाभकारी होती है।"[19] ह्यूम पुनः कहते हैं कि यदि सभी व्यक्तियों में परोपकार वृत्ति समानरूप से पायी जाय और अपने से अधिक अन्य के बारे में सोचें तो न कोई संघर्ष होगा और न ही न्याय की आवश्यकता होगी।[20] डेविड ह्यूम सामाजिक गुण के रूप में परोपकार की तुलना उस दीवार से करते हैं, जो अनेकों लोगों द्वारा बनायी गयी है, अभी भी उस पर रखे जा रहे प्रत्येक पत्थर से उसके उस विकास का क्रम जारी है, जिसमें प्रत्येक श्रमिक को उसके कर्म के अनुपात में प्रतिफल भी मिलता है।[21] ह्यूम के नैतिक चिंतन में परोपकार इतना महत्त्वपूर्ण है कि यदि सद्भाव से इसका पालन हो तो न्याय की आवश्यकता ही नहीं होगी, परन्तु इससे न्याय का महत्त्व कम नहीं होता है। उनके अनुसार परोपकार व न्याय दोनों ही समाज में प्रसन्नता प्रसारित करते हैं। परन्तु परोपकार और न्याय में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है कि परोपकार में कर्ता के लिए किसी अन्य की सहमति की आवश्यकता नहीं होती है, जबकि न्याय में आवश्यक है कि न्यायकर्ता के साथ वादी-प्रतिवादी भी निर्णय से सहमत हो अन्यथा न्याय निरर्थक हो जायेगा। इसे ह्यूम एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं -न्याय एवं इसके उपवर्गों की तुलना उस भवन से की जा सकती है, जिसका एक-एक पत्थर

पृथक् होकर गिर जायेगा, यदि सम्पूर्ण ढाँचे को आपसी सहयोग एवं समझौते से बनाये न रखा जाय।''[22]

अनेक समकालीन दार्शनिकों ने ह्यूम के नीति सम्बन्धी विचारों को स्वीकार करते हुए उसे अपने चिन्तन का आधार बनाया। सी. एल. स्टीवेशंन ने ह्यूम के निष्कर्षों को पूरी तरह स्वीकार्य माना क्योंकि उनके अनुसार- 'सभी परम्परागत दार्शनिकों में से ह्यूम ने ही सर्वाधिक स्पष्ट रूप से वे प्रश्न उठाये हैं जो हमारे सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं उन्होंने लगभग वही निष्कर्ष निकाला जो हमें स्वीकार्य हो।[23] इसी वर्ग के आर. एम. हेयर व जी. एच. नावल स्मिथ का नाम भी रखा जा सकता है।

अब प्रश्न यह है कि क्या परोपकारित परोपकार आधारित ह्यूम के नैतिक सिद्धान्त, प्रेम, आत्मप्रेम, सामाजिक गुण एवं न्याय के सन्दर्भ में ह्यूम के विचार वस्तुतः स्वीकार्य हैं ? प्रथम आपत्ति तो यह है कि क्या 'परोपकार' का आधार प्रशंसा पाने की इच्छा है ? क्या व्यावहारिक जीवन में कोई भी व्यक्ति लाभ-हानि का विचार किये बिना प्रशंसा के लिए परोपकारवृत्ति की ओर प्रेरित होता है ? दूसरी, 'परोपकार' भी एक मनोवृत्ति है और मनोवृत्ति परिवर्तित होती रहती है, अनुकूल परिस्थितियों में परोपकार वृत्ति का उद्भव होता है, परन्तु प्रायः ऐसा भी होता है कि अत्यन्त विपत्ति में पडे व्यक्ति को छोडकर व्यक्ति अपना तुच्छ से तुच्छ कार्य करने के लिए निकल पडता है? ऐसी अवस्था में आपत्तियों का प्रत्युत्तर ह्यूम के विचारों की सीमा में नहीं दिया जा सकता है। यहाँ बटलर के 'परोपकार' सम्बन्धी सिद्धान्त का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। स्वार्थ और परोपकार के संघर्ष में वे निर्णायिका मनोवेग को न मानकर 'अन्तःप्रज्ञा' को मानते हैं, अतः अनुभाविक यथार्थ के प्रश्न उनके सामने तुलनात्मक रूप से कम आते हैं, यद्यपि विषयनिष्ठता के आरोप से भी मुक्त नहीं होते हैं।

सामाजिक गुण के परोपकार के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता है, परन्तु सम्पूर्ण नैतिकता का आधार 'परोपकारवृत्ति' को मान लेना समीचीन नहीं होगा, क्योंकि ऐसा करने से नीतिशास्त्रीय चिन्तन में इतने व्यक्तिगत निर्णय होंगे कि वस्तुतः नैतिकता के वास्तविक अर्थ को बनाये नहीं रख पायेगा[24] एवं ठीक वही निष्कर्ष आयेगा- जैसे कि 'परोपकार' जैसी कल्याणकारी वृत्ति आत्मप्रशंसा हेतु, प्रेम, करुणा व सहानुभूति के त्रिकोण में बंध जाती है और परोपकार का वास्तविक अर्थ विलुप्त हो जाता है। आर्य सभ्यता[25] से ही 'परोपकार' एक ऐसा सद्गुण माना गया, जो बिना किसी इच्छा और अपेक्षा के ही अनुभूत की जाती है और उसी के अनुसार

परोपकार के क्रिया-कलाप निर्धारित होते हैं। दूसरे शब्दों में 'परोपकार क्षणिक् मनोवेगों से उद्वेलित आवेश में किया गया कार्य न होकर मानवीय गुण है, जिसकी अभिव्यक्ति एवं कृति अपूर्व सन्तोष प्रदान करती है।

डेविड ह्यूम द्वारा प्रस्तुत 'परोपकारवृत्ति' की विवेचना पूर्णत: मनोवैज्ञानिक है, परन्तु यह विवेचन इस तथ्य को बिल्कुल अछूता छोड देता है कि 'जो एक लिए वरदान है वही दूसरे के लिए बाधा बनेगी।'[26] "यह वास्तविक अनुभव भी बताता है। यदि परोपकार किसी अपेक्षा से निर्देशित हो, चाहे वह आत्मप्रशंसा की इच्छा ही क्यों न हो, तो अपेक्षा पूरी न होने पर प्राय: दोषारोपण प्रारम्भ हो जाता है। अत: निष्कर्ष स्वरूप यह कह सकते हैं कि इच्छा आवश्यकता, सुख परोपकार, सहानुभूति जैसे प्रत्ययों के अभाव में नैतिक निर्णयों व प्रत्ययों को समझा नहीं जा सकता है।"[27] परन्तु इन्हीं प्रत्ययों को नैतिकता या नैतिकता का मुख्य आधार मानना उचित नहीं होगा।

दर्शनशास्त्र विभाग
हे.न.ब. गढवाल विश्वविद्यालय
श्रीनगर (गढवाल)

डॉ. इन्दु पाण्डेय

टिप्पणियाँ

1. **राजेन्द्र प्रसाद- 'एप्लाइंग एथिक्स मोड्स, मोटिव्स एण्ड लेवल्स ऑफ कमिटमेंट'** जर्नल ऑफ इंडियन काउंसिल ऑफ फिलॉसाफिकल रिसर्च Vol. XIV 1977 No. 2 p. 2
2. **ह्यूम** द्वारा ट्रिटाइज एवं एन्क्वायरीज में वर्णित विचार
3. **वेद प्रकाश शर्मा-** डेविड ह्यूम का दर्शन, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पृ. 70
4. **डेविड ह्यूम-** ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर पुस्तक, दो पृ. 341
5. उपरोक्त पृ. 363
6. उपरोक्त
7. उपरोक्त पृ. 415
8. **जॉन लॉक-** एन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, पृ. 16
9. **मॉरिस कार्नफोर्थ-** डायलेक्टिकल मेटेरियालिज्म - पृ. 432

10. **डेविड ह्यूम,** ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर, पृ. 328
11. उपरोक्त
12. उपरोक्त- ट्रिटाइज ऑफ ह्यूमन नेचर, पुस्तक ३, पृ. 579
13. उपरोक्त- पुस्तक २, पृ. ३४५
14. उपरोक्त
15. उपरोक्त पृ. ३४६
16. उपरोक्त
17. **डेविड ह्यूम-** एन एन्क्वायरी कन्सर्निंग ह्यूम अण्डरस्टैंडिंग एण्ड कन्सर्निंग प्रिन्सिपल्स ऑफ मारल्स, पृ. 111-112
18. **सी. डी. ब्रौड -** नीतिशास्त्रीय सिद्धान्त के पाँच प्रकार, पृ. 78
19. **डेविड ह्यूम,** एन्क्वायरीज- पृ. 181
20. उपरोक्त पृ. 303
21. उपरोक्त पृ. 305
22. उपरोक्त पृ. 305
23. **सी. एल. स्टीवेंशन-** एथिक्स एण्ड लैंग्वेज, पृ 273
24. **सुमन गुप्ता-** द अरिंजन एण्ड थ्योरी ऑफ लिग्विस्टिक फिलॉसफी, पृ. 61-63
25. **छाया राय,** भारतीय नीतिशास्त्र का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य, निबन्ध, दार्शनिक त्रैमासिक, जनवरी-दिसम्बर 1989. पृ. 77
26. **कार्ल मार्क्स एण्ड एंगल्स-** सिलेक्टेड वर्क्स- Vol. I. p 126 1969
27. ए. सी. मैकिन्टायर 'ह्यूम आन इज एण्ड आर्ट' निबन्ध- फिलॉसोफिकल रिव्यू- 1959. पृ 455-63 (डेविड ह्यूम का दर्शन में वेद प्रकाश वर्मा द्वारा उद्धृत) पृ. 78

★

'कोटि-भूल' गिल्बर्ट राइल के विशेष संदर्भ में

('Category-mistake' - With special reference to Gilbert Ryle)

"कोटि" या "तार्किक प्रकार" का प्रत्यय समकालीन दर्शन में सुपरिचित है। अधिकांश दार्शनिक समस्याएँ कोटियों में अस्पष्टता के कारण उत्पन्न होती हैं और यदि प्रश्न से सम्बन्धित प्रत्ययों को उनकी सही कोटियों में रखा जाए तो इन समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। दार्शनिक समस्याओं का स्वरूप भली-भाँति स्पष्ट करने के लिये और सही दार्शनिक विधि के प्रयोग के लिये कोटि-ज्ञान अनिवार्य है। आज समकालीन दर्शन में लोकप्रिय विश्लेषण विधि का आधार भी कोटि का प्रत्यय है।

"कोटि" क्या है ? पहले भी इस प्रत्यय पर विचार होता रहा है। अरस्तु ने कोटियों को सत्ता का परम रूप माना है। यद्यपि उन्होंने कोटि-भूल जैसा सिद्धान्त नहीं दिया फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि दो विभिन्न कोटियों को एक दूसरे से नहीं मिलाया जा सकता। एक कोटि को दूसरे से मिलाना या भ्रमित होना जैसे समय के एक फैलाव को स्थान से मिलाना कोटि-भूल कहा जा सकता है।

अरस्तु के पश्चात् कान्ट ने "कोटि" के प्रत्यय का विशद विवेचन किया और निस्सन्देह उनके विचार अरस्तु से कही ज्यादा विकसित हैं। कोटि को शुद्ध प्रत्यय मानते हुए वे मात्र पदों को ही नहीं बल्कि गुण, मात्रा, सम्बन्ध और आकार चारों को कोटि के अन्तर्गत मानते हैं। संवेदन की विविधताओं पर इन कोटियों के लागू होने के बाद ही संवेदन वस्तुएँ अनुभव में प्रस्तुत एवं ज्ञेय हो सकती है। अतः यदि अरस्तु की कोटियाँ सत्ता के मूलभूत स्वरूपों की एक सूची है तो कान्ट की कोटियाँ विचार के मूलभूत स्वरूप है जो संवेदन की विविधता को एकता प्रदान करती हैं।

समकालीन दर्शन में गिल्बर्ट राइल ने "कोटि" के प्रत्यय की विस्तृत विवेचना की है। उनके अनुसार हम बिना 'कोटि' या 'प्रकार' समझे दार्शनिक समस्याओं और विधियों को नहीं समझ सकते। यहाँ तक कि दर्शन का कार्य ही "कोटि-आदत" को "कोटि-अनुशासन" में बदलना है। "कोटि" शब्द को एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उन्होंने असीमित कोटियाँ मानी हैं।

राइल के कोटि सम्बन्धी विचारों को समझने से पहले कुछ पदों को समझना आवश्यक है । एक वाक्य-संरचना वह अपूर्ण वाक्य है जिसमें वाक्यांशों को भरा जाता है । उदाहरण के लिए ''सुकरात – है'' एक वाक्य नहीं बल्कि वाक्य-संरचना है । राइल के इस उदाहरण में ''अमुक और अमुक बिस्तर में है'' खाली स्थान में संज्ञा, सर्वनाम और वर्णनात्मक शब्द ही भरे जा सकते है ''शनिवार'' शब्द नहीं। उनके शब्दों में ''जब कोई कथन (सत्य या असत्य नहीं बल्कि) निरर्थक या अर्थहीन है, यद्यपि इसकी रचना पारम्परिक और इसकी व्याकरण संरचना नियमित है, हम कहते हैं कि यह निरर्थक है क्योंकि कम से कम एक अंगभूत अभिव्यक्ति इसमें उस कोटि की नही है जो उचित ढंग से इसे इसमें आनेवाले अन्य अंगभूत कथन या कथनों के साथ जोड़ सके । ऐसे वाक्य, हम कह सकते हैं कि कोटि-दोष करते हैं या तार्किक नियम भंग करते हैं ।''[1]

पुनः राइल के अनुसार, ''दो तर्क-वाक्यांश विभिन्न कोटियों या प्रकारों के हैं, यदि एक ऐसा वाक्याकार बना ले जिसमें अंशों की अभिव्यक्तियाँ वैकल्पिक रूप से भरने पर, एक दशा में परिणामी वाक्य सार्थक हो और दूसरी दशा में निरर्थक ।''[2] उदाहरण के लिए ''..... बिस्तर में है'' इस वाक्य-संरचना में यदि हम खाली स्थान में ''सुकरात'' भरते हैं तो एक सार्थक कथन और यदि ''शनिवार'' भरते हैं तो एक निरर्थक कथन प्राप्त होता है । यदि पुनः हम ''सनतायन'' भरें तो एक सार्थक कथन प्राप्त होगा । अतः ''सुकरात'' और ''सनतायन'' एक कोटि का और ''शनिवार'' दूसरी कोटि का शब्द है । यहाँ राइल का यह अभिप्राय नहीं है कि यदि दो अभिव्यक्तियों को एक वाक्याकार में ही एक ही खाली स्थान में भरा जा सके तो वे एक कोटि के हैं । वे केवल इतना कहना चाहते हैं कि यदि हम एक ऐसे वाक्याकार की रचना करते हैं जिसमें एक अभिव्यक्ति खाली स्थान में भरने पर अर्थपूर्ण कथन बनाये और दूसरी भरने पर अर्थहीन, तो दोनों अलग अलग कोटियों के पद होंगें ।

हम ''लाएसाँ''; (liasons) या तार्किक-सम्बन्धों के पदों में भी कोटि-भेद को समझ सकते हैं । ''लाएसाँ'' से तात्पर्य उस तर्कवाक्य के सभी तार्किक सम्बन्धों या उसके आकारिक ढाँचे से है, उस तर्कवाक्य से क्या निगमित होता है, वह किससे निगमित होता है, किससे वह संगत है और किससे असंगत, इत्यादि । यदि दो तर्कवाक्यों में अलग-अलग कोटियों या तार्किक-प्रकारों के तर्क वाक्यांश है तो उनके ''लायजो'' या तार्किक सम्बन्ध भी अलग-अलग होगें ।

जहाँ तक राइल की कोटि-निर्धारण विधि का प्रश्न है, इसमें निस्सन्देह कुछ कमियाँ है । हम प्रो. स्मार्ट का निम्नलिखित उदाहरण लेते हैं । '' ...की सीट कडी

है ।'' यदि हम ''कुर्सी'' या ''बेंच'' भरते हैं तो एक अर्थपूर्ण कथन और यदि ''मेज'' या ''पलंग'' भरते हैं तो एक निरर्थक कथन प्राप्त होता है और स्मार्ट का प्रश्न उचित है ''यदि फर्निचर शब्द एक कोटि नहीं बनाते तो हम पूछ सकते हैं कि क्या बनाते है ।''[3] स्ट्रासन ने भी कई उदाहरण दिये है ।[4] एक वाक्य-संरचना ले लें ''वह - के ऊपर और 33 साल से कम है ।'' पहले ''27'' भरे फिर ''37''। पहली स्थिति में अर्थपूर्ण कथन और दूसरी स्थिति में निरर्थक कथन प्राप्त होता है । इसी तरह ''यह तुम्हारे - नहीं बल्कि तुम्हारे पिता है ।'' जब हम खाली स्थान में ''माता'' भरते हैं तो अर्थपूर्ण कथन और ''पिता'' भरते हैं तो अर्थहीन कथन प्राप्त होता है । इसी तरह इस वाक्य संरचना में - लाल से अधिक राहत पहुँचाने वाला रंग है, ''हरा'' भरने पर सार्थक कथन और ''लाल'' भरने पर निरर्थक कथन प्राप्त होता है । अत: ऐसा प्रतीत होता है '' २७ और ३७'', ''पिता और माता'', ''लाल और हरा'' अलग-अलग कोटियों के पद हैं । पर निश्चय ही राइल की कोटियों की इस प्रकार व्याख्या करना उनके साथ न्याय करना नहीं है । थोडा और सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि राइल का सम्बन्ध वाक्यांशों से नहीं बल्कि एक तर्कवाक्य के अन्य तर्कवाक्य के साथ आकारिक सम्बन्धों से या ''लाएसाँ'' से था। उनकी कसौटी तर्कवाक्यों की आकारिक विशेषताओं में अन्तर दिखाना था न कि उन आकारिक विशेषताओं के वास्तविक उदाहरणों में । ''पलंग की सीट कडी है ।'' यह वाक्य यद्यपि निरर्थक लगता है फिर भी इसके तार्किक सम्बन्ध उसी प्रकार होगें जैसे ''कुर्सी की सीट कडी है'' इस वाक्य के तार्किक सम्बन्ध । इसलिये ''पलंग और कुर्सी'' एक ही कोटि में रखे जायेंगे ।

''कोटि'' की इस विशद व्याख्या से स्पष्ट है कि कोटि-भूल तथ्यात्मक भूल नहीं बल्कि तार्किक भूल है । किसी वाक्यांश के तार्किक प्रकार में भूल करना उसे ऐसी तार्किक शक्तियाँ देना है ज़ो वास्तव में इसकी नहीं है और इसका परिणाम व्याघात होगा । इसीलिये कोटि-भूल दिखाने के लिये राइल ने असंगति- प्रदर्शन युक्ति (reductio ad absurdum) को अत्यधिक महत्त्व दिया है पर यहाँ स्ट्रासन का मत उचित है कि सभी असंगति-प्रदर्शन युक्तियाँ अपने आधार- वाक्यों में कोटि भ्रम नहीं दिखाती है और न ही सभी व्याघात ''कोटि-भूल'' से उत्पन्न होते हैं । उनके इस उदाहरण में ''वह अपनी पुत्री से छोटी है'' शाब्दिक अर्थ में व्याघात है पर कोटि-भ्रम नहीं है जबकि ''संख्या 5 संख्या 2 से दुगनी से ज्यादा लम्बी है'' इस वाक्य में एक कोटि-भ्रम है क्योंकि संख्या की कोटि को सम्बन्ध की कोटि से मिलाया गया है ।

कोटि-निर्धारण की कोई स्पष्ट विधि राइल के सिद्धान्त में न देखते हुए भी हमें राइल से सहमत होना होगा कि कोटि-भूल के कारण विभिन्न दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इतना ही नहीं बल्कि अपने दैनिक जीवन में भी कोई शब्दों के भ्रमजाल में उलझ सकता है। अपनी पुस्तक "मानस का प्रत्यय"; (The Concept of Mind) में राइल ने अत्यन्त रोचक उदाहरण दिये हैं। एक विदेशी कई शैक्षणिक विभाग, लाइब्रेरी, खेल-मैदान, म्यूझियम, प्रयोगशाला और प्रशासनिक दफ्तर देखने के बाद पूछता है कि विश्वविद्यालय कहाँ है ? वह विश्वविद्यालय की कोटि को अन्य देखी गई जगहों से मिलाने की कोटि-भूल कर रहा है क्योंकि विश्वविद्यालय कोई अलग जगह नहीं बल्कि सबका संगठित रूप है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति गेंदबाज, बल्लेबाज, फील्डर, अम्पायर और स्कोरर की क्रियाओं को देखने के बाद पूछता है कि "टीम-भावना" कहाँ है तो वह एक कोटि-भूल करता है। टीम-भावना कोई अलग क्रिया नहीं बल्कि खेल की हर क्रिया में अभिव्यक्त होती है। श्री फ्लयू का उदाहरण लेते हुए "यह अनन्त तक जाता है" की व्याकरण संरचना "यह लन्दन तक जाता है" के समान है इसी तरह "यह अंश है" की संरचना "यह लाल है" के समान है। अब "अनन्त" और "अंश" को लेकर समस्याएँ उठ सकती हैं कि किस अर्थ में ये सत्ता के द्योतक हैं। ऐसी समस्याएँ प्रत्ययों को गलत कोटि में रखने के कारण है।

पुनः डेकार्ट की मनः शरीर सम्बन्ध जैसी दार्शनिक समस्या भी राइल के अनुसार कोटि-भूल का परिणाम है। डेकार्ट मनस् और शरीर को दो पृथक्-पृथक् प्रत्यय मानते हैं। राइल के अनुसार यह "मशीन में प्रेतात्मा का रूढिवादी सिद्धान्त"; (The dogma of the ghost in the machine) है। डेकार्ट मनस् और शरीर दोनों का अस्तित्व मानकर दो अलग-अलग कोटि के पदों का संयोजन करते हैं। इसी तरह प्रत्ययवादी या भौतिकवादी भी कोटि-भूल करते हैं जब वे कहते हैं कि या तो मनस् है या शरीर क्योंकि वे दो अलग-अलग कोटि के पदों का वियोजन करते हैं। राइल का उदाहरण लेते हुए यह कहना हास्यापद होगा "....वह बायें हाथ का दस्ताना, दायें हाथ का दस्ताना और दस्तानों का जोडा लाई।" इसी तरह "वह बायें हाथ का दस्ताना, दायें हाथ का दस्ताना अथवा दस्तानों का जोडा लाई" हास्यापद होगा। मनस् और शरीर दोनों सत्ता के अलग-अलग अर्थ को प्रदर्शित करते हैं जैसे "बढने" का अलग-अलग अर्थ निम्नलिखित वाक्यों में है "ज्वार बढ रहा है", "आशायें बढ रही है" और "मृत्यु की औसत आयु बढ रही है।" जैसे विश्वविद्यालय अपने विभिन्न विभागों का संगठित रूप है उसी तरह मनस् भी एक विशेष प्रकार के

व्यवहार की संभावित या वास्तविक क्रिया है ।

अब हम कुछ अन्य समकालीन दार्शनिकों द्वारा दी गई कोटि-निर्धारण की विधि का उल्लेख करेंगें । प्रो. थाम्पसन के अनुसार हम दो शब्द "लोमडी" और "कौआ" ले लें ।[5] इन दोनों के लिये एक उभयसम विधेय "पशु" है जो इन्हें जहाज, भवन इत्यादि से अलग करता है और हम महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का एक वर्ग बना सकते हैं जो दोनों के लिये लागू होगा । अब यदि "लोमडी" और "संख्या" लें तो सिर्फ "वस्तुएँ" और "चीजें" छोडकर ऐसा कोई भी उभयसम विधेय नहीं मिलेगा जो इन्हें अन्य वस्तुओं से पृथक कर सके । अत: "लोमडी और कौआ" एक कोटि के और "लोमडी और संख्या" अलग-अलग कोटि के पद हैं ।

डोनाल्ड हिलमैन व्याकरण संदर्भ में कोटि का प्रत्यय समझाने का प्रयास करते हैं ।[6] उनके अनुसार बिना किसी पद के प्रयोग को समझे उसकी कोटि नहीं समझी जा सकती है । उदाहरण के लिये "मैं इस- सिनेमा गया।" पहले "शनिवार" भरें और फिर "जॉन" । पहली स्थिति में वाक्य मिलता है और दूसरी स्थिति में अ-वाक्य (Non-sentence) क्योंकि व्याकरण की दृष्टि से खाली स्थान में "जॉन" नहीं भरा जा सकता । अत: "शनिवार" और "जॉन" विभिन्न व्याकरण कोटियों के है और इसीलिये दोनों अलग अलग तार्किक कोटि के पद हैं ।

एक स्पष्ट कोटि-निर्धारण विधि के अभाव में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि कोटि भूल के कारण कई गम्भीर दार्शनिक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं । अपनी पुस्तक "डायलिमास" (Dialemmas) में राईल ने नियतिवाद और अनियतिवाद के विवाद का कारण भी कोटि-भूल दिखाया है । नियतिवाद के अनुसार जो कुछ भी घटित होता है उसका होना पहले से ही निश्चित है । राईल के अनुसार यह एक तरह की भविष्यवाणि या अन्दाजा लगाना है जो घटना घटित होने से पहले न तो सही है न गलत । "सत्य" और "असत्य" कुछ उन विशेषणों के समान है जैसे "मृत्यु", "शोक", "विलुप्त" जो घटना के समाप्त होने पर ही प्रयुक्त होते हैं । "सही" "पूरा होना", ; (fulfilled) की तरह एक फैसला; (Verdict) है न कि वर्णन । दिये गये आधार वाक्यों से निगमित निष्कर्ष में ही तार्किक अनिवार्यता हो सकती है और घटनाएँ निष्कर्ष नहीं है । नियतिवादी घटनाओं के संदर्भ में उन विधेयों को प्रयुक्त करते हैं जो केवल युक्तियों के निष्कर्ष के लिये उचित है ।

कोटि भूल का एक सुन्दर उदाहरण हम कान्ट के प्रत्यय सत्ता युक्ति के खण्डन में देख सकते हैं । एक पूर्ण सत्ता का प्रत्यय जिसका अस्तित्व न हो आत्मत्याघाती नहीं है क्योंकि अस्तित्व एक गुण या विधेय नहीं है । "बिल्लियाँ मांसाहारी हैं" और

"बिल्लियाँ अस्तित्ववान् हैं" दोनों की व्याकरण संरचना समान होने के कारण कोई अस्तित्व को मांसाहारी की तरह एक गुण समझने की भूल कर सकता है और यह भूल कोटि-भूल है। जैसे ही उसे यह बताया जाएगा कि अस्तित्त्व कोई गुण है ही नहीं, समस्या गायब हो जाती है।

कोटि-भूल की यह विवेचना बर्ट्रेण्ड रसेल के तार्किक विरोधाभास का उल्लेख किये अधूरी रहेगी। उन्होंने अत्यन्त सुस्पष्ट ढंग से दिखाया कि कोटि-भूल का परिणाम तार्किक विरोधाभास है। उनके विचार और राईल के विचारों में अन्तर होते हुए भी दोनों का मौलिक दृष्टिकोण एक कहा जा सकता है कि यदि प्रत्ययों को सही कोटि में रख जाए तो कई समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं। उदाहरण के लिये क्या अविधेयात्मक गुण अपना गुण हो सकता है या नहीं ? क्या "सभी वर्गों का एक वर्ग" स्वयं अपना सदस्य है या नही ? इस तरह के प्रश्न हमें विप्रतिवेध (antinomy) में डाल देते हैं।

अपने प्रकारों के सरल सिद्धान्त के द्वारा रसेल इस कठिनाई को दूर करते हैं। हम सभी चीजों को विभिन्न तार्किक प्रकारों के एक श्रेणीबद्ध क्रम में रख सकते हैं। इस क्रम में सबसे नीचे चीजें, उसके ऊपर चीजों के गुण, उसके ऊपर चीजों के गुण के गुण इत्यादि रहेंगे। अब हम एक तार्किक प्रकार की चीजों को जो गुण दे सकते हैं उसे दूसरे तार्किक प्रकार की चीजों को नहीं दे सकते। जैसे एक चीज लाल हो सकती है पर किसी गुण को लाल नहीं कहा जा सकता। एक गुण के कई उदाहरण हो सकते हैं पर किसी व्यक्ति विशेषे का उदाहरण देना अर्थहीन होगा। रसेल के सिद्धान्त के अनुसार गुण का प्रकार उस चीज के प्रकार से ऊँचा है जिसका यह विधेय है।.अतः कहना कि कोई गुण स्वयं अपना विधेय है और यह कहना कि यह स्वयं अपना विधेय नहीं है, दोनों ही अर्थहीन हैं। अतः किसी गुण को विधेयात्मक या अविधेयात्मक कहना ही गलत है और इस तरह विरोधाभास समाप्त हो जाता है। यही बात वर्ग-सम्बन्धी विरोधाभास पर भी लागू है। एक वर्ग अपना सदस्य है या नहीं, इसका विधान भी उतना ही अर्थहीन है जितना इसका निषेध, जैसे कि यह कहना कि एक क्लब अपना सदस्य है या नहीं। व्यक्ति क्लब का सदस्य है पर क्लब "क्लब की सहयोगी संस्थाओं" से कम किसी चीज का सदस्य नहीं हो सकता। हर पद के महत्त्व का एक क्षेत्र निर्धारित है और यह मानना कि सभी वर्ग एक प्रकार के होते हैं, हर वर्ग दूसरे वर्ग का सदस्य है, कोटि भूल उत्पन्न करता है। यदि हम प्रकारों के भेद का ध्यान रखें तो विप्रतिषेध (antinomy) समाप्त हो जाती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि हर सही चिन्तन का आधार ही कोटि-

ज्ञान है। अधिकांश दार्शनिक समस्याएँ तो प्रत्ययों को उनकी सही कोटि में रखने से ही दूर हो जाती है। अरस्तु, कान्ट, रसेल, गिल्बर्ट, राईल तथा अनेक समकालीन दार्शनिकों से प्रेरित होकर हम कोटि-निर्धारण की एक निश्चित विधि प्राप्त करने का प्रयास कर सकते हैं,। समस्याओं को सही ढंग से समझने के लिए, एक सही विधि का प्रयोग करने के लिए "कोटि" के महत्त्व को दार्शनिक चिन्तन में नकारा नहीं जा सकता। अतः प्रत्ययों का विश्लेषण करते हुए उनको सही कोटियों में रखना दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य कहा जा सकता है।

रीडर, दर्शन विभाग डॉ. रमारानी
सी. एम् . पी. डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद

Referance

Articles :

1. Gilbert Ryle, 'Categories' Collected Papers Vol. II Collected Essays 1929-68, Hutchinson of London, 1971, p 179 (Reprinted from Proceedings of the Aristotelian Society, Vo. XXXVIII, 1937-38).
2. Ibid, P. 181.
3. J.J.C. Smart, A Note of Categories, 'British Journal for the Philosophy of Science" Vol. IV 1953 p. 227-28.
4. P. F. Strawson, 'Categories' Modern Studies in Philosophy, Ryle, A Collection of Critical Essay, ed. Oscar P. Wood and George Pitcher, Mac Millan 1971, p. 187.
5. Professor Thomson 'On Category Differences' (Philosophical Review, 1957, p 486).
6. Donald Hillman 'On Grammers and Category Mistake' Mind, April 1963, pp 227-228.

Books :

1. The Concept of Mind, Hutchinson of London, 1949.
2. Dilemmas : Cambridge : the University Press, 1954.

★

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं ।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एक अंक के लिए	चार अंको के लिए
	रु.	रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१ ४००/-
कव्हर पृष्ठ.३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ.४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था / प्रकाशन / उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं ।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें –

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

भाव और निषेध का संबंध

निषेध और भाव के बीच के संबध के विषय में आम धारणा यह है कि इनके बीच व्याघात का संबंध है अर्थात् निषेध और भाव परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं । हम देखेंगे कि यह धारणा कुछ भ्रमोत्पादक है तथा कुछ गलत मान्यताओं पर आधारित है ।

प्रारम्भ हम इस अभिकथन को उदाहरण स्वरूप स्वीकार करके कर सकते हैं- "सभी मनुष्य मरणशील हैं ।" यह एक भावात्मक अभिकथन है । एक दूसरा अभिकथन लें - "कोई मनुष्य अमर नहीं है ।" यह एक अभावात्मक अभिकथन है। हम देख रहे हैं कि भावात्मक और अभावात्मक होते हुए भी दोनों अभिकथन एक ही प्रतिज्ञप्ति को प्रगट कर रहे हैं । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कुछ स्थितियों में दो अभिकथन भावात्मक और अभावात्मक होते हुए भी एक ही प्रतिज्ञप्ति को प्रगट कर सकते हैं ।

इस प्रकाश में संभवत: "भावात्मक" और "निषेधात्मक" पदों के संदर्भ को परिवर्तित करने की आवश्यकता अनुभव की जाय और कहा जाय कि भावात्मक या निषेधात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ नहीं होती वरना अभिकथन होते हैं । शब्दान्तर से, "भावात्मक" तथा "निषेधात्मक" पद प्रतिज्ञप्तियों के संदर्भ में व्यवहार योग्य नहीं हैं वरन् इनका व्यवहार अभिकथनों के संदर्भ में किया जाना चाहिए । किंतु यह समाधान हमें एक बडी समस्या से उलझाता है क्योंकि द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र की यह आधारभूत मान्यता है कि प्रतिज्ञप्तियाँ या तो भावात्मक होती हैं या निषेधात्मक । इस समस्या से बचने के लिए हमें, द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र में जहाँ कहीं भी "प्रतिज्ञप्ति" पद का प्रयोग हुआं है उस पद को अभिकथन पद के द्वारा स्थानान्तरित करना पडेगा । किंतु इस प्रकार अभिकथन और प्रतिज्ञप्ति का भेद समाप्त हो जाएगा । ऐसी स्थिति में यह कहना निरर्थक होगा कि भावात्मक या निषेधात्मक पद अभिकथनों के संदर्भ में व्यवहार योग्य है, प्रतिज्ञप्ति के संदर्भ में नहीं ।

यहाँ एक नया तेवर अपनाते हुए यह कहा जा सकता है कि "भावात्मक और निषेधात्मक परस्पर व्याघातक हैं का अर्थ यह है कि कोई भी अभिकथन एक ही साथ भावात्मक और अभावात्मक दोनों नहीं हो सकता"[१] ।

किंतु यह भी एक भ्रामक धारण है । भावात्मक और निषेधात्मक अभिकथनों के संदर्भ में ध्यातव्य है कि प्रत्येक भावात्मक कथन एक निषेधात्म कथन होता है । एक उदाहरण लें- नई दिल्ली भारत की राजधानी है'' (।) यह कथन इस कथन का निषेध करता है कि ''नई दिल्ली भारत की राजधानी नहीं हैं'' (।।) इस प्रकार (।) कथन जो साधारणत: भावात्मक समझा जाता है (।।) का निषेध करता है, फलत: निषेधात्मक है । इस प्रकार यह कहना भी सही नहीं है कि कोई भी कथन एक ही साथ भावात्मक और अभावात्मक (निषेधात्मक) नहीं हो सकता ।

तब, ''भावात्मक और निषेधात्मक अभिकथन परस्पर व्याघातक हैं'' का अर्थ यह लिया जा सकता है कि भावात्मक और निषेधात्मक अभिकथन सदैव परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं, जैसे, यह ''कलम लाल है'' इस कथन को बहिष्कृत करता है कि ''यह कलम लाल नहीं है'' । किंतु यहाँ कुछ अन्य उदाहरणों के परीक्षण की आवश्यकता है । ''लाल किला दिल्ली में है'' क्या यह कथन इस कथन को बहिष्कृत करता है कि ''नारंगी का रंग काला नहीं होता''? या, ''यह कलम पूर्णत: लाल है'' क्या इस कथन को बहिष्कृत नहीं करता कि ''यह कलम पूर्णत: काली है''?

ऊपर के उदाहरण यह प्रमाणित करते हैं कि भावात्मक और अभावात्मक (निषेधात्मक) अभिकथन के बीच के संबंध को व्याघातक नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रत्येक भावात्मक अभिकथन में एक निषेधात्मक अभिकथन तथा प्रत्येक निषेधात्मक अभिकथन में एक भावात्मक अभिकथन छुपा रहता है । यहाँ अधिकाधिक यह कहा जा सकता है कि कुछ स्थितियों में कुछ भावात्मक अभिकथन कुछ अभावात्मक अभिकथनों को बहिष्कृत करते हैं तथा कुछ स्थितियों में कुछ अभावात्मक अभिकथन कुछ भावात्मक अभिकथनों को बहिष्कृत करते हैं । इतना ही नहीं बल्कि यह भी कि भाव और निषेध बहुधा परस्पर पूरक हैं तथा बहुधा एक ही तथ्य के लिए दो प्रकार की अभिव्यक्तियाँ हैं । यह बात मीमांसा दर्शन में और स्पष्ट होती है जहाँ भाव और अभाव को एक ही सत्ता के दो पक्ष कहा गया है ।[२]

किंतु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि भाव और निषेध दोनों एक ही है । तब भी, जबकि इन्हें एक ही सत्ता अथवा तथ्य के दो पक्ष या दो प्रकार की अभिव्यक्ति या दो प्रकार के प्रस्तुतिकरण के रूप में स्वीकार किया जाता है, तब भी, इनके बीच एक द्वैत तो रह ही जाता है । वस्तुत:, उपर के समस्त विवेचन से यह कहीं नहीं प्रमाणित होता कि भाव और निषेध में अभेद है वरन् ऊपर का विवेचन मात्र यही प्रमाणित करता है कि भाव और निषेध के बीच जिस प्रकार के संबंध की

बात सामान्यत: स्वीकार की जाती है, (अर्थात् यह कि भाव और निषेध के बीच व्याघातक संबंध है) वस्तुत: इस प्रकार के संबंध का पुष्टीकरण नहीं हो पाता ।

तब, प्रश्न यह है कि भाव और निषेध के बीच का सम्बन्ध कैसा है? ऊपर हम देख आए हैं कि कुछ स्थितियाँ हैं जहाँ भाव और निषेध परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं तथा कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं जहाँ वे एक दूसरे को बहिष्कृत नहीं करते । प्रश्न है कि वह कौन सी स्थिती है जहाँ भाव और निषेध परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं तथा वे कौन सी स्थितियाँ हैं जहाँ भाव और निषेध एक दूसरे को बहिस्कृत नहीं करते । साथ ही यह भी कि क्या एक दूसरे को बहिष्कृत करने और नहीं करने के बीच या इनके अतिरिक्त भाव और निषेध के बीच अन्य प्रकार के संबंध भी संभव है ? यदि "हाँ" तो कौन से तथा कितने ?

पहले हम इस प्रश्न को लें कि कहाँ भाव और निषेध परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं ?

किंतु, हमें यहाँ तनिक ठहर कर बहिष्कार के दो प्रकार के प्रयोगों पर ध्यान देना होगा । "बहिष्कार" शब्द दो प्रकार से प्रयुक्त होता है- सबल एवं निर्बल अर्थों में। "यह कलम लाल है ।" (i) तथा "यह कलम लाल नहीं है" । (ii) ये दोनों कथन परस्पर एक दूसरे को इस प्रकार बहिष्कृत करते है कि-

(क) जब : (i) सत्य होता है तो : (ii) असत्य होता है
(ख) जब : (i) असत्य होता है तो : (ii) सत्य होता है
(ग) जब : (ii) सत्य होता है तो : (i) असत्य होता है
(घ) जब : (ii) असत्य होता है तो : (i) सत्य होता है ।

यहाँ बहिष्कार शब्द का प्रयोग सबल अर्थों में हुआ है तथा इस प्रकार के दो अभिकथनों के बीच इस प्रकार के संबंध को साधारणत: "व्याघात सम्बन्ध की संज्ञा दी जाती है ।

पुनः, एक दूसरा उदाहरण लें, "यह कलम पूर्णत: लाल रंग की है ।" (i) तथा, "यह कलम पूर्णत: काले रंग की है-" (ii) दो अभिकथनों के इस समूह में दोनों अभिकथन परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हैं परन्तु इनका परस्पर बहिष्कार ऊपर जिस अर्थ में बहिष्कार पद का प्रयोग किया गया है, उससे भिन्न है । यहाँ -

(क) अगर : (i) सत्य है तो : (ii) असत्य है
(ख) अगर : (ii) सत्य है तो : (i) असत्य है

(ग) अगर : (i) असत्य है तो : (ii) की सत्यता या असत्यता निर्धारित नहीं की जा सकती ।

(घ) अगर : (ii) असत्य है तो : (i) की सत्यता या असत्यता निर्धारित नहीं की जा सकती ।

इस प्रकार यह बहिष्कार शब्द का निर्बल प्रयोग है । दो अभिकथनों के बीच इस प्रकार के संबंध को विपरीत संबंध कहा जाता है ।

यहाँ प्रश्न यह है कि जब हम यह कहते हैं कि "कुछ भावात्मक और निषेधात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करती हैं, तो यहाँ हम "बहिष्कार" शब्द का प्रयोग किस अर्थ में करते हैं – सबल अर्थ में या निर्बल अर्थ में ? ऊपर हम देख आए हैं कि अभिकथनों का कम से कम एक ऐसा समूह अवश्य है जहाँ भावात्मक और निषेधात्म अभिकथन एक दूसरे को सबल अर्थों में बहिष्कृत करते हैं । साथ ही, इस संभावना को नकारने का भी कोई तार्किक आधार हमें नही मिलता कि भावात्मक और निषेधात्मक अभिकथन एक दूसरे के निर्बल अर्थ में बहिष्कृत करते हैं । पुन: जब भावात्मक और निषेधात्मक कथन एक दूसरे के निर्बल अर्थ में बहिष्कृत करते हैं तो वहाँ अनेक संभावनाएँ उभरती हैं यथा,

(क) अभिकथन : (i) सत्य हो तथा अभिकथन : (ii) असत्य

(ख) अभिकथन : (i) सत्य हो तथा (ii) भी सत्य हो तथा इसी प्रकार की अन्य संभावनाएँ । किंतु क्या यह संभव है कि इसी प्रकार की सभी संभावनाओं की पूरी सूचि हम तैयार कर लें जहाँ भाव और निषेध परस्पर एक दूसरे को बहिष्कृत करते हों ? यहाँ ध्यातव्य है कि सूचि की पूरी तैयारी तभी संभव होगी जब हम यह मान लें कि सत्य और असत्य के बीच कुछ नहीं होता, सत्य और असत्य दो परस्पर व्याघातक पद हैं जो परस्पर एक दूसरे को सबल अर्थों में बहिष्कृत करते हैं ।

किंतु यहाँ इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना चाहिए कि क्या वस्तुत: सत्य और असत्य परस्पर व्याघातक पद हैं ?

वस्तुत: समस्त द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र की आधारभूत मान्यता में है कि सत्य और असत्य परस्पर व्याघातक पद हैं और किसी भी प्रतिज्ञप्ति अथवा अभिकथन का सत्यता मूल्य दो ही होता है, अर्थात् या तो प्रतिज्ञप्ति सत्य हो सकती है या असत्य।[3] साथ ही यह भी कि अगर कोई प्रतिज्ञप्ति या अभिकथन सत्य है तो वह असत्य नहीं होगी तथा अगर कोई प्रतिज्ञप्ति या अभिकथन असत्य है तो वह सत्य नहीं होगा ।

हमें पहले इसी मान्यता की परीक्षा करनी होगी कि क्या वस्तुत: कोई भी

प्रतिज्ञप्ति या अभिकथन या ज्ञान एक ही साथ सत्य और असत्य दोनों नहीं हो सकता?

भारतीय दर्शन में सांख्य इस मत के पक्षधर है कि ज्ञान एक ही साथ सत्य और असत्य दोनों होता है।[४] सांख्यकारिका में ज्ञान को बुद्धि के विकार के रूप में परिभाषित किया गया है। सांख्य तत्त्वमीमांसा के अनुसार पुरुष और प्रकृति दो मूल और पृथक तत्त्व हैं। अज्ञानवश इनका संयोग होता है और विकासचक्र चल पडता है। इस विकास क्रम में सर्वप्रथम बुद्धि अर्थात् महत् की उत्पत्ति होती है और इसी महत् के विकार रूप समस्त ज्ञान उत्पन्न होता है। चूँकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और ज्ञान बुद्धि का विकार है।[५] अतएव सांख्य सत्कार्यवाद की एक तार्किक परिणति यहाँ यह होती है कि प्रत्येक ज्ञान भी त्रिगुणात्मक है। अर्थात् प्रत्येक ज्ञान स्वभावत: प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों होता है। यही सांख्य का स्वत: प्रामाण्यवाद है। अगर प्रामाण्य का अर्थ सत्यता है (जैसा कि "प्रामाण्य" शब्द की विवेचना की जाती है[६]) तो सांख्य स्वत: प्रामाण्यवाद का अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक ज्ञान एक ही साथ, स्वभावत:, सत्य और असत्य दोनों होता है।

अब पुन: हम विचार के इसी बिंदु पर पहुँच गए हैं कि क्या कोई भी ज्ञान एक ही साथ सत्य और असत्य दोनों हो सकता है? द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र इसका विरोध करेगा क्योंकि यह तर्कशास्त्र सत्य और असत्य को व्याघातक पद मानता है।

किंतु सावधानी पूर्वक विवेचन करने पर सत्य और असत्य विपरीत भले लगे, व्याघातक सिद्ध नहीं होते। अगर सत्य और असत्य परस्पर व्याघातक होते हैं तो एक बार किसी अभिकथन, प्रतिज्ञप्ति अथवा ज्ञान के सत्य प्रमाणित होने पर उसके असत्य होने की संभावना सदैव के लिए समाप्त हो जाती। उदाहरणार्थ 'काली बिल्ली' का 'काली नहीं' होना स्वतोव्याघाती है। अत: एक बार काली बिल्ली के स्वीकार करके हम उसकी कालीं नहीं होने की बात नहीं कर सकते। किंतु क्या इसी भाँति हम "यह कलम लाल है" की सत्यता कुछ जाँच के बाद स्वीकार कर लेने के बाद इस कथन को अनिवार्यत: सत्य कह सकते हैं? यह बात तो द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र के प्रबल पक्षधर तर्कनिष्ठ भाववादी भी स्वीकार नहीं करेगे कि "यह कलम लाल है" उसकी सत्यता की इस समय जितनी भी अधिक संभावनाएँ हैं, इसकी असत्यता की संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता। इस प्रकार सत्य और असत्य संभावना के रूप में सदैव साथ-साथ रहते हैं, कम से कम आनुभविक ज्ञान के क्षेत्र में तो निश्चय ही। अतएव सत्य और असत्य स्वतोव्याघाती सिद्ध नहीं होते।

अब हम अपने मूल प्रश्न पर आ सकते हैं कि भाव और निषेध के बीच कितने प्रकार के संबंध संभव है। इनमें से कुछ की गिनती हम कर चुके हैं तथा इस सूचि

को और भी लम्बा किया जा सकता है । लेकिन यह सूचि न मात्र लम्बी होगी बल्कि अपूर्ण भी होगी क्योंकि ऊपर हम देख आए हैं कि इस सूचि में सत्यता और असत्यता के बीच का संबंध महत्त्वपूर्ण है तथा सत्यता और असत्यता व्याघातक पद नहीं है । अतएव सत्यता और असत्यता के बीच. अनन्त संभावनाएँ है । चूँकि संभावना एक मात्रामूलक शब्द है अतः फलतः जब हम निषेध और भाव के बीच सत्यता और असत्यता को आधार बनाकर संबंधों के निर्धारण की बात करते हैं तो यहाँ असंख्य संबंधों की अनन्त संभावनाएँ उभरती हैं । अतएव यह सूचि दे पाना तर्कतः संभव नहीं । यहाँ अधिकाधिक हम यही कह सकते हैं कि भाव और निषेध के बीच का संबंध अनन्त संभावनाओं से युक्त है ।

स्पष्टतः, इस समस्त विवेचन से द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र आहत होता है क्योंकि द्विमूल्याश्रित तर्कशास्त्र सत्यता और असत्यता के बीच किसी भी संभावना को अस्वीकार करके ही आगे बढता है । साथ ही यहाँ तर्कशास्त्र भाव और निषेध के बीच भी किसी अन्य संभावना को नकारता है । भाव और निषेध के बीच अनन्त संभावनाओं के इसी सिद्धान्त पर बहुमूल्याश्रित तर्कशास्त्र (Multi valued Logic) आधृत है, जिसका प्रच्छन्न रूप भारतीय दर्शन के जैन नञ सिद्धान्त और अनेकान्तवाद में देखने को मिलता है । पाश्चात्य जगत में भी उस मत (Multi Valued Logic) के कई प्रबल पक्षधर हैं । टार्टस्की प्रकृति विद्वानों का नाम इस संदर्भ में विशेषतः उल्लेखनीय है ।

डॉ. नीलिमा सिन्हा

विश्वविद्यालय आचार्य
स्नातकोत्तर कॉलेज दर्शनशास्त्र विभाग
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया (बिहार)

टिप्पणियाँ

1. Ayer, A. J.; Negation (collected in **philosophical Essays**); Macmillan, London, 1963
2. सर्व हि वस्तु सदसदात्मना द्विविधम्
   — शास्त्रदीपिका (अमाव)

3. Coopi, I. M.; Symbolic Logic, Fifth Edition, Page 9
4. सिन्हा, नीलिमा; ज्ञान का स्वरूपं, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.53-54
5. सांख्य प्रवचनभाष्य, 1/66
6. गाँधी, शारदा; भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, साहित्य भण्डार, मेरठ, प्र. 22-26

★

वेदान्त दर्शन में जगत् का स्वरूप

शंकराचार्य के अनुसार जगत् का स्वरूप :

शंकर ने जगत् की विस्तृत व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने जगत् का विस्तार, उसके घटक, उसकी उत्पत्ति का कारण आदि विभिन्न पक्षों का उल्लेख करते हुए जगत् की व्याख्या की है।

शंकराचार्य लिखते हैं कि – "जगतो नामरूपक्रियाकारका फलजातस्य"[1] अर्थात् समस्त नामरूप, क्रिया, कारक और उनके फल जगत् के अंतर्गत आते हैं। वे सभी वस्तुएँ जिन्हें हम अपने आसपास देखते हैं, सुनते हैं वे नामरूप हैं। हमारा शरीर भी ऐसा ही है। शरीर के अंदर प्राण, अन्त:करण आदि भी नामरूप ही हैं। इस प्रकार जगत् आंतरिक और बाह्य दो प्रकार का हो सकता है। अन्त:करण में अहंकार वृद्धि भी जगत् का एक अंश है। उसी में कर्ताभाव का अनुभव होता है। कर्ता के द्वारा किये गये कर्मों की गणना भी जगत् में ही होती है। कर्म संचित होकर प्रारब्ध बनते हैं और प्रारब्ध हो सुख-दुख रूपी फल उत्पन्न करता है। यह सब जगत् का ही रूप है।

उपनिषदों के ऋषि जगत् के विषय में जो विचार व्यक्त करते हैं वह अपने आपको ब्रह्मभाव में स्थित रखते हुए करते हैं। उन्हें सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है। जगत् की सत्ता पर उन्होंने कोई बल नहीं दिया है। उनकी दृष्टि में वह है ही नहीं। छान्दोग्योपनिषद के अनुसार, जैसे विकार मात्र है, सत्य केवल मिट्टी है, इसी प्रकार यह सब नामरूप है।[2]

श्वेताश्वेतर उपनिषद में जगत् का स्वरूप निर्धारित करने के लिये माया की उद्भावना की गयी है, तथा ईश्वर को माया का स्वामी माना गया है। जिसका वर्णन इस प्रकार कहकर किया है :-

मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

अर्थात् प्रकृति को माया जानना चाहिये तथा महेश्वर को मायावी। उसी के अवयव

भूत (कार्य-कारण संघात) से यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है । इससे यह स्पष्ट होता है कि जगत् माया का विस्तार है, किन्तु माया स्वतंत्र नहीं है उसका नियन्ता ईश्वर है।

शंकराचार्य के द्वारा इस जगत् का निमित्त और उपादान कारण ब्रह्म को मान लेने से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं, जिनका समाधान स्वयं शंकर ने किया है। वे कहते हैं कि कारण और कार्य का आपस में समान होना आवश्यक नहीं है । वेदान्त दर्शन के अनुसार संसार कर्ता, कर्म और उनके फलों का आश्रय है । उसमें अविद्या से कल्पित मूर्त एवं अमूर्त वस्तुएँ रहती हैं । यह संसार ब्रह्म के अध्यस्त है, तथा ब्रह्म नामरूप से भिन्न है । इस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर अविद्या तिरोहित हो जाती है, जो कि रागद्वेष और कर्म की बीजरूपिणी है । अद्वैतवाद के अनुसार इस संसार की सभी वस्तुयें अविद्या से कल्पित हैं, अविद्या काल्पनिक है, उससे वस्तुओं की व्यवहारिक सत्ता उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है । अविद्या, विद्या का साधन है। अविद्या भेद बुद्धि को उत्पन्न करती है, भेद इस सारे जगत् में व्याप्त है । इसमें ज्ञाता और ज्ञेयका द्वैत है. यह द्वैत अविद्या की सृष्टि है । ज्ञाता और ज्ञेय पारमार्थित: सत्य नहीं है, उनकी केवल व्यावहारिक सत्ता है ।

वेदान्त दर्शन के अनुसार इस जगत् में जो द्वैत है, वह माया स्वरूप है, तथा अद्वैत या ब्रह्म परमार्थ सत्य है ।

द्वैत अविद्या का विषय है, जब विद्या, अविद्या को तिरोहित कर देती है, तब द्वैत का नाश, और तब अद्वैत ब्रह्म का प्रकाश होता है । अत: जब ब्रह्म का ज्ञान हो जाता है, तब द्वैत नहीं रहता ।

शंकराचार्य ने सत्ता को तीन कोटियों में विभाजित किया है : -

(१) **प्रातिभासिक सत्ता :**

यह थोडी देर अर्थात् क्षणमात्र के लिये प्रतीयमान सत्ता है जो जागृत अवस्था के अनुभवों से बाधित हो जाते है । उदाहरण के लिये रज्जु-सर्प, शुक्तिरजत इत्यादि।

(२) **व्यावहारिक सत्ता :**

जागृत अवस्था में स्वाभाविक रूप से प्रतीति सत्य है परन्तु पूर्णत: सत्य नहीं, उदाहरण के लिये - संसार तथा सांसारिक ज्ञान ब्रह्मात्यैक्य ज्ञान के पूर्व सत्य है ।

(३) **पारमार्थिक सत्ता :**

यह शुद्ध सत्ता है जो कभी बाधित नहीं होती । यह सदा ही एक रस, एक रूप रहने वाली सत्ता है । यह त्रिकाल सत् है । पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म ही सत्य है ।

शंकर के अनुसार ब्रह्म और जगत् में सम्बन्ध :

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म और जगत् एक ही है तथा यथार्थता और आभास के रूप में अपना अस्तित्व रखते हैं। जगत् ही ब्रह्म - क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर, जगत् से संबंधित सभी प्रकार का विवाद विलुप्त हो जाता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् और ब्रह्म में तादात्म्य है और नहीं भी है। और ऐसा इसलिये कहा गया है कि जगत् ब्रह्म से अलग नहीं है और तादात्म्य नहीं है। ऐसा इसलिए कहा गया है कि जगत् में जो परिवर्तन होते हैं ब्रह्म उनके आधीन नहीं है। वेदान्त दर्शन के अनुसार यदि हम ब्रह्म और जगत् को अलग-अलग करें तो भी इनका बन्धन ढीला ही रहेगा, तथा उसका रूप कृत्रिम और बाह्य ही होगा।

शंकराचार्य कहते हैं कि यह जगत् ब्रह्म पर आश्रित है, तब वह ब्रह्म के स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं रखता और एक इस प्रकार के कारण को जो अपने में किसी प्रकार का परिवर्तन लाये बिना कार्य को उत्पन्न करता है अर्थात तात्पर्य यह है कि विवर्तोपादान "रूप कारण को" "परिणामोपादान" से जहाँ पर कारण स्वयं ही कार्य रूप में परिवर्तित होकर कार्य को उत्पन्न करता है और भिन्न प्रकार का बनता है।

अद्वैत वेदांत के अनुसार ब्रह्म का जिसका विवर्त शब्द यह प्रकट करता है कि निरपेक्ष परब्रह्म का देशकाल बद्ध जगत् के रूप में प्रकट होता है।

जगत् का मिथ्यात्व:

अद्वैत वेदान्त को जगत् को मिथ्या कहा गया है। अद्वैत आचार्य व्यास मकरन्दकार आनन्द भट्टारक ने मिथ्यात्व सिद्धि के लिये अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया है - शुक्ति रजत के समान प्रपंच मिथ्या है, क्योंकि प्रपंच दृश्य, जड और परिछिन्न है। इस अनुमान में संशय का विषयं प्रपंच पक्ष है, मिथ्यात्व साध्य है और दृश्यत्वादि हेतु है। तथा शुक्ति रजत उदाहरण है। शंकरोत्तर अद्वैत वेदांती यह स्वीकार करते हैं कि मिथ्यात्व लक्षण का प्रस्ताव आचार्य शंकर ने ही अध्यास भाष्य में किया है। "अध्यासो मिथ्या भवितुं युक्तम्"[३] 'आचार्य के इस वचन को आधार मानकर पद्मपादाचार्य ने पंचपादिका में कहा है- सदसद् विलक्षणत्व ही मिथ्यात्व है[४]। जो वस्तु सत्-असत् और सदसद् रूप से निरूपण करने योग्य नहीं होती, वही अनिर्वचनीयं है, अनिर्वचनीय मिथ्या है।

वेदांत दर्शन के अनुसार जिस जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य करता है, उसका मिथ्यात्व प्रतिपादन अद्वैत वेदान्त की एक अद्भुत प्रहेलिका है। अद्वैत वेदांत के द्वारा किये गये जगत् के मिथ्यात्व प्रतिपादन का यह वैशिष्ट्य है, कि वह समय के अनुसार जगत् के लौकिक व्यवहारों एवं परमार्थ सत्तागत ब्रह्मानुभूति इन दोनों का ही समर्थन

करता है ।

विशिष्टाद्वैतवाद में जगत् का स्वरूप :

रामानुज के अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्ता है, वही इसका रचयिता है । तथा इसके साथ-साथ वह उसका प्रेरक भी है । जीव और प्रकृति जिनसे इस जगत् का निर्माण हुआ है , ईश्वर के अंशभूत तत्त्व हैं, इसलिए ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण और निमित्त कारण है ।[५] सृष्टि का प्रारंभ ईश्वर के संकल्प से होता है । इसीलिए वह इसका निमित्त और प्रेरक कारण भी है । रामानुज ने जगत् को जड माना है, क्योंकि ईश्वर का ही कार्य है, अत: जगत् का ईश्वर से कार्य कारण संबंध माना जाता है । रामानुज सत्कार्यवादी दार्शनिक होने के कारण यह मानते हैं कि कार्य, कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है, कारण कार्य से ही सर्वथा एवं पृथक व्यतिरिक्त नहीं होता । यदि कार्य, कारण से एकदम भिन्न हो तो कारण ज्ञान, कार्य ज्ञान नहीं उत्पन्न कर सकता । इस कारण उपनिषद की यह मान्यता है कि ब्रह्म को जान लेने से सबको जान लिया जाता है, सत्य सिद्ध नहीं होता है । इस सन्दर्भ में रामानुज का मत है कि कार्य कारण से भिन्न होते हुए भी उससे पृथक् नहीं होता, अर्थात ब्रह्म का कार्य रूप जगत् , कारण रूप ब्रह्म से पृथक् नहीं है । लेकिन ब्रह्म और जगत् अथवा कारण और कार्य एक भी नहीं कहे जा सकते । इसमें भेद भी है, ईश्वर को अनन्त माना गया है, जबकि जगत् का अन्त निश्चित है, इसलिये दोनों के बीच तादात्म्य नहीं हो सकता । रामानुज ईश्वर और जगत् के बीच न पूर्ण ग्रिभेद और न पूर्ण भेद मानते हैं । ऐसे संबंध को रामानुज ने शरीर-अशरीर सम्बन्ध अथवा देह आत्मा संबंध के रूप में देखा है ।[६]

रामानुजाचार्य के अनुसार ईश्वर के विशेषण के रूप में यह जगत् द्रव्य नहीं । वैसे जगत् में दिखाई पडनेवाले द्रव्य तथा अद्रव्य इसी में अन्तर्निहित है । इसी प्रकार सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि स्वामी से अलग शरीर का कथन नहीं किया जाता है। विशेषण तथा विशेष्य की अभिन्नता सिद्ध है । इस प्रकार जगत् तथा जीवात्माओं के साथ भी "ईश्वर" शरीर विशिष्ट अद्वैत तत्त्व है । रामानुजाचार्य कहते हैं कि ईश्वर ही वह परमात्मा है, जिसके विशेषण से इस जगत् का सूक्ष्म रूप तथा अनेक जीवात्माएँ हैं । "जगत् ईश्वर के साथ ही विशेषण के रूप में नित्य रहता है । ईश्वर वस्तुतः यथार्थसत्ता है और स्वतंत्र भी है, परन्तु जगत् तथा जीवात्मा भी उसकी एकता स्वतंत्रता में बाधक नहीं अपितु साधक होता है । तथा जिस प्रकार शरीर जीवों का कार्य में साधक होता है तथा शरीर के कारण उसे दो नहीं माना जाता उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् तथा जीवों के साथ अद्वितीय बना रहता है । इस जगत् तथा

जीवात्माओं का विशिष्टाद्वैत में शरीर को स्थान दिया गया है । इनकी यथार्थ सत्ता ईश्वर की ही सत्ता पर निर्भर है ।

जगत् की सत्यता :

अद्वैत वेदान्त के महानुयायी जगत् की अनित्यता और परिवर्तनशीलता के कारण जगत् का मिथ्यात्व स्वीकारते हैं । लेकिन रामानुज कहते हैं कि केवल नाशवान होने से कोई वस्तु मिथ्या नहीं हो सकती ।[७] उनके मतानुसार जगत् तथा समस्त जागतिक प्रपंच मिथ्या नहीं है, सत्य है, क्योंकि वह जगत् और उसके सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुयें या तत्त्व हैं - जीव, माया और परमात्मा । मिथ्या वह है जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, है, जैसे शशशृंग और आकाशकुसुम । जगत् का तो प्रत्यक्ष अस्तित्व है । अत: वह सत्य है । उपनिषद, गीता और ब्रह्मसूत्रों को प्रमाण स्वरूप स्वीकार करते हुए रामानुज जगत् को ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति मानते हैं ।

अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि सत् वस्तु का विनाश संभव नहीं होता । अगर जगत् को सत् मान लिया जाय तो जगत् का विनाश असंभव होगा और प्रलय की अवस्था कभी नहीं आएगी । रामानुज का कहना है कि कारणावस्था ही प्रलयावस्था है । यह नामरूप विहीनअवस्था है, इस अवस्था में नामरूप का निश्चय होता है । अत: इस प्रकार जगत् को सत्य मानकर भी प्रलय का विनाश संभव है । जगत् की सत्यता आत्मा की सत्यता सिद्ध है जैसे बीज और वृक्ष का संबंध है । उसी प्रकार से आत्मा और जगत् का भी संबंध है । आत्मा बीज है, और जगत् वृक्ष है। वृक्ष का बाहरी भाग नष्ट होने पर भी बीज रूप में उसका अस्तित्व अनश्वर है ।

विशेष्य-विशेषण सम्बन्ध :

रामानुज ब्रह्म और जगत् के बीच सम्बन्धों की व्याख्या अपृथक् सिद्ध विशेषण के द्वारा करते हैं । उन्होंने ईश्वर तथा जीव जगत् के बीच उसी प्रकार का संबंध बताया है जो कि आत्मा तथा शरीर के बीच है, अर्थात् जिस प्रकार आत्मा शरीर का आश्रय, नियमन, कर्ता तथा उसे कार्य में प्रवृत्त करनेवाला है, उसी प्रकार ईश्वर भी चित् अचित् का आश्रय नियामनकर्ता और उसे कार्य में प्रवृत्त करनेवाला है । ईश्वर नियामक है, अत: वह विशेष्य हुआ, चित् अचित् नियम्य है, अत: वह विशेषण हुआ। विशेषण को धारण करने वाला विशेष्य ही है । श्री रामानुजांचार्य ब्रह्म और जगत् सम्बन्धों की व्याख्या अपृथक् सिद्ध विशेषण के द्वारा करते हैं ।

कार्य-कारण सम्बन्ध :

उपनिषद, गीता, ब्रह्मसूत्र एवं पांचरात्र आगमों[८] का समर्थन प्राप्त करते हुए रामानुज ब्रह्म को जगत् का अभिन्नमित्रोपादान कारण तथा इसे ब्रह्म की ही आत्माभिव्यक्ति

के रूप में स्वीकार करते हैं । ब्रह्म और जगत् के बीच अनन्य का प्रतिपादन विशिष्टाद्वैत वेदान्त में सत्कार्यवाद या परिणामवाद के आधार पर किया गया है । ब्रह्म की दो अवस्थाएँ हैं – कारणावस्था : सत्कार्यवाद के अनुसार कारण और कार्य अन्ततः एक दूसरे से अभिन्न हैं । कारण की अवस्था : परिवर्तन का ही नाम कार्य है।[९] इसीलिये इनके कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले कारण में विद्यमान रहता है, ईश्वर और उसकी अंशभूत प्रकृति का कार्य रूप जगत् फिर किस प्रकार असत्य हो सकता है? सत् कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होते हैं । कारण और कार्य की एकता अथवा कारण में कार्य की पूर्वोपरिस्थिति स्वीकार करने वाले सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं ।

रामानुज के अनुसार सृष्टि और प्रलय ईश्वर की दो भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। सृष्टि के पूर्व ब्रह्म स्वाभाविक निराकार की स्थिति में होता है ।[१०] किन्तु सृष्टि के पूर्व ब्रह्म की निराकारता का अर्थ उसकी निर्विशेषता ही नहीं अपितु उसकी नाम विभाग रूपहीन कारणावस्था है । उस स्थिति में भी चित् और उचित अव्यक्त अवस्था में ब्रह्म के अन्दर स्थित होते हैं ।[११]

हम देखते हैं कि रामानुज अचित् को एक नित्य द्रव्य मानते हैं तथा परब्रह्म के संकल्प से जगत् इसी द्रव्य से निर्मित है । अतः ईश्वर और उसकी अंशभूता प्रकृति निमित्तकारण और उपादान कारण दोनों की ही सत्ता नित्य और सत् है । रामानुज जगत् को ब्रह्मात्मक मानते हैं । जंगत् ब्रह्म में ही स्थित है वही उसका कारण और वहीं उसका गन्तव्य है । जगत् की नानाविध वस्तुओं का विकास सोद्देश्यपूर्ण है । जीव के अध्यात्मिक विकास के लिये यह उत्पन्न होती है । जगत् की सत्ता रामानुज के अनुसार पारमार्थिक है, क्योंकि वह सविशेष ब्रह्म की विभूति है ।

द्वैत वेदान्त में जंगत् का स्वरूप :

द्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् सत्य है, जिस प्रकार परमात्मा नित्य है उसी प्रकार जगत् परमात्मा का ही कार्य होने के कारण इसे मिथ्यात्व का अपलाप नहीं कर सकते हैं । परमात्मा, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, इसलिये उनके द्वारा निर्मित यह चराचर किसी भी स्थिति में असत्य नहीं हो सकता । मध्व दर्शन के अनुसार प्रकृति जगत् का उपादान कारण है । ईश्वर उपादान कारणभूता प्रकृति से अनेकानेक रूपों की सृष्टि करता है । स्वयं ईश्वर प्रकृति के अनेक रूपों में विद्यमान रहता है । अतः इस प्रकार जगत् परमात्मा का ही रूप है । मुक्तावस्था में प्रकृति के महत्, अहंकार, बुद्धि, मन, दशेन्द्रियां, पंचतन्मात्राएँ और क्षित्यादि पंचतत्त्व ये चतुर्विशन्ति तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। अव्यक्तावस्था में मूल प्रकृति में यह तत्त्व सूक्ष्म रूप से वर्तमान रहते हैं । लक्ष्मी अपने

श्री, भू एवं दुर्गा रूप के द्वारा त्रिगुणात्मिका प्रकृति की अध्यक्षता करती है। मध्वाचार्य के अनुसार अविद्या प्रकृति का ही रूप है।[१२] इस अविद्या के ही जीवाच्छादिका एवं परमाच्छादिका ये दो रूप है। अविद्या जीवाच्छादिका रूप में जीव की अध्यात्मिक शक्ति को आच्छन्न कर लेती है और अपने परमाच्छादिका रूप में परमात्मा को आवृत्त कर लेती है। परमाच्छादिका अविद्या के कारण ही जीव परमात्मा का साक्षात्कार करने में असमर्थ होता है।[१३]

ब्रह्म और जगत् में सम्बन्ध :

द्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् की सृष्टि ईश्वर के अधीन है और वह वास्तविक है। हमेशा से "सोमयेदमग्र आसीत्" इत्यादि के द्वारा ईश्वर के वक्ष में सृष्टि का ही कथन किया गया है। यदि ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या हो तो "एक विज्ञानेन सर्वविज्ञानम्" यह श्रुति ही गलत हो जायेगी क्योंकि ऐसी स्थिति में सर्व विज्ञान ही मिथ्या होने के कारण सम्भव न होगा। क्योंकि सत्यज्ञान से मिथ्याज्ञान नहीं होता है।[१४]

द्वैतवाद के अनुसार "अहं ब्रह्मास्मि" तथा "सोहमस्मि" आदि वाक्य अभेद परक हैं। मध्वाचार्य ने अहं के द्वारा अन्तर्यामी की ओर निर्देश किया है। उसकी पूर्णता इस एकाकारिता के द्वारा दिखाई गई है। इसी प्रकार सर्वव्यापकता का अर्थ अभी अभेद परक त्रुटियों का लेना चाहिये। मध्वाचार्य इसकी पुष्टि में "अहम्" का अर्थ ब्रह्मविषयक ही है। "तत्त्वमसि" यह वाक्य भी साक्षी के द्वारा ही अर्थज्ञापन में प्रयुक्त होगा। अनुभवगम्य होने के लिये साक्षी द्वारा प्रमाणित होना आवश्यक है। इसका अर्थ जगत् के मिथ्यात्व में नहीं है, "स आत्मा तत्त्वमसि" को "आत्मा तत्त्वमसि" लेकर द्वैतपरक अर्थ लिया गया है। इसी प्रकार "अयमात्मा ब्रह्म" को प्रशंसापरक वाक्य माना गया है।

अतः इस जगत् की सृष्टि द्वैत मत में तत्त्व मूल में निहित अर्थ का स्वरूप परिवर्तन है। यह परिवर्तन ईश्वर की क्रिया के द्वारा सम्पन्न होता है। सृष्टि ईश्वर के जगत् से आठ प्रकार के संबंधों में से प्रथम संबंध है। अतः इस प्रकार से सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर के आधीन है। ईश्वर सृष्टि का आधार है। किन्तु वह कारण-कार्य को सामान्य स्वीकृत संबंध के समान जगत् से सम्बद्ध नहीं है। वह इस जगत् का मूलाधार है। क्योंकि सृष्टि का होना उसकी क्रिया पर निर्भर है।[१५]

मध्वाचार्य के अनुसार द्वैतमत में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का सिद्धान्त संख्यानुवर्ती है। सृष्टि प्रक्रिया के सांख्य रूप को प्रायः स्वीकार कर लेने के बाद स्वभावतः मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम अथवा निर्वह नहीं माना है। द्वैतवेदान्त के अनुसार

प्रलय के अंत में ईश्वर सृष्टि की इच्छा करता है। तथा उसके तीन "गुणों" को पृथक् करता है, और फिर "महत्" "बुद्धि" और मानस के विभिन्न पदार्थ एवं पंचमहाभूतों तथा उनके अभिमानी देवताओं का सृजन करता है फिर इसके बाद वह इस सचराचर जगत् में परिव्याप्त हो जाता है।[१६]

शुद्धाद्वैतवेदान्त में जगत् का स्वरूप :

जगत् का निर्माता कौन है ? इस प्रश्न के साथ यह प्रश्न भी जुड जाता है कि जगत् की रचना क्यों हुई ? चेतन सत्ता निष्प्रयोजन कोई कार्य नहीं करती, तब नित्य चैतन्य स्वरूप परब्रह्म का जगत् निर्माण का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा। शुद्धाद्वैत वादियों का कहना है कि "स विश्व लीलयैवेद सृजत्यवति हन्त्यज:"[१७] अर्थात् वह अजन्मा-भगवान लीला से ही इस जगत् को उत्पन्न करता है। इसकी रक्षा करता है, और इसका संहार भी करता है।

शुद्धाद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत् के उत्पन्न होने के समय २८ तत्त्व उद्भूत होते हैं। जिनके नाम हैं - सत्त्व, रज, तम, पुरुष, प्रकृति, महत् , अहंकार, पंच तन्मात्राएँ, पंच-महाभूत, पंच-कर्मेन्द्रियाँ, पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ और मनस्।[१८]

वल्लभाचार्य जगत् के सम्बन्ध में अविकृत परिणामवाद को स्वीकार करते हैं तथा अविकृत परिणाम के अनुसार कोई भी पदार्थ अपना रूप परिवर्तित हो जाने पर भी पुन: अपने वास्तविक रूप में आ सकता था, अत: इनकी दृष्टि में यह जगत् भी शुद्ध ब्रह्म का अविकृत परिणाम है तथा लय होने पर वह पुन: शुद्ध ब्रह्म हो जाएगा।

ब्रह्म और जगत में सम्बन्ध :

जड जगत् ब्रह्म से पूर्ण (ब्रह्मात्मक) है। इसके अंदर ब्रह्म के दो गुण हैं ज्ञान और आनन्द अव्यक्त हैं, और जो अवशिष्ट रहता है वह शुद्ध सत्य है, अर्थात् सत्य मात्र है। चूँकि यह जगत् के रूप में प्रकट हुआ है, यह ब्रह्म ही है। अत: इसको ब्रह्म का कार्य माना गया है। सृष्टि रचना करना और प्रलय केवल सर्वोपरि सत्ता का आविर्भाव तथा तिरोभाव ही है और वही सत्ता उक्त रूप धारण कर लेता है। जगत् को केवल भ्रांतिमय प्रतीति ही नहीं माना जा सकता और न यह तात्त्विक रूप से ब्रह्म से भिन्न है। कार्य-कारण सम्बन्ध नितान्त एकत्वमय संबंध हैं।[१९] यह सारा विश्व वास्तव में ब्रह्म रूप ही है। वल्लभाचार्य जगत् को क्रियाविहीन नहीं मानते क्योंकि उसके अन्दर ब्रह्म शक्ति देता है। यदि ब्रह्म स्वयं नहीं जाना जाता तो भी वह जगत् के रूप में प्रकट होता है। तब जाना जाता है।

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार जगत् का अस्तित्व वैसा ही है जैसा कि ईश्वर का अस्तित्व है। अत: वे संसार को ब्रह्म का कार्य मान कर यह कहते हैं कि संसार मूल,

रूप में ब्रह्म ही है । जगत् निःसंदेह सत् है और उसे सत् मानने का हमारा दृष्टिकोण भी सही है ।

"ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है जो अपनी हृदयगुहा में निहित उसे जानता है, वह उसके साथ समस्त कामनाओं का उपभोग करता है ।" आदि ।

ब्रह्म प्राप्ति रूपी फल के लिये ही ब्रह्म ज्ञान होता है, ब्रह्म का कर्तव्य परब्रह्म परिचायक बतलाया गया है । परब्रह्म वह है जो सबके अन्दर आनन्द स्वरूप है । अतः ब्रह्म जगत् का एकमात्र निर्माता है ।

शुद्ध परब्रह्म में कर्तृत्व आदि है ही नहीं, अतः प्रपंच जगत् भी कोई वस्तु नहीं है, वह रज्जु में सर्प भ्रम की भांति की तरह एक भाँति कल्पना ही है ।

वल्लभमत में किसी वस्तु की उत्पत्ति और विनाश न होकर आविर्भाव और तिरोभाव होता है । सृष्टि रचना को वल्लभाचार्य, ब्रह्म का आविर्भाव कहते हैं और प्रलय को तिरोभाव । इस सिद्धान्त को आचार्य श्री वल्लभ ने पूर्णरूप से पल्लवित किया, इसलिये यह सिद्धान्त शुद्धाद्वैत दर्शन की मौलिकता मानी जाती है । तत्त्वार्थदीप निबन्ध में आचार्य जी कहते हैं कि ब्रह्म से ही पदार्थों का आविर्भाव और ब्रह्म में ही उनका तिरोभाव होता है ।[२०] यह ब्रह्म की शक्ति है । जिससे वह एक से अनेक और अनेक से एक होता है ।[२१]

द्वैताद्वैत वेदान्त में जगत् का स्वरूप :

ब्रह्म जगत् का परिणाम है । जगत् तथा जीव की स्वतंत्र निरपेक्ष सत्ता नहीं है, किन्तु परतंत्र सत्ता है । ब्रह्म परम कारण है । और चिद्रूपी तथा अचेतन परिणाम उससे पृथक् नहीं है । अतः निम्बार्क भी परिणामवादी हैं । निम्बार्क मिथ्या नहीं है। जीव जगत् दोनों ही ब्रह्म सापेक्ष पदार्थ हैं, किन्तु सत्य है । द्वैताद्वैत वाद के अनुसार मूल रूप से जगत् अचित् पदार्थ है । निम्बार्काचार्य ने अचित् जड़-जगत् के तीन रूप माने हैं - प्राकृत,. अप्राकृत और काल[२२] महत्त्व से लेकर के महाभूतपर्यन्त जगत् प्राकृत है । यह प्रकृति भी सांख्यवत् त्रिगुणात्मिका है । परन्तु स्वतंत्र न होकर ईश्वर द्वारा नियंत्रित है ।

जगत् की सत्यता :

निम्बार्काचार्य जगत् को सत्य मानते हैं । उनके अनुसार आत्मा की तरह जगत् भी सत्य है । यह दृश्य प्रपंच कारणरूप से पहले नहीं था, ऐसी बात नहीं है । यह जगत् अचानक ही असत् से उत्पन्न नहीं हुआ है । विश्व में असत् से अर्थात् निरूपादानक कार्योत्पत्ति का उदाहरण नहीं मिल सकता, क्योंकि सभी कार्य सोपादानक अतएव सत्कारण से ही उत्पन्न होते हैं । द्वैताद्वैतवाद के अनुसार कार्य अव्यक्त रूप

से व्यक्तभावपन्न अवस्था को ही उत्पत्ति कहा जाता है । सत्कार्यवाद के अनुसार यही उत्पत्ति है । श्रुति भी यही कहती है - "सदेव सोम्यइदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"[२३] यही विश्व प्रपंच सृष्टि से पूर्व सद्रूप से ब्रह्म में ही था । अत: इसका उपादान कारण ब्रह्म ही है । उस परमेश्वर ने संकल्प किया कि "मैं बहुत हो जाऊँ" तदैक्षत बहुस्यां प्रसाये .... येति । उस ब्रह्म ने सर्वप्रथम तेज की सृष्टि की अनन्तर जल और पृथ्वी की सृष्टि की ।[२४] अत: इस प्रकार से सृष्टि मिथ्या नहीं है । ब्रह्म सत् है । अत: ब्रह्म कार्य जगत् भी सत् है ।

जगत् ब्रह्म का भिन्नाभिन्न स्वभाव :

निम्बार्काचार्य के अनुसार ईश्वर या ब्रह्म में अगणित शुभ गुण हैं और वह इस जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण है । निम्बार्क के अनुसार प्रकृति स्वतंत्र सत्ता नहीं है । वह ईश्वर पर आश्रित है, तथा उसी से संबद्ध है । उसके तीन गुण उसके घटक न होकर केवल विशेषण हैं । उन्होंने काल को स्वतंत्र मान्यता प्रदान की हैं । उन्होने एक अप्रकृति द्रव्य भी माना है जो शुद्ध सत्त्व स्वरूप है और त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा काल से भिन्न है । उसे ईश्वर की नित्य विभूति या विष्णुपद, ब्रह्मलोक आदि नामों से पुकारा गया है । रामानुज और निम्बार्क में यहाँ मूल अन्तर ईश्वर और जीव जगत् के संबंध के विषय में है । रामानुज का मत इस विषय में स्थिर नहीं हैं । वे इसे अपृथक् स्थिति कहते हैं । निम्बार्क ने इसे स्पष्ट रूप से भेद और अभेद का संबंध माना है । इसका यह अर्थ है कि ईश्वर का जीव जगत् से भेद भी है, और अभेद भी है ।

निम्बार्काचार्य सत्कार्यवादी हैं । अन्य सत्कार्यवादियों की तरह वे भी पहले से कार्य को कारण में विद्यमान मानते हैं ।[२५] कार्य कोई नई वस्तु होता है वह स्वयं ही कारण की अभिव्यक्ति है । अगर उत्पन्न होने वाली वस्तु का पहले कोई अस्तित्व नहीं था, तो निम्बार्क कहते हैं कि अग्नि से जौ आदि की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ।[२६] निम्बार्क कहते हैं कि कार्य तभी उत्पन्न होता है, जब उसका कारण पहले से विद्यमान होता है । इसलिए वह कारण से अभिन्न होता है ।[२७] लेकिन जहाँ तक वह कार्य है, उसकी प्रकृति और विशेषताएँ कारण से भिन्न होती हैं । अत: कार्य कारण से भिन्न भी है । निम्बार्क कहते हैं कि कारण से कार्य भिन्न और अभिन्न दोनों हैं ।

निम्बार्क का ब्रह्मसूत्र पर भाष्य शंकर के अनुभवातीत तथा रामानुज के अंतर्भावी दर्शन के बीच की महत्त्वपूर्ण कडी का कार्य करता है । तथा द्वैत एवं अद्वैत वेदान्त के बीच मध्यं मार्ग है जो दोनों के बीच समझौता कर लेता है ।

जगत् की सृष्टि का स्वाभाविक अभिवाह नहीं है, जो जीवों के कर्मोंद्वारा

निर्देशित होकर यांत्रिक रूप में चलता हो, बल्कि यह तो ब्रह्म की अन्तर्भावी शक्ति ही है जो जगत् के रूप में भिन्नाभिन्न रूप में अभिव्यक्त होती हैं। यह जगत् ब्रह्म पर इसी रूप में प्रतिष्ठित है। जगत् एक तथ्य है, यह कल्पना प्रसूत स्वप्नों का झोंका नहीं है। लेकिन जगत् की अभिव्यक्ति द्वारा ब्रह्म की अखण्डता ज्यों की त्यों बनी रहती है। अत: अपने द्वैताद्वैत वेदान्त की मान्यताओं को आधार पर प्रतिष्ठित करके निम्बार्क सम्प्रदायों के विरोधों में समन्वय का स्वर्णिम मार्ग निकाल लेते हैं जो वेदान्तों के भेद तथा अभेद परक वाक्यों के साथ अपनी संगति बैठाते हुये अनुभव के स्तर पर तत्त्वों की तर्कसंगत व्याख्या करते हुये परमानन्द के लक्ष्य तक पहुंचा देता है।

अत: द्वैताद्वैतवाद के अनुसार भेद तथा अभेद दोनों सत्य हैं। तथा जगत् और ब्रह्म के बीच नियामक और नियंत्रित संबंध है। नियामक होने के कारण ब्रह्म स्वतंत्र सत्त्व है, जगत् परतंत्र (तत्-तन्त्र सत्त्व) है।

अत: निष्कर्षत: हम देखते हैं कि शंकराचार्य के अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। लेकिन रामानुज के अनुसार जगत् ब्रह्म का परिणाम है। रामानुज जगत् को मायिक नहीं मानते। उनके मतानुसार ईश्वर, जीव और जगत तीनों सत् हैं। जीव और जगत् ईश्वर के शरीर हैं। अत: ईश्वर से वे पृथक् नहीं हैं चिदचित् शरीर सहित ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीलिए उसमें सजातीय विजातीय भेद तो नहीं है, किन्तु स्वगत भेद है। फिर भी रामानुज जीव और जगत् का न ईश्वर से स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं और न ही उनका तादात्म्य ही स्वीकार करते हैं।

द्वैतवाद में सृष्टि तत्त्व के मूल में निहित अर्थ का स्वरूप परिवर्तन है। यह परिवर्तन ईश्वर की क्रिया द्वारा सम्पन्न होता है। यह सृष्टि प्रक्रिया पूर्णत: ईश्वर पर आधीन है। प्रकृति में प्रवेश एवं उसे परिणमित करके वहँ परिणाम एवं नियमन आदि के कारण वह उसका स्वामी है। मध्वमत में जगत् की सृष्टि प्रक्रिया का सिद्धान्त संख्यानुवर्ति हो ये जगत् को वास्तविक मानते हैं। वेदान्त के प्राय: सभी मतों में ज्ञान का स्वत: प्रामाण्य है। द्वैत, अद्वैत एवं विशिष्टद्वैत इसी मत के अनुग्राहक हैं किन्तु प्रामाण्य विषय के बाधित होने के बाद नहीं रहता। अत: प्रमाण के साथ ही जगत् का सत्यत्व ही सम्बद्ध है।

वल्लभाचार्य के अनुसार जगत् पूरी तरह से सत्य है, यह उतनी ही सत्य है, जितना कि ब्रह्म सत्य है। वल्लभ कहते हैं कि जगत् कार्य है, और ब्रग्ह्म जगत् का कारण है। लेकिन ब्रह्म इस जगत् की रचना कैसे करता है? तो इस संबंध में वल्लभ के विचार शंकर से नितान्त भिन्न हैं। शंकर के अनुसार जगत् की रचना माया

द्वारा होती है, जगत् उसी तरह ब्रह्म में विवर्तित होता है, जिस प्रकार रज्जू में सर्प विवर्तित होता है। अर्थात् जगत् भ्रमात्मक है । इस प्रकार असत् है । लेकिन वल्लभाचार्य इसके विपरीत कहते है कि जगत् पूर्ण सत्य है । तथा इसकी रचना, स्थिति, ब्रह्म की सत् इच्छा पर आश्रित है ।

निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म संसार का निमित्त और उपादान कारण है । वह उपादान कारण है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है, उसकी सूक्ष्म चित् और अचित् शक्तियों की अभिव्यक्ति । वह संसार का निमित्त कारण भी है, क्योंकि वह जीवों को उनके कर्मानुसार फल देता है । संसार जो कि चित् और अचित् शक्ति सम्पन्न ब्रह्म का कार्य है, अपने कारण अर्थ ब्रह्म से स्वभावतः भिन्न और अभिन्न है ।

अद्वैतवादी जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं । निम्बार्क ब्रह्म की शक्ति का परिणाम कहते हैं ।[२८] आचार्य निम्बार्क वैसे तो ब्रह्मवादी ही हैं । परन्तु उनका ब्रह्म अद्वैत वेदान्तियों के समान निर्गुण न होकर सगुण है । उनके ब्रह्म की सगुणता रामानुज के चिदचिद् विशेषण विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न है । अद्वैतवेदान्त दर्शन और निम्बार्क दर्शन, दोनों के ही अन्तर्गत ब्रह्म और सगुण ब्रह्म दोनों ही जगत् के निमित्त कारण एवं उपादान कारण हैं । लेकिन दोनों में यह अन्तर विचारणीय है, कि अद्वैतवेदान्त के अनुसार ब्रह्म अपनी माया शक्ति के कारण जगत् का उपादान कारण है, विवर्तवाद का विरोध करते हुए निम्बार्कवादी कहते है कि विवर्तवादी जैसा कहते हैं । कि यदि जगत् मिथ्या हुआ तो उसका अध्यस्त होना सम्भव न हुआ होता ।[२९]

अतः हम देखते हैं कि वल्लभ दर्शन शंकराचार्य के "जगन्मिथ्या" सिद्धान्त के विरुद्ध "जगत्-सत्यम्" के सिद्धान्त का प्रतिपादन अनेक तर्कों द्वारा करते हैं अतः शुद्धाद्वैत की ही उपलब्धि है । रामानुज ने उसे चिदचिदा विशिष्ट ब्रह्म का अचित् स्वरूप कहा है । निम्बार्क ने इसे ब्रह्म की शक्ति का परिणाम माना है । किन्तु वल्लभाचार्य ने सबसे पहले साहसपूर्वक जगत् को सत्य रूप में प्रतिष्ठापित किया ।

डॉ. कविता शुक्ला

विष्णु विहार कालौनी,
हायर सेकेन्डरी स्कूल के पीछे, छतरपूर
(म.प्र.) पिन-४७१००१.

टिप्पणियाँ

१. श्वेताश्वतर उपनिषद् ४-४-१०, पृ. १९७.
२. छान्दोग्य उपनिषद् ।

३. ब्रह्म सूत्र शांकरभाष्य - भूमिका, पृष्ठ १५
४. पंचपादिका - पृ. ८८
५. वेदान्त संग्रह, पृष्ठ २९ (निमित्तोपादानयोस्तु)
६. वही पृ. १८
(अयमेवाव्यशरीर भावत: पृथसिद्धयत हिपाराधेय भाव: नियन्तुनियम्य भाव: शेषशेषिभाव:)
७. उपलब्धि - किन्त्वानित्यम् - श्री भाष्य २/१/८५ भाग - १४, पृ. ६८
८. चेतना चेतना: सर्वभूता: स्थावरजंगमा पूरित: परमेशेन सरेनैषधयो यथा जयाख्य. स. ४/९३
९. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - ब्रह्मसूत्र के वैष्णव आचार्यों का तुलनात्मक अध्ययन पृ. २३२
१०. -"- वही पृ. २३२
११. एव सर्वदा चिद्चिदस्तु शरीरस्य परस्य ब्रह्मणो विभक्त नामरूपाया कारणावस्था सा - श्री भाष्य - १/४/२३.
१२. डॉ. राधाकृष्णन .. भारतीय दर्शन, भाग २ पृ. ७४५
१३. दु:खाभाव: परानन्दो लिंगभेदा: समामता: ।
तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदान्तु भिद्यते ।। मध्व सिद्धान्त, पृ. ३२
१४. नहि सत्यज्ञानेन मिथ्या ज्ञानं सम्भवति । विष्णुतत्त्वविनिर्णय, पृ. ६२८ .
१५. "अधिष्ठानमिति प्राहुर्मलाधातरं विलक्षण: । भा. ता. में उधृत वामन पुराण पृ. १३
१६. पदार्थ - संग्रह व्याख्यान् । पृ. १०६-८
१७. वेदान्त चिन्तामणि ३.२
१८. तत्त्वदीप निबम्ध, सर्वनिर्णय, ८६
१९. प्रागभाव - अर्थात उत्पत्ति से पूर्ण अभाव कारणात्मक अवस्था है प्रध्वंसाभाव केवल मात्र कर्म के तिरोभाव हो जाने का ही नाम है ।
२०. आविर्भाव तिरोभावौ पदार्थानाम् पतस्तत: ।
२१. आविर्भावतिरोभावौर्मोहृनम् बहुरूपत: ।
२२. दशश्लोकी - ३
२३. छान्दोग्योपनिषद् - ६/२/३
२४. छान्दोग्योपनिषद् ६/२/४

२५. निम्बार्क भाष्य ब्रह्मसूत्र २.१.१६ (कार्यस्त कारणे सत्त्वात्)
२६. निम्बार्क भाष्य ब्रह्मसूत्र २.१.१७ और इस पर वेदान्त कौस्तुभ।
२७. वही २.१.१५
२८. डॉ. राधाकृष्णन - भारतीय दर्शन, भाग-२ पृ. ७५५
२९. वहीं

जैन दर्शन में द्रव्य गुण सम्बन्ध

सदैव किसी भी वस्तु का ज्ञान उसकी विशेषताओं के ज्ञान पूर्वक होता है। जैसे - यह आम पीला है, मधुर है, ठोस है। पीलापन आदि विशेषताओं के ज्ञान पूर्वक आम इसीलिए ज्ञात कहलाता है क्योंकि ये आम का स्वरूप है और इनका ज्ञान आम का ही आंशिक ज्ञान है। किसी वस्तु की जितनी अधिक विशेषताएँ ज्ञात होती हैं वह वस्तु उतनी ही मात्रा में ज्ञात होती है तथा उसकी समस्त विशेषताओं का ज्ञान वस्तु का पूर्ण ज्ञान है। ज्ञान का यह सर्वविदित स्वरूप दार्शनिकों के समक्ष गम्भीर तत्त्वमीमांसीय समस्या उत्पन्न करता है। वे कहते हैं कि एक और अनेक परस्पर विरोधी होने के कारण एक ही वस्तु के धर्म अथवा स्वरूप किस प्रकार हो सकते हैं? जो वस्तु एक है उसके अनेक स्वरूप किस प्रकार हो सकते हैं और जिनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं वे एक वस्तु किस प्रकार हो सकते हैं?

इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए न्याय-वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि द्रव्य, यथा-आम और उसके शीतलता आदि विभिन्न गुण परस्पर पृथक्-पृथक् सत्ता हैं और उनमें समवाय सम्बन्ध है। उनका यह समाधान अनेक समस्याएँ पैदा करता है। हमें सदैव गुणों का ही ज्ञान होता है। यदि गुण द्रव्य से भिन्न सत्ता हैं तो फिर उनके ज्ञान पूर्वक द्रव्य किस प्रकार ज्ञात हो सकता है? यदि द्रव्य ज्ञात ही नहीं होता तो उसका अस्तित्व किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?

बौद्ध और अद्वैत वेदान्ती समस्या के मूल्य कारण विशेषण विशेष भाव से युक्त सविकल्प ज्ञान की भ्रामकता को ही प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि एक वस्तु में किसी भी प्रकार का भेद, किसी भी प्रकार की अनेकरूपता सम्भव नहीं है। वह पूर्णतया एक रूप, निरंग, अखण्ड होती है तथा निर्विकल्पक ज्ञान द्वारा इसी रूप में ज्ञात होती है। उसके पश्चात् उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान अनादि कालीन अविद्या के कारण उस अखण्ड सत्ता में द्रव्य गुण रूप भेद का आरोप करके उसे अनेक रूपों में ज़ानता है। इसलिए एक वस्तु की अनेक गुणरूपता वास्तविक न होकर मानसिक कल्पना मात्र है।

जैन दार्शनिक उपर्युक्त मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि किसी भी पूर्णतया सरल, एक रूप पदार्थ का अस्तित्व असम्भव है। जो भी सत् है वह अनेक

स्वभावगत विशेषताओं में व्याप्त एक सत्ता है । उसके अनेक स्वरूप सत्तापेक्षया तादात्म्य सम्बन्ध से युक्त हैं और इसलिए एक वस्तु होते हुए भी नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा परस्पर भिन्न हैं । उदाहरण के लिए ब्रह्म भी सत्-चित्-आनन्द-नित्य-सर्वव्यापक स्वरूप सत्ता है । सत् चित् आदि परस्पर पृथक् पृथक् सत्ता न होकर तात्त्विक रूप से एक हैं । सत्ता ही चैतन्य रूप है, उसकी चैतन्यरूपता ही उसकी आनन्दमयता है । आनन्दमय चेतना ही नित्य है । सत्, चित्, नित्यत्व आदि में सत्तापेक्षया अभेद होने पर भी स्वरूप भेद है और इसलिए इनमें नाम, लक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद है । चेतना का लक्षण अनुभूति और नित्यता का लक्षण त्रैकालिक एकरूपता है । इन विशेषताओं में तात्त्विक भेद नहीं होते हुए भी स्वरूपगत अन्तर होने के कारण ब्रह्म के चैतन्य स्वरूप के ज्ञात होने पर भी उसके नित्यता, सर्वव्यापकता आदि गुण अज्ञात रहते हैं तथा उनके ज्ञान के लिये अनुमान, शब्द प्रमाण आदि का सहारा लिया जाता है । यदि वस्तु पूर्णतया एकरूप हो तो प्रथम प्रत्यक्ष में ही वह सम्पूर्णतः ज्ञात हो जानी चाहिये तथा उसके स्वरूप के निश्चय के लिये विभिन्न प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिये ।

अन्य दर्शनों द्वारा मान्य सत्ता के स्वरूप के खण्डन पूर्वक स्वयं द्वारा स्वीकृत सत्ता के स्वरूप का प्रतिपादन एक वस्तु में वास्तविक अनेक विशेषताओं की स्वीकृति पूर्वक ही सम्भव है । यदि एक वस्तु में अनेक गुण, रूप, भेद, मानसिक कल्पना मात्र हों तथा वह पूर्णतया एक रूप ही हो तो अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म और योगाचार दर्शन के विज्ञान स्वलक्षण में कोई अन्तर नहीं रहेगा क्योंकि चेतन रूप से दोनों समान हैं । विज्ञान स्वलक्षण के खण्डन पूर्वक ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन सच्चिदानन्द सत्ता में नित्यता, सर्वव्यापकता, सामान्य रूपता आदि वास्तविक अनेक स्वरूपों की स्वीकृति पूर्वक ही सम्भव है । इस प्रकार जो भी सत् हो वह अनिवार्यतः एक-अनेकात्मक ही होगा ।

जैन दर्शन के अनुसार एक वस्तु की अनेक अनिवार्य विशेषताएँ ही उसके गुण और उन स्वभावों की एक वस्तुरूपता ही द्रव्य है । द्रव्य और गुण में नाम, लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा भेद होते हुए भी तात्त्विक रूप से अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध है । इस निबन्ध में हम बौद्ध और न्याय वैशेषिक दर्शन के द्रव्य और गुण सम्बन्धी विचारों की समीक्षा करते हुए तथा न्यायवैशेषिक और जैन दर्शन द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पदावली "अयुतसिद्ध" 'आश्रय-आश्रयी-भाव, प्रदेश अभेद' आदि का विश्लेषण करते हुए जैन दर्शन के द्रव्य और गुण के मध्य सम्बन्ध सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करेंगे ।

द्रव्य की परिभाषा :

द्रव्य को परिभाषित करते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, "जो सत् लक्षणवाला है, उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त है तथा गुणपर्यायों का आश्रय है उसे सर्वज्ञ द्रव्य कहते हैं।[१] सत् होना, उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त होना तथा गुण पर्यायों का आश्रय होना, द्रव्य के तीन पृथक पृथक लक्षण न होकर एक ही लक्षण को अभिव्यक्त करने के तीन प्रकार हैं। जो भी सत् है वह गुण पर्यायवान है तथा उसकी गुणपर्यायवत्ता ही उसकी उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तता है। गुण द्रव्य का सामान्य और ध्रुव अर्थात् शाश्वत स्वरूप है तथा पर्याय उस सामान्य और शाश्वत स्वरूप की काल क्रम से उत्पन्न होने वाली विशेष अभिव्यक्तियाँ हैं। द्रव्य अपने सामान्य स्वरूप से सदैव वही रहते हुए निरन्तर पूर्व पर्याय से नष्ट होता हुआ और उत्तर पर्याय से उत्पन्न होता हुआ अस्तित्व रखता है, इसलिये प्रतिक्षण उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्त है। द्रव्य, गुण और पर्याय तीन पृथक् पृथक् सत्ताएँ नहीं हैं अपितु गुण और पर्याय द्रव्य की आत्मा हैं, स्वभाव हैं तथा गुणपर्यायात्मक द्रव्य एक सत्ता है। अमृतचन्द्र कहते हैं, "यह अस्तित्व, जो कि द्रव्य का स्वभाव है, जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में परिसमाप्त हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्येक में परिसमाप्त नहीं होता क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है।[२] द्रव्य की सिद्धि गुण और पर्यायों से, गुण की सिद्धि द्रव्य और पर्याय से तथा पर्याय की सिद्धि द्रव्य और गुण से होती है। इसलिये इनका अस्तित्व एक ही है।

एक द्रव्य अनेक गुणात्मक होता है। गुण वह है जो द्रव्य को विशेषित करता है, उसे अन्यों से व्याकृत करता है तथा उसके स्वरूप को निर्धारित करता है।[३] एकद्रव्य अपने समस्त गुणों में व्याप्त एक असत् है। गुण द्रव्य की आत्मका, उसका स्वभाव है तथा द्रव्य अपने गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। द्रव्य और गुणों के तादात्म्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं, "द्रव्य के बिना गुण नहीं होते तथा गुण के बिना द्रव्य नहीं होते। इसलिये द्रव्य तथा गुण परस्पर अभिन्न हैं।[४] इसकी व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं, "जिस प्रकार पुद्गल से पृथक् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श नहीं होते उसी प्रकार द्रव्य के बिना गुण नहीं होते, तथा जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से पृथक् पुदगल नहीं होता उसी प्रकार गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य और गुण में आदेशवशात् कथंचित् भेद है तथापि वे एक अस्तित्व में नियत होने के कारण अन्योन्यवृत्ति नहीं छोडते इसलिये उनमें वस्तु रूप से अभेद है।[५] द्रव्य और गुण में संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होता है। द्रव्य का नाम यथा आत्मा अलग है, तथा गुणों का नाम यथा ज्ञान, दर्शन, सुखादि अलग है। द्रव्य एक होता है, गुण अनेक होते हैं। इनके लक्षण भिन्न भिन्न

होते हैं । द्रव्य और गुण में उपर्युक्त अन्तर होते हुए भी ये पृथक्-पृथक् सत्ता न होकर एक सत्ता है । गुण द्रव्य का स्वरूप होने के कारण अनेक गुण ही एक द्रव्य हैं तथा द्रव्य अपने अनेक गुणों के अतिरिक्त कुछ नहीं है । द्रव्य और गुण के भेदाभेद सम्बन्ध के सन्दर्भ में कुन्दकुन्द का यह कथन दृष्टव्य है, "ज्ञान आत्मा है तथा आत्मा के बिना ज्ञान का अस्तित्व नहीं हो सकता है । आत्मा अपने ज्ञान गुण से ज्ञान रूप है तथा अन्य गुणों से अन्य रूप भी है ।[६] इस प्रकार एक द्रव्य भेदाभेदात्मक, एकानेकात्मक सत्ता है।

बौद्ध मत -गुण ही वास्तविक सत्ता :

बौद्ध दर्शन के अनुसार परस्पर सन्बन्धित, पूर्णतया सरल और एकरूप गुणों या धर्मों की ही वास्तविक सत्ता है तथा उनके अतिरिक्त किसी धर्मो या द्रव्य का अस्तित्व नहीं है ।[७] क्योंकि हमें सदैव गुणों की ही उपलब्धि होती है, गुणों से भिन्न गुणी का बोध हमें कभी नहीं होता ।[८] हमें चक्षु से रूप का, जिह्वा से रस का, नासिका से गन्ध का और त्वचा से स्पर्श का ही प्रत्यक्ष होता है । ऐसा एक भी प्रत्यक्ष नहीं है जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवान घट द्रव्य का ज्ञान कराये । घटादि द्रव्य की सिद्धि के लिये कोई प्रमाण नहीं होने के कारण उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता । अत: वह (सत्य) अनादि दासना जनित मानसिक कल्पना मात्र है ।[९]

कहा जा सकता है कि गुणों के ज्ञान पूर्वक द्रव्य ही ज्ञात होता है । रूप ज्ञान पूर्वक रूपवान घट ही ज्ञात होता है । इसे अस्वीकार करते हुए प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं कि गुण के ज्ञान से द्रव्य को ज्ञात मानने पर द्रव्य मात्र एक गुण रूप ही सिद्ध होगा, रूप ज्ञान से यदि घट ही ज्ञात होता है तो फिर घट रूप गुण मात्र ही होगा, उसे रस, मन्धादि अन्य गुण रूप स्वीकार नहीं किया जा सकेगा, क्योंकि एक गुण के ज्ञान से मात्र वह गुण ही ज्ञात होता है, अनेक गुणमय एक द्रव्य नहीं ।

द्रव्य की सिद्धि के लिये "जिसे मैंने देखा था उसी का स्पर्श कर रहा हूँ । इस प्रत्याभिज्ञान को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है । इसे अस्वीकार करते हुए प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं कि द्रव्य और गुण में भेद है या अभेद ? यदि द्रव्य और गुण में भेद है तो जिस प्रकार घट ज्ञान द्वारा घट ही ज्ञात होगा, पट ज्ञात नहीं हो सकता उसी प्रंकार रूप ज्ञान द्वारा रूप और स्पर्श ज्ञान द्वारा स्पर्श ही ज्ञात होगा; उनसे भिन्न रूपवान, स्पर्शवान घट नहीं ; यदि द्रव्य और गुण में अभेद है तो द्रव्य एक गुण रूप ही हो जायेगा । तब रूप ज्ञान पूर्वक "रूप घट है यही ज्ञात होगा, "रूप-स्पर्श घट हैं" नहीं क्योंकि रूप और स्पर्श के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं और दो भिन्न भिन्न स्वरूप

में ज्ञात होने वाले पदार्थ एक सत्ता नहीं हो सकते।[10]

वस्तुतः द्रव्य एक वास्तविक सत्ता न होकर सेना, बन आदि के समान एक नाम मात्र है। जिस प्रकार सेना पुरुष, हाथी आदि के समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, बन परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व रखने वाले वृक्षों के समूह को दिया गया एक नाम मात्र है, उसी प्रकार द्रव्य भी एक यथार्थ सत्ता न होकर परस्पर स्वतन्त्र अनेक गुणों पर एकता का आरोप करके दिया गया एक नाम मात्र है।[11]

जैन मत – गुण की द्रव्याश्रयता और द्रव्य तथा गुण में भेदाभेद सम्बन्ध :

जैन दार्शनिक कहते हैं कि न तो पूर्णतया सरल, निरंश, एकरूप गुणों की स्वतन्त्र सत्ता सम्भव है और न ही द्रव्य और गुण परस्पर स्वतन्त्र अस्तित्व रख सकते हैं। इसके विपरीत जो भी अस्तित्ववान् है वह एक अनेकात्मक, भेद – अभेदात्मक सत्ता है – द्रष्टा है। स्वयं बौद्ध यह स्वीकार करते हैं कि जो शब्द है, वही अनित्य है, वही कृतक है। शब्दादि विभिन्न धर्मों में स्वरूप भेद होने पर भी ये अलग अलग तत्त्व न होकर एक सत्ता, एक द्रव्य है। पदार्थ के इस भेदाभेदात्मक एकानेकात्मक स्वरूप के कारण ही पदार्थ की शब्द रूपता का प्रत्यक्ष होने पर उसकी सत्ता को हेतु बना कर उसकी अनित्यता का अनुमान किया जाता है।[12] अनित्यता का अर्थ है हेतु प्रत्यय समुत्पन्नता। इस लक्षण भेद के कारण पदार्थ की अनित्यता के ज्ञान से उसकी कृतकता ज्ञात नहीं होती। लेकिन "जो अनित्य है वह अनिवार्यतः कृतक हैं," अनित्य और कृतक धर्म में इस तादात्म्य सम्बन्ध के सद्भाव के कारण ही पदार्थ की अनित्यता का ज्ञान होने पर उसकी कृतकता का अनुमान किया जाता है। इस प्रकार शब्द, अनित्य आदि किसी भी धर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वह अनेक गुणात्मक एक जटिल सत्ता की विशेषता है। शब्द अपने आप में नहीं रहता बल्कि उसका अस्तित्व हेतु प्रत्यय समुत्पन्न अनित्य क्षणिक पदार्थ में ही हो सकता है। अनित्यता अपने आप में कुछ नहीं होती बल्कि उसका आश्रय हेतु प्रत्यय समुत्पन्न शब्द है। कृतकता का आश्रय अनित्य शब्द है। पदार्थ के शब्द, अनित्य, कृतक आदि विभिन्न धर्मों में नाम, लक्षणादि की अपेक्षा भेद होने पर भी [13] उनमें एकाधारता या एकाश्रय वृत्ति रूप अभेद है।[14] ये परस्पर एक दूसरे की आत्मा या स्वभाव होते हुए, एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त होते हुए एक द्रव्यरूपता को प्राप्त कर रहे हैं।

बौद्ध उपर्युक्त विवेचन को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक वस्तु अनेक रूप नहीं हो सकती। इसलिए एक वस्तु में भेद, अभेद और भेदाभेद अनादि वासना

जनित कल्पना मात्र हैं ।[१५] पदार्थ पूर्णतया एक स्वभावी ही होता है, तथा वह प्रत्यक्ष द्वारा सम्पूर्णत: ज्ञात होता है ।[१६] इस प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये पदार्थ में किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाने पर उसके निराकरण के लिये अनुमान की प्रकृति होती है, जिसमें एक निरंश वस्तु में धर्मधर्मी भेद का आरोप करकें उसका अनेक रूपों में निश्चय किया जाता है ।[१७] एक वस्तु में शब्द, अनित्य, कृतक आदि अनेक स्वभाव न होकर ये भेद मात्र शाब्दिक हैं तथा पदार्थ में इस शाब्दिक भेद का उद्देश्य उसे विजातीय पदार्थों से व्यावृत करना है । शब्द पदार्थ को अशब्द से, अनित्य इसे नित्य से और कृतक अकृत्यसे पृथक करता है । परमार्थत: एक धर्मी में अनित्यादि अनेक धर्म विद्यमान नहीं हैं ।[१८]

जैन दार्शनिक कहते हैं कि पदार्थ के पूर्णतया एक रूप होने पर तथा प्रत्यक्ष द्वारा उसे सम्पूर्णतया जान लिये जाने पर न तो उसके प्रति किसी प्रकार का भ्रम होना चाहिये, न ही उसे जानने के लिये अनुमानादि अन्य प्रमाणों की आवश्यकता होनी चाहिये । प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु की शब्द रूपता का यथार्थ निश्चय होने पर भी उसके प्रति नित्यता का भ्रम उसकी अनित्यता आदि वास्तविक अनेक स्वभावता को सिद्ध करता है । यदि शब्द, अनित्यता आदि पदार्थ की वास्तविक विशेषताएँ न होकर अशब्द नित्य आदि के ही समान ही शब्द मात्र हों तो नित्यता आदि के निराकरण पूर्वक पदार्थ की शब्द रूपता आदि को सिद्धि का कोई औचित्य नहीं है ।

न्याय वैशेषिक मत – द्रव्य और गुण में भेद :

न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य गुणात्मक न होकर गुणों का आधार मात्र है । द्रव्य और गुण के संख्या, संज्ञा, लक्षण आदि भिन्न भिन्न होने के कारण ये एक वस्तु न होकर पृथक् पृथक् सत्ता है ।

उद्योतकर कहते हैं कि रूप, रस आदि गुण अनेक हैं तथा पृथ्वी एक द्रव्य है। जिनकी संख्याएँ भिन्न भिन्न होती हैं वे भिन्न भिन्न पदार्थ हैं :- जैसे अनेक नक्षत्र और एक चन्द्रमा ।[१९] यदि रूपादि गुण और पृथ्वी आदि द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तो इसका अर्थ होगा कि रूप ही पृथ्वी तथा पृथ्वी ही रूप है । ऐसी स्थिति में पृथ्वी मात्र एक गुण रूप ही हो जायेगी तथा अन्य गुणों की उसमें सत्ता नहीं रहेगी।[२०] श्रीधर कहते हैं कि जो पदार्थ परस्पर भिन्न भिन्न स्वरूप में ज्ञात होते हैं वे एक सत्ता न होकर परस्पर पृथक् पृथक् सत्ताएँ है ।[२१] द्रव्य उसे कहा जाता है जो गुण और कर्म का आश्रय है तथा कार्य का समवायी कारण है ।[२२] जो स्वयं निर्गुण और निष्क्रिय होता है तथा संयोग और विभाग के निरपेक्ष कारण से भिन्न होता है उसे गुण

कहते हैं। द्रव्य और गुण अयुतसिद्ध पदार्थ हैं और इनमें समवाय सम्बन्ध है। आधाराधेयरूप से अवस्थित अयुतसिद्ध पदार्थों में जो "इसमें यह है" इस ज्ञान का कारण होता है उसे समवाय सम्बन्ध कहा जाता है।[२३] अयुतसिद्ध शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए श्रीधर कहते हैं, "युतसिद्धि का अर्थ है पृथक् अवस्थिति। जिन पदार्थों की परस्पर पृथक् पृथक् आश्रय में अवस्थिति असम्भव हो वे अयुत सिद्ध पदार्थ हैं।" उदाहरण के लिये "कुण्डे में दही है" यहाँ कुण्डा और दही युतसिद्ध पदार्थ हैं क्योंकि भौतिक रूप से इनमें आश्रय आश्रयीभाव दृष्टिगोचर होते हुए भी तात्त्विक रूप से इनके आश्रय पृथक् पृथक् हैं। कुण्डे का आश्रय उसके अपने अवयव और दही का आश्रय उसके अवयव हैं। इसके विपरीत "इन तन्तुओं में पट है" यहाँ पट के तन्तुओं से स्वतन्त्र आश्रय में उपलब्ध नहीं होने या दोनों में एक आश्रय वृत्तित्व होने के कारण ये अयुतसिद्ध पदार्थ हैं। जयन्त कहते हैं कि अयुतसिद्ध पदार्थों में प्रदेश भेद का अभाव होता है।[२४]

प्रश्न उठता है कि "वस्त्र में श्वेत रंग है" ज्ञान के इस आकार द्वारा द्रव्य और गुण में भेद और उनके मध्य समवाय सम्बन्ध को सिद्ध किया जाता है, लेकिन ज्ञान का आकार तो "श्वेत वस्त्र" भी होता है जो इनके तादात्म्य को सिद्ध करता है। इस आपत्ति को अस्वीकार करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि 'श्वेत वस्त्र' द्रव्य और गुण का यह सामानाधिकरण्य ज्ञान दो अभिन्न पदार्थों का ज्ञान न होकर भिन्न तथा परस्पर सम्बद्ध पदार्थों का ज्ञान है। यदि ऐसा न मानकर श्वेत और वस्त्र में तादात्म्य सम्बन्ध ही माना जाय तो "श्वेत" के ज्ञान से ही "वस्त्र" भी ज्ञात हो जाना चाहिये तथा वस्त्र के पृथक् पृथक् उच्चारण की कोई आवश्यकता नहीं होनी चाहिए।[२५]

सदैव धर्मी या द्रव्यगुण, कर्म, सामान्यादि धर्मों के ज्ञान पूर्वक ज्ञात होता है। सत्ता जाति के ज्ञान पूर्वक द्रव्य "सत" रूप से, द्रव्यत्व जाति के ज्ञान पूर्वक द्रव्य रूप से, गन्धादि गुणों के ज्ञान पूर्वक पृथ्वी रूप से ज्ञात होता है। प्रश्न उठता है कि यदि ये गुणादि धर्म द्रव्य का स्वरूप न होकर उससे भिन्न हैं तो इनके ज्ञान पूर्वक द्रव्य किस प्रकार ज्ञात हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीधर कहते हैं, "जिस प्रकार अग्नि और लौहपिण्ड में संयोग होने पर लौहपिण्ड अग्नि से संश्लिष्ट होकर अग्नि रूप या उष्ण हो जाता है उसी प्रकार धर्म और धर्मी में समवाय सम्बन्ध होने पर धर्म धर्मी में विशेषता उत्पन्न कर देता है तथा इसके कारण ही धर्म धर्मी के प्रति आत्मानुरूप प्रत्यय उत्पन्न करता है।[२६] जैसे सत्ता जाति द्रव्य, गुण और कर्म में समवेत होकर उनके प्रति आत्मानुरूप प्रत्यय उत्पन्न करती है, यथा, द्रव्य सत् है, "गुण सत् है", "कर्म सत् है।" इस प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म के प्रति सत् होने

का ज्ञान उनमें सत्ता जाति का समवाय होने के कारण ही होता है ।[२७] "वस्तुत: विशेषण (धर्म) विशेष्य (धर्मी) का स्वभाव है, विशेष्य का अनुरंजक है, स्वयं को विशेष्य के प्रति उत्सर्जित करता है । इसलिये वह (धर्म) विशेष्य (धर्मी) के प्रति विशिष्ट बुद्धि का कारण है ।[२८] इतना होने पर भी द्रव्य गुणादि को एक नहीं माना जा सकता क्योंकि ये परस्पर विलक्षण रूप से ज्ञात होते हैं और जो भिन्न भिन्न स्वरूप में ज्ञात होते हैं वे भिन्न भिन्न सत्ताएँ हैं । यदि इस बात को स्वीकार नहीं किया जाय तो जगत् में पदार्थों के भेद और अभेद का कोई आधार ही नहीं रहेगा ।[२९]

जैन मत :

जैन दार्शनिक कहते हैं कि द्रव्य परस्पर असम्बन्धित और अपने से भिन्न गुणों का निर्विशेष आश्रय मात्र न होकर अपने समस्त गुणों में व्याप्त एक अखण्ड सत्ता है । गुण द्रव्य का आत्मा या स्वभाव है । यदि ऐसा नहीं माना जाय तो द्रव्य निस्वभाव हो जायेगा तथा उसकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होगी । जैसा कि हम देख चुके हैं न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य या धर्मी न तो स्वभावत: सत् है न द्रव्य उससे भिन्न सत्ता जाति उसमें समवेत होकर उसे सत् रूपता और द्रव्यत्व जाति उसे द्रव्य रूपता प्रदान करती है । उनकी इस मान्यता की आलोचना करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं, "यदि द्रव्यं स्वरूपत: सत् नहीं है तो वह स्वरूपत: असत् होगा और जिसकी सत्ता ही नहीं है वह द्रव्य किस प्रकार हो सकता है? द्रव्यत्व से भिन्न होने पर भी वह द्रव्य किस प्रकार हो सकता है? अत: द्रव्य स्वयं सत्ता है ।[३०]" जयसेन कहते हैं, "सत्ता जाति के समवाय से पूर्व द्रव्य सत् है या असत् ? यदि सत् है तो उसमें सत्ता का समवाय व्यर्थ है क्योंकि वह पहले से ही अस्तित्व स्वरूप में अवस्थित है, यदि असत् है तो आकाशकुसुम के समान अविद्यमान द्रव्य में सत्ता का समवाय किस प्रकार हो सकता है?[३१]"

जैन दर्शन के अनुसार अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व आदि द्रव्य मात्र का शाश्वत स्वरूप होने के कारण जैन दर्शन के अनुसार गुण कहलाते हैं ।

नैयायिकों की यह मान्यता कि गुण द्रव्य में समवेत होकर उसे अपना स्वरूप प्रदान करता है, तभी सत्य हो सकती है जब कि द्रव्य और गुण एकात्मता को प्राप्त करें एक सत्ता हों । ऐसी स्थिति में समवाय सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध ही होगा । समवाय शब्द का विश्लेषण करते हुए कुन्दकुन्द कहते हैं, "दो पदार्थों का समवर्तित्व ही समवाय है यही उनका अपृथक्त्व ही अयुतसिद्धत्व है । इस समवर्तित्व रूप समवाय से युक्त होने के कारण ही द्रव्य और गुण को अयुतसिद्ध कहा जाता है ।[३२]"

इसकी व्याख्या करते हुए अमृत चन्द्र कहते हैं, "द्रव्य और गुण एक अस्तित्व से रचित हैं।" इसलिये उनकी जो अनादि अनन्त सहवृत्ति (एक साथ रहना) वहाँ वास्तव में समवर्तिपना है, वहाँ जैनों के मत में समवाय है, वही उनमें संज्ञादि भेद होने पर भी वस्तुरूप से अपृथक्पना है, वही युतसिद्धि (युत=पृथक +सिद्धि =अस्तित्व) के कारण भूत अस्तित्वान्तर का अभाव होने के कारण अयुतसिद्धपना है। इस प्रकार समवर्तित्व रूप समवाय वाले द्रव्य और गुण में अपृथक् अस्तित्व रूप अयुतसिद्धि ही है उनकी पृथक् पृथक् सत्ता नहीं है।[33]

नैयायिक उपर्युक्त विवेचन पर आपत्ति करते हुए कहते हैं कि अयुतसिद्ध का अर्थ अपृथक अस्तित्व नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ एकात्मक है वे द्विरूपता से युक्त होकर दो किस प्रकार हो सकते हैं ? द्रव्य और गुण में स्वरूप भेद है, जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, तथा जो गुण है वह द्रव्य नहीं है। यह स्वरूप भेद ही द्रव्य और गुण के पृथक् पृथक् अस्तित्व का आधार है। यदि यह स्वीकार नहीं किया जाय तो जगत् में भेद और अभेद की व्यवस्था सम्भव नहीं है। इसलिए अयुतसिद्धि का अर्थ दो पदार्थों की एकात्मकता न होकर उनमें पृथक पृथक आश्रयों में आश्रितता का अभाव या एकाश्रयवृत्तित्व है। अयुतसिद्ध पदार्थों में प्रदेश भेद का अभाव होता है।[34]

जैन दार्शनिक इस आपत्ति को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि द्रव्य और गुण में स्वरूप भेद होते हुए भी तात्त्विक रूप से अभेद है। द्रव्य और गुण पृथक् पृथक् सत्ता न होकर एक ही सत्ता के दो परस्पर अपरिहार्य पक्ष है। जो भी अस्तित्ववान् है वह एक अनेक स्वभावी है। एक वस्तु के अनेक स्वभाव ही उनके विभिन्न गुण तथा उन गुणों की एक वस्तु रूपता ही द्रव्य है। इसलिये द्रव्य और गुण संख्या संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा भिन्न होने पर भी एक सत्ता है। उनमें एकाश्रयवृत्तित्व या प्रदेश अभेद उनके इसी तादात्म्य सम्बन्ध का परिचायक है। जो पृथक पृथक सत्ता होते हैं उनके प्रदेश भी दण्ड और दण्डी के समान पृथक् पृथक् ही होते हैं।[35] जिस प्रकार कुण्डे और दही के पृथक् पृथक् पदार्थ होने के कारण उनके आश्रय भी भिन्न भिन्न है। कुण्ड अपने अवयवों में और दही अपने अवयवों में रहता है उसी प्रकार यदि कुण्डा और उसके गुण भी पृथक् पृथक् सत्ता हो तो उनके आश्रय भी भिन्न होंगे, कुण्डे के गुणों का आश्रय कुण्डा होगा और कुण्डे का आश्रय उसके अवयव होंगे।[36] विभिन्न पदार्थों में प्रदेश अभेद होने का अर्थ यह नहीं है कि वे आकाश के समान अंश में अवस्थित हैं। आकाश के समान अंश में तो वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा, दिक् काल और आकाश भी अवस्थित हैं लेकिन उनमें समानाधिकरण्य या

प्रदेश अभेद स्वीकार नहीं किया जाता । यह स्थान जिसमें कोई पदार्थ रहता है या पदार्थ का विस्तार उसके प्रदेश कहलाते हैं । तात्त्विक रूप से कोई भी पदार्थ आकाश में न रहकर अपने आप में, अपने स्वरूप में रहता है । द्रव्य का आत्मा या स्वभाव उसके समस्त गुण हैं ।[३७] और गुण का स्वभाव उसका आश्रयभूत सम्पूर्ण द्रव्य है ।[३८] इसलिए एक द्रव्य अपने समस्त गुणों में और एक गुण अपने आश्रयभूत सम्पूर्ण द्रव्य में रहता है । द्रव्य और गुण की यह परस्पराश्रयता या अन्योन्यवृत्ति ही उनका एकाश्रयवृत्तित्व या प्रदेश अभेद है जो उनके तादात्म्य सम्बन्ध को सिद्ध करता है ।

द्रव्य और गुण में प्रदेश अभेद गुण के गुणात्मक स्वरूप पर निर्भर करता है। वैशेषिक दर्शन के समान ही जैन दार्शनिक भी गुण को परिभाषित करते हुए कहते हैं, जो द्रव्य के आश्रय में रहता है और स्वयं निर्गुण है उसे गुण कहा जाता है ।[३९] लेकिन साथ ही वे यह भी कहते हैं कि गुण भेदापेक्षया ही निर्गुण होते हैं, अभेदापेक्षया वे गुणात्मक ही हैं । द्रव्य और गुण में तादात्म्य सम्बन्ध अभेद होने के कारण अभेदापेक्षया द्रव्य का कोई भी गुण अपने आश्रय भूत द्रव्य के समान ही द्रव्य के समस्त गुणों का आश्रय है ।[४०] प्रभाचन्द्र आश्रयीभाव का अर्थ और गुणों की परस्पराश्रयता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'उस रूप परिणति ही आश्रय-आश्रयीभाव है'[४१] अर्थात् द्रव्य का गुण स्वरूपता को प्राप्त होना ही द्रव्य और गुण का आश्रयआश्रयी भाव है । यह आश्रयआश्रयी भाव मात्र द्रव्य और गुण में ही नहीं है अपितु एक द्रव्य के समस्त गुण परस्पर एक दूसरे के आश्रय में रहते हैं । पुद्गल द्रव्य के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गुण परस्पर आश्रित होकर एक लोली भाव से आत्मलाभ करते हुए या परस्पर तन्मयता को प्राप्त होकर एक पुद्मल द्रव्य रूपता को प्राप्त कर रहे हैं ।[४२] प्रभाचन्द्र के इन कथनों का आशय यह है कि गुण की द्रव्याश्रयता का अर्थ है कि एक गुण सम्पूर्ण द्रव्य अर्थात द्रव्य, उसके समस्त गुणों और उसकी वर्तमानकालीन पर्याय तीनों से तन्मयता को प्राप्त करता हुआ, तीनों का स्वरूप होता हुआ उनमें रहता है । इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र कहते हैं, जिस प्रकार एक मोतियों के हार का शुक्ल गुण शुक्ल हार, शुक्ल मोती, शुक्ल धागा, इन तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है उसी प्रकार एक द्रव्य के अस्तित्व गुण का विस्तार सत् द्रव्य, सत् गुण, सत् पर्याय इन तीन प्रकार से किया जाता है ।[४३] जयसेन इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि शुद्धात्म द्रव्य का अस्तित्व गुण उसके केवलज्ञानादि अन्य गुणों और उसकी सिद्ध पर्याय से संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भिन्न होते हुए भी प्रदेशात्मक तन्मयता होने के कारण अभिन्न है । इसलिये शुद्धात्म द्रव्य के अस्तित्व गुण द्वारा शुद्धात्म द्रव्य उसके केवलज्ञानादि गुण

और उसकी सिद्ध पर्याय तीनों सत् लक्षणता प्राप्त कर रहे हैं ।[८४] 'अस्तित्व' का अर्थ है सद्भाव या होना । इसके लक्षण की अपेक्षा से यह गुण निर्गुण है क्योंकि द्रव्य का अस्तित्व गुण मात्र उसके सद्भाव का ही ज्ञान कराता है । इस गुण को जानने से यह ज्ञात नहीं होता कि द्रव्य नित्य है या अनित्य, ज्ञान मय है ज्ञान रहित । इस प्रकार संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा अस्तित्व के निर्गुण होने पर भी सत्तापेक्षया वह गुणात्मक ही है । शुद्ध सद्भाव या निर्विशेष अस्तित्व अपने आप में कुछ नहीं होता बल्कि सत्ता सदैव विशेष गुणपर्यायात्मक स्वरूप लिये हुए ही होती है । ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यात्मक आत्मा सत् होता है. रूप-रस-गन्ध-स्पर्शात्मक पुद्मल सत् होता है । जिस प्रकार एक द्रव्य का अस्तित्व गुण उस द्रव्य के अन्य गुणों से संज्ञा, लक्षण आदि की अपेक्षा भिन्न होते हुए भी उनका स्वरूप होकर और उनसे अपने स्वरूप को प्राप्त करता हुआ उन सभी में रहता है, उसी प्रकार द्रव्य के सभी गुण एक दूसरे का स्वभाव होकर एक दूसरे के आश्रय में-एक आश्रय में रहते हैं । अपनी इस परस्पराश्रयता रूप प्रदेशात्मक एकता के कारण वे सभी एक अनेक स्वभावता रूप एक स्वभावता में तथा एक द्रव्य रूपता में अवस्थित हैं । एक द्रव्य के सभी गुण परस्पर अविनाभावी हैं । उनमें से किसी भी एक गुण का अभाव होने पर अन्य गुणों का सद्भाव असम्भव है । इस कारण एक द्रव्य के सभी गुण एक कालवर्ती हैं । इसलिए माइल धवल कहते हैं, ''स्वचतुष्टयापेक्षया (स्वद्रव्य, स्वकोष, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा) एक द्रव्य के सभी गुण परस्पर एक दूसरे का स्वभाव होते हैं।[८५] और इसलिए वे सभी एक द्रव्य हैं ।[८६]

जैन आचार्य उद्योतकर के इस कथन से कि द्रव्य और गुण में अभेद स्वीकार करने पर (द्रव्य का एक गुण अभेद स्वीकार करने पर) द्रव्य एक गुण रूप हो जायेगा, पूर्णतया सहमत हैं । वे कहते हैं, ''समगुणपर्ययवत् द्रव्यम्'' एक द्रव्य अपने एक गुण और वर्तमानकालीन पर्याय के समान विस्तार वाला है ।[८७] उदाहरण के लिए आत्मा और ज्ञान समान विस्तार से युक्त हैं । न तो आत्मा का विस्तार ज्ञान से कम है और न ही वह ज्ञान से अधिक विस्तारवाला है ।[८८] इसीलिए आत्मा ही ज्ञान और ज्ञान ही आत्मा है ।[८९] द्रव्य और गुण में इस एकता को स्वीकार करते हुए भी जैन दार्शनिक नैयायिकों के इस आक्षेप को स्वीकार नहीं करते कि द्रव्य और गुण में एकात्मता होने पर द्रव्य भी गुण के समान ही पूर्णतया सरल और एकरूप हो जायेगा तथा उसमें अन्य गुणों की सत्ता नहीं रहेगी । इसके विपरीत द्रव्य के एक गुण रूप होने का अर्थ यह है, कि सत्तापेक्षया द्रव्य का कोई भी गुण द्रव्य के समान हो अनेक गुणात्मक जटिल स्वरूप से युक्त है । ज्ञान ही आत्मा और आत्मा ही ज्ञान है'' इसका

यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में दर्शन सुख आदि अन्य गुणों का अभाव है, बल्कि इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार दर्शन, वीर्यादि समस्त गुण आत्मा का स्वभाव हैं उसी प्रकार ये ज्ञान के भी स्वभाव हैं। आत्मा एक चेतन तत्त्व है। चेतना का लक्षण है अनुभूति और सक्रियता।[५०] "चेतन आत्मा परस्पर अविनाभावी अनेक स्वभावों से युक्त है। उसके अनुभूत्यात्मक स्वभाव का नाम दर्शन, निश्चयात्मक स्वभाव का नाम ज्ञान, आल्हादात्मक स्वभाव का नाम सुख और प्रयत्नात्मक स्वभाव का नाम वीर्य है। आत्मा के ये विभिन्न स्वभाव तात्त्विक रूप से पृथक् पृथक् न होकर एक अभिन्न सत्ता हैं। जो सत्ता ज्ञान है, वही दर्शन है, वही सुख है, वही वीर्य है---। तात्त्विक रूप से इनमें विभाजन असम्भव होने पर भी इन विभिन्न स्वरूपों के नाम, लक्षण और प्रयोजन भिन्न भिन्न हैं। इस अपेक्षा से जो ज्ञान है, वह दर्शन नहीं है, सुख नहीं है, वीर्य नहीं है ----। ज्ञानादि विभिन्न गुणों के अभेदात्मक पक्ष को एक नाम "आत्मा" तथा भेदात्मक पक्ष को ज्ञान, दर्शन आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं। ज्ञान और आत्मा में शब्दिक और लाक्षणिक अन्तर होते हुए भी तात्त्विक अन्तर नहीं है। तात्त्विक रूप से जो आत्मा है कही ज्ञान है क्योंकि सम्पूर्ण आत्मा अर्थात् आत्मा के समस्त गुण ज्ञान का स्वभाव है। ज्ञान दर्शनात्मक है क्योंकि यदि वह दर्शन या अनुभूति रहित हो तो जड होगा और ज्ञान कभी जड नहीं हो सकता,[५१] ज्ञान वीर्यात्मक है क्योंकि वह यान्त्रिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न नहीं होता। इसके विपरीत वह परिणामी नित्य और उपयोगमय होने के कारण प्रयत्न पूर्वक पदार्थों को जानता है।[५२] मोह, राग, द्वेष से युक्त होने पर ज्ञान दुखात्मक और इनसे रहित होने पर सुखात्मक होता है।[५३] यदि ज्ञान को अस्तित्वात्मक न माना जाय तो ज्ञान का अभाव होगा। इस प्रकार सम्पूर्ण आत्मा के ज्ञान का स्वभाव होने के कारण सत्तापेक्षया ज्ञान और आत्मा के अभेद को प्रतिपादित करते हुए अमृत चन्द्र कहते हैं, "ज्ञानी ज्ञान से पृथक नहीं है क्योंकि दोनों एक अस्तित्व से रचित होने के कारण एक द्रव्य रूप हैं, दोनों के प्रदेश अभिन्न होने के कारण दोनों एकक्षेत्रवर्ती हैं। दोनों के एक समयवर्ती होने के कारण दोनों के एक काल कालपना है। दोनों के एक स्वभावी होने के कारण दोनों के एक स्वभावपना है।[५४]

जैसा कि हम देख चुके हैं, द्रव्य और गुण में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होने पर भी तादात्म्य सम्बन्ध होता है। यदि इनमें भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकार न करके संज्ञानि भेदों के कारण इन्हें भिन्न भिन्न सत्ता माना जाय तो गुण द्रव्य में न रहकर अपने आप में रहेगा। लेकिन,अमृतचन्द्र कहते हैं, "गुण वास्तव में किसी के आश्रित होते हैं, वे जिसके आश्रित हो वह द्रव्य होता है। यदि वह (द्रव्य)

गुणों से भिन्न हो तो फिर भी गुण किसी के आश्रित होंगे, वे जिसके आश्रित हो वह द्रव्य होता है, यदि वह (द्रव्य) भी गुणों से भिन्न हो तो ------ इस प्रकार द्रव्य और गुण में पूर्ण भेद स्वीकार किया जाय तो द्रव्य की अनन्तता का प्रसंग आता है।[५५] अमृतचन्द्राचार्य की उपर्युक्त युक्ति का आशय यह है कि कभी किसी पूर्णतया सरल, एकरूप गुण का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं हो सकता। जो भी अस्तित्ववान है वह एक अनेक स्वभावी है। यदि विभिन्न स्वभावों और स्वभाववान में संज्ञा, लक्षण आदि के अन्तर के कारण तात्त्विक भेद स्वीकार किया जाय तो फिर स्वभाव या गुण स्वयं अपने आप में अनेक गुणात्मक एक द्रव्य होगा। यदि ज्ञान और आत्मा में पूर्ण भेद स्वीकार किया जाय तब ज्ञान आत्मा में न रहकर अपने आप में रहेगा और तब वह स्वयं अनेक गुणों का आश्रयभूत द्रव्य होगा। उसमें किसी के पूर्व और किसी के पश्चात् होने के कारण परत्व और अपरत्व होगा, एक रूप होने के कारण "एक" संख्या गुण होगा, उसका अन्य सभी पदार्थों से पृथक् अस्तित्व होने के कारण उसमें "पृथक्त्व" गुण भी होगा ----- । इस प्रकार एक सरल गुण ज्ञान अनेक गुणात्मक द्रव्य में ही रहेगा। यदि उस द्रव्य को भी लक्षणादि की अपेक्षा भेद के आधार पर द्रव्य से भिन्न माना जाय तो फिर वह किसी अन्य अनेक गुणात्मक द्रव्य का स्वरूप होगा। इस प्रकार द्रव्य गुण को पूर्णतया पृथक् पृथक् सत्ता स्वीकार करने पर द्रव्य की अनन्तता का प्रसंग आता है।

जैन दार्शनिक की एकानेकात्मक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये चित्र, मेचक रत्न आदि का दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार एक चित्र लाल, नीला, पीला आदि अनेक रंगों में व्याप्त होता है तथा ये रंग चित्र रूप से एक होते हुए भी रंग रूप से अनेक हैं उसी प्रकार एक द्रव्य अनेक गुणों में व्याप्त होता है। इसके गुण द्रव्य रूप से एक होते हुए भी गुण रूप से अनेक हैं। तथा इनमें भेदाभेद सम्बन्ध है।

जैन दर्शन का द्रव्य और गुण में भेदाभेद सम्बन्ध का सिद्धान्त न केवल अनेक विशेषताओं के द्वारा होनेवाले एक वस्तु के ज्ञान की व्याख्या करता है बल्कि यह हमारे अन्य अनेक अनुभवों की भी व्याख्या करता है।

हमें प्रायः अनुभव होता है कि वस्तु किसी नयी विशेषता का ज्ञान न केवल सम्पूर्ण वस्तु की समझ में वृद्धि करता है बल्कि उस वस्तु के पूर्वार्जित बोध में संशोधन और परिष्कार भी करता है। "आत्मा में ज्ञान है" इस ज्ञान द्वारा व्यक्ति को यह तो यथार्थतः ज्ञात हो जाता है कि आत्मा पदार्थों को जानता है, लेकिन साथ ही उसे यह भ्रम भी हो सकता है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष पूर्वक आत्मा में पदार्थ का ज्ञान स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है। आत्मा के वीर्य गुण की समझ न केवल व्यक्ति के

आत्मस्वरूप सम्बन्धी ज्ञान में बुद्धि करती है बल्कि आत्मा और ज्ञान के प्रति इस भ्रम को समाप्त कर कि,आत्मा को पदार्थ इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष पूर्वक स्वत: ज्ञात नहीं होता बल्कि आत्मा पदार्थ विशेष पर अपनी चेतना को केन्द्रित कर उसे जानने के लिये प्रवृत्ति पूर्वक ही उसे जानता है, उसके ज्ञान में संशोधन और परिष्कार भी करती है। एक द्रव्य के ज्ञात-अज्ञात स्वरूप वस्तु (कुछ विशेषताओं की अपेक्षा ज्ञात और अन्य की अपेक्षा अज्ञात होना) का ज्ञान तथा उसके ज्ञान में वृद्धि के साथ ही साथ उसके पूर्वार्जित ज्ञान में संशोधन और परिष्कार द्रव्य और गुण के भेदाभेद सम्बन्ध को सिद्ध करता है।

डा. राज कुमारी जैन

व्याख्याता, दर्शन शास्त्र
राजकीय महाविद्यालय,
अजमेर

टिप्पणियाँ

१) पंचास्तिकाय संग्रह : गाथा - १०
२) प्रवचनसार तत्त्व प्रदीपिका; गाथा - ९६
३) आलाप पद्धति; सूत्र - ९३
४) पंचास्तिकाय संग्रह; गाथा १३
५) पंचास्तिकाय समग्र व्याख्या टीका - गाथा -१३
६) प्रवचनसार; गाथा - २७
७) तत्त्व संग्रह : कारिका - ५५५
८) प्रमाण वार्तिकालंकार : पृ. - १८७
९) वही पृष्ठ - १८७
१०) प्रमाणवार्तिकालंकार - पृ. - १८७
११) वही, पृ. - १८८
१२) न्याय बिन्दु
१३) गुणगुण्यादि संज्ञादिभेदात् भेदस्कनाक: । आलापपद्धति; सूत्र - ११२
१४) स्वभावानां एकाचारत्वात - एकस्वभाव: । वही; सूत्र - १११
१५) प्रमाणवार्तिकालंकार; पृ. - १८८
१६) एकस्यार्थ स्वभावस्य प्रत्यक्षस्य स्वत: स्वयं । प्रमाण वार्तिक ३/४३ पूर्वार्ध

१७) तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाश्विनो गुणः ।
भ्रान्ते निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रतीयते । वही ३/४५
१८) प्रमाणवार्तिक मनोस्थतन्दि वृत्ति - ३/४३
१९) न्याय वार्तिक, पृ. - १७४ ५ वैशेषिक सूत्र १/१/१६
२०) वही पृ. - १७३
२१) न्याय कन्दली - पृ. - ३९
२२) वैशेषिक सूत्र - १/१/८
२३) प्रशस्तपाद भाष्य, पृ.- ६
२४) न्याय कन्दली, पृष्ठ - ३७
२५) न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका, पृष्ठ - ११०
२६) न्याय कन्दली ; पृ. - ३९
२७) वही; पृ. - ७७७
२८) वही ; पृ. - २८९
२९) न्याय कन्दली पृष्ठ - ३९
३०) प्रवचनसार ; गाथा - १०५
३१) प्रवचनसार तात्पर्य वृत्ति, गाथा - १०
३२) पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा ५०
३३) पंचास्तिकाय संग्रह, समय व्याख्या टीका, गाथा - ५०
३४) अयुतसिद्धानामिति परस्पर परिहारेग पृथगात्प्रयानाचितत्त्वं अयुतसिद्धता
इत्यथी; न्याय कन्दली पृ. ३७-३८
३५) प्रवचन सार तात्पर्यवृत्ति, गाथा - १०६
३६) न्याय कुमुद चन्द्र, पृ. - २९७-९८
३७) अत्यो खलु दव्वनओ दव्वणि गुणप्पगाणि मणिताणि
प्रवचनसार गाथा - १३ पूर्वार्ध
३८) तेसु गुणपज्जयाण अप्पा दव्वत्ति उवडेसो
प्रवचनसार गाथा - ८७ उत्तरार्ध
३९) द्रव्याश्रयाः निर्गुणा गुणा । तात्त्वार्थ सूत्र ५/४१
४०) न्याय विनिश्चय विवरण भाग २ - पृष्ठ ९७
(कृपया मूल से उद्धरण अगले पृ. पर देखे ।)

गुण द्रव्ययों कथचिदप्यभेदे द्रव्यवत् गुणत्यापि गुणवतत्त्व प्रसंग : तद धर्मानुपाते सति एव तदधर्मोपपत्रेरिति चेतन, अभेदार्पणया तथेष्टत्वातेन चैवम द्रव्याश्रया निर्गुणा : गुणा ''इति सूत्र विरोध तस्य भेदाभिसन्धि निबन्धनत्वात् । न्याय विनिश्चयं विवरण, भाग - २ पृ. ९३

४१) तथापरिणतिरेव आश्रयआश्रयी भाव : ।
न्याय कुमुदचन्द्र ; पृ. - २९९

४२) न्याय कुमुदचन्द्र ; पृ. - २९९

४३) प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका; गाथा - १०७

४४) प्रवचन सार तात्पर्य वृत्ति, गाथा - १०७

४५) स्वद्रव्यचतुष्टयापेजया गुणा:
परस्पर स्वभावा भवन्ति ।
आलाप पद्धति; सूत्र - ११९

४६) द्रव्याण्यपि भवन्ति ।
वही सूत्र - १२०

४७) प्रवचन सार गाथा - २३ पर तात्पर्य वृत्ति और तत्व प्रदिपिका

४८) प्रवचनसार, गाथा - २४, २५

४९) तम्हा णाण अप्पा अप्पा णाण---
प्रवचनसार गाथा - २७ उत्तरार्ध

५०) चैतन्यमनुभूति स्यात् सा क्रियारूपमेवच ।
आलाप पद्धति पृ. १५

५१) नियमसार; गाथा - १६१-१६५ तथा घवला पुस्तक १५; पृ. - ६

५२) तत्त्वार्थ कार्तिक' पृ. - ११८

५३) प्रवचनसार; गाथा - ५९, ६० और उनपर तत्त्वप्रदीपिका तथा तात्पर्य वृत्ति

५४) पंचास्तिकाय संग्रह, समय व्याख्या टीका, गाथा - ४३

५५) वही ; गाथा - ४४

शक्यसम्बन्धरूप लक्षणा का विवेचन

पदों के ज्ञान से अर्थ की उपस्थिति के लिए पद एवं अर्थ के मध्य वृत्ति नाम का सम्बन्ध माना गया है यह वृत्ति मुख्य एवं गौण भेद से दो प्रकार की है । मुख्य वृत्ति शक्ति हैं । गौण वृत्ति क्या है ? क्या उसका स्वरूप है — यह यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है । गौण वृत्ति को ही जघन्य वृत्ति भी कहते हैं । यह जघन्य वृत्ति ही शास्त्रों में लक्षणा या भक्ति [1] शब्द से व्यवहृत है । इसका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न पर शास्त्रकारों में पर्याप्त मतभेद हैं ।

वैयाकरण मत :

वैयाकरणों के अनुसार तो लक्षणा का व्यवहार अप्रसिद्ध शक्ति के लिए होता है, नागेश भट्ट लघुमञ्जूषा में कहते हैं — किसी भी पद से तीन प्रकार का बोध अधिकतर पाया जाता है — १. प्रसिद्ध व्यक्ति का बोध ।

२. प्रसिद्ध व्यक्ति से भिन्न व्यक्ति का बोध ।

३. व्यक्तिविशेष का बोध ।

प्रसिद्ध व्यक्ति का बोध जब होता है तब उस बोध को शक्ति से होने वाला बोध मानना चाहिए । जैसे - गङ्गा पदसे गङ्गा का बोध; गो पद से गो का बोध आदि । जब प्रसिद्ध से भिन्न व्यक्ति का अथवा व्यक्ति विशेष का बोध होता है तब उस बोध को लक्षणा से होने वाला बोध मानना चाहिए । जैसे - काकेभ्यो [2] दधि रक्ष्यताम् कौवों से दही की रक्षा करो । यहाँ पर काक पद से दधि के विनाशक का बोध - तथा कमलानि [3] कमलानि (ये कमल कमल हैं) यहाँ कमल पद से कमल विशेष का बोध आदि । वैयाकरणों के अनुसार शक्ति वृत्ति ही दो प्रकार की है — प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध । प्रसिद्ध शक्ति 'शक्ति' नाम से तथा अप्रसिद्ध शक्ति 'लक्षणा' नाम से व्यवहृत होती है । शक्यतावच्छेदक रूप से शक्य का बोध प्रसिद्ध शक्ति से माना जाता है और आरोपित शक्यतावच्छेदक रूप से शक्य का बोध अप्रसिद्ध शक्ति से माना जाता है । उदाहरण के रूप में हम इस प्रकार समझ सकते हैं — 'गङ्गा' पद से प्रसंगानुसार प्रवाह रूप अर्थ का अथवा तीर रूप अर्थ का बोध होता है । प्रवाह

रूप अर्थ का बोध शक्यतावच्छेदक गङ्गात्व (प्रवाहत्व) रूप से होता है । यह बोध प्रसिद्ध शक्ति के द्वारा मान्य है । तीर का बोध आरोपित शक्यतावच्छेदक गङ्गातीरत्व के द्वारा होता है । यह बोध आरोपित शक्ति से मान्य है और इसी प्रकार का बोध लक्षणा से होने वाला बोध कहा जाता है ।

वैयाकरण मत पर कतिपय प्रश्न एवं समाधान :

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है यदि लक्ष्य का भी बोध शक्यतावच्छेदक (आरोपित शक्यतावच्छेदक) रूप से हो रहा है तो प्राचीन लोगों का यह कथन विरुद्ध होगा – "शक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणा ।" (जब अर्थ का ज्ञान उस रूप से होता है जो शक्य नहीं है तो वहाँ लक्षणा मानी जाती है); क्योंकि शक्ति नाम की वृत्ति से जब किसी अर्थ का बोध होता है तो वहाँ अर्थ बोध उसी रूप से होता है जो रूप शक्यतावच्छेदक होता है और शक्यतावच्छेदक शक्य होता ही है । इसका तात्पर्य यह है कि लक्षणा से जब बोध होगा तब शक्यतावच्छेदक कभी भी बोध में प्रकार नहीं होगा; पर लघुमञ्जूषाकार के अनुसार लक्षणा से होने वाला बोध भी शक्यतावच्छेदक प्रकारेण ही होता है ।

इसके समाधान में यही कहना पडता है कि उपयुक्त उक्ति का मूल प्रमाद ही है ; क्योंकि लक्ष्य का बोध शक्यतावच्छेदक रूप में होना प्रामाणिक है । "मीनघोषौ गङ्गायाम् स्तः" (गङ्गा में मीन (मछली) और घोष [अहिर की झोपडी] हैं) यह प्रयोग प्रामाणिक है । कोई भी इस प्रयोग को अप्रामाणिक नहीं मानता । यहाँ यह शंका उठनी स्वाभाविक है – गङ्गा शब्द का शक्य अर्थ प्रवाह है । प्रवाह में मीन रह सकता है घोष नहीं । गङ्गा का लक्ष्य अर्थ है तीर तीर पर घोष रह सकता है मीन नहीं । ऐसी स्थिति में इस प्रयोग की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाय ।

इसका समाधान एक मात्र यही है –

प्रकृत प्रयोग में गङ्गा पद गङ्गात्वेन प्रवाह एवं तीर दोनों का बोधक है और यथायोग्य गङ्गात्वेन प्रवाह में मीन का तथा गङ्गात्वेन तीर में घोष का अन्वय कर इस प्रयोग की प्रामाणिकता सिद्ध करनी चाहिए । इस तरह शक्यतावच्छेदक गङ्गात्व रूप से लक्ष्य 'तीर' का बोध सर्वसम्मत है । फलतः उपर्युक्त उक्ति को प्रमादमूलक ही मानना होगा । अथवा उपर्युक्त उक्ति का तात्पर्य वर्णन इस रूप में करना होगा –

शक्यात् अन्येन रूपेण ज्ञाते - शक्यतावच्छेदक भिन्नरूपत्वेन गृहीते तीरत्वविशिष्ट-तीरादौ लक्षणा - शक्यतावच्छेदकारोपः ।

(शक्यसे अन्य रूप से ज्ञात [शक्यतावच्छेदक रूप से भिन्न जो रूप उस रूप

के द्वारा ज्ञात] लक्ष्य अर्थ तीरत्व विशिष्ट तीर आदि में लक्षणा [शक्यतावच्छेदक का आरोप] होती है ।)

इसका निष्कर्ष यही है कि शक्यतावच्छेदक का आरोप ही लक्षणा है और यह आरोप उस अर्थ में होता है जो शक्यतावच्छेदक से भिन्न रूप में पहले से ज्ञात है । 'गङ्गायाम् घोषः' में यही होता है । गङ्गा पद का शक्यतावच्छेदक गङ्गात्व है और इस गङ्गात्व का आरोप हम तीर में करते हैं इसीलिए – "गङ्गा पद की तीर में लक्षणा है–" यह कहा जाता है । यहाँ तीर ही लक्ष्य है, यह तीर शक्यतावच्छेदक गङ्गात्व से भिन्न तीरत्व रूप से पहले से ज्ञात है । फलतः यह अत्यन्त स्पष्ट है कि जहाँ लक्षणा होती है वहाँ लक्ष्य अर्थ शक्यतावच्छेदक से भिन्न रूप में पहले से ज्ञात रहता है और उसी में शक्यतावच्छेदक का आरोप होता है ।

वैयाकरण मत के समर्थन में कतिपय प्रमाण :

न्याय दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम भी इसी पक्ष का समर्थन करते हैं । उन्होंने अपने न्याय-दर्शन[४] (२/२/६१) ऐसा संङ्केत किया है । न्याय-दर्शन की प्रामाणिक व्याख्याओं के अनुसार सर्वत्र लक्षणा स्थान में शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्ष्य अर्थ में होता है और इस आरोप के निमित्त सहचार, सामीप्य आदि होते हैं । उदाहरण के रूप में – यष्टीः प्रवेशय, मञ्चाः क्रोशन्ति, गङ्गायाम् घोषः आदि प्रयोगों की चर्चा व्याख्या ग्रन्थों में की गयी है । 'यष्टीः प्रवेशय–' इस प्रयोग में 'यष्टि' पद से लक्षणा के द्वारा ब्राह्मण का बोध होता है । और यहाँ लक्ष्य ब्राह्मण में यष्टि पद के शक्यतावच्छेदक यष्टित्व का आरोप किया जाता है तथा इस आरोप में 'साहचर्य' निमित्त है; क्योंकि लक्ष्य ब्राह्मण यष्टि के साथ ही अधिकतर रहता है । 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्च पर रहने वाले पुरुष में मञ्च पद के शक्यतावच्छेदक मञ्चत्त्व का आरोप होता है । इस आरोप में निमित्त स्थान है; क्योंकि मञ्च पर पुरुष बैठा है । यहाँ पुरुष ही मञ्च पद से लक्ष्य है । 'गङ्गायाम् घोषः' में भी तीर में गङ्गात्व के आरोप का निमित्त सामीप्य है । गङ्गा के समीप तीर है ही । महाभाष्यकार पतंजली का तो यही अभिमत है । पाणिनिसूत्र[५] (४/१/४८) के पातंजल महाभाष्य में इसका स्पष्ट उल्लेख है ।

जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उस धर्म के आरोप के चार निमित्त हैं – स्थान, सादृश्य, सामीप्य तथा साहचर्य । इनके क्रमशः चार उदाहरण हैं –

१. मञ्चाः हसन्ति (मञ्च हंसते हैं)

२. सिंहो माणवक: (माणवक - ब्रह्मचारी सिंह हैं)
३. गङ्गायाम् घोष: (गङ्गा में घोष है)
४. यष्टी: प्रवेशय (यष्टियों का प्रवेश कराओ)

इसी प्रसंग में प्रदीपकार कैभट भी स्पष्ट कहते हैं । लक्ष्य[६] अर्थ में अन्य धर्म का आरोप होता है । बालक में मञ्च पद का प्रयोग मञ्चत्व के आरोप से ही होता है। मञ्च पद के साथ 'हसन्ति' (हंसते हैं) इस क्रियापद का प्रयोग होने के कारण ही मञ्च पद की लक्षणा बालक में करनी पडती है ।

लाक्षणिक बोध भ्रम नहीं है :

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है — जब यह निश्चित है कि 'गङ्गायाम् घोष:' वाक्य से आरोपित गङ्गात्व रूप से तीर का लाक्षणिक बोध होता है तब यह स्वीकार करना पडेगा कि 'गङ्गायाम् घोष:' से होने वाला बोध भ्रमात्मक बोध है, क्योंकि जिसमें जो धर्म नहीं है उस धर्म के द्वारा उसका बोध ही भ्रमात्मक बोध माना जाता है । तीर में गङ्गात्व धर्म है नहीं, ऐसी स्थिति में गङ्गात्व रूप से तीर का बोध भ्रमात्मक है ही। जिन्हें शास्त्रीय व्युत्पत्ति है उनको 'गङ्गायाम् घोष:' से होने वाले बोध में भ्रमत्वग्रह अनिवार्य है । फलत: लक्षणा के प्रयोजन शैत्य, पावनत्वातिशय (अत्यधिक शीतलता एवं अतिशय पवित्रता) आदि की प्रतीति घोष में सम्भव नहीं है । ' गङ्गायाम् घोष:' इस वाक्य से गङ्गा रूप में तीर का हमें झूठा ज्ञान है — यह निश्चय रहने पर क्या यह सम्भव है कि घोष में अधिक शीतलता एवं अधिक पवित्रता का मान हो ? इसके उत्तर में लक्षणा के मर्मज्ञ लोग यह कहते हैं — ''गङ्गायाम् घोष:'' से लक्षणिक बोध होने में यह क्रम है — प्रथम क्षण में गङ्गायाम् घोष: यह वाक्य सुनने के अनन्तर गङ्गा पद के शक्य अर्थ " प्रवाह में ही घोष है,' यह शाब्दबोध होता है । द्वितीय क्षण में 'प्रवाह में घोष नहीं रह सकता' इस अनुपपत्ति का ज्ञान होता है । तृतीय क्षण में — 'गङ्गा में घोष है' इस बोध में वक्ता का तात्पर्य नहीं है — यह ज्ञान होता है । चतुर्थ क्षण में गङ्गात्व रूप से लक्ष्य तीर का शाब्दबोध होता है । पञ्चम क्षण में व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा तीर में मुख्य गङ्गा का अभेद प्रतीत होता है । अनन्तर लक्षणा के प्रयोजन घोष में अतिशय शैत्य एवं अतिशय पावनत्व की प्रतीति स्वत: सिद्ध है । यद्यपि 'तीर गङ्गा नहीं है' यह ज्ञान जिसे है उसे 'तीर गङ्गा से अभिन्न है' इस व्यञ्जनाजन्य बोध में अप्रामाण्य ज्ञान होना चाहिए, पर नहीं होता है; क्योंकि 'गङ्गायाम् घोष:' यह वाक्य प्रांमाणिक माना जाता है और व्युत्पन्न लोगों का इस वाक्य से घोष

में अतिशय शैत्य एवं अतिशय पावनत्व की प्रतीति होती है । ऐसी स्थिति में ऐसी प्रतीति रूप फल के अनुरोध से यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि व्यञ्जनावृत्ति से होने वाले बोध में अप्रामाण्य ज्ञान बाधकग्रह रहने पर भी नहीं होता है । वास्तव मे, शाब्दबोध में यदि अनुपपत्ति के कारण आरोपित धर्म के द्वारा कोई अर्थ भाषित होता है तो वहाँ बाधकग्रह अप्रामाण्य ज्ञान का जनक नहीं होता है — यह सिद्धान्त शाब्दबोध के मर्मज्ञों ने स्वीकार कर लिया है । इस सिद्धान्त के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा तीर में गङ्गा के अभेद की प्रतीति मानने की आवश्यकता नहीं है । लक्ष्यार्थ बोध में अप्रामाण्य ज्ञान की सम्भावना उपयुक्त सिद्धान्त के अनुसार स्वत: निरस्त हो जाती है । फलत: लक्षणा के प्रयोजन की सिद्धी में कोई बाधा नहीं है ।

लक्षणा के भेद :

इस लक्षणा के दो भेद हैं — जहत्स्वार्था एवं अजहत्स्वार्था । जहाँ पर शक्यार्थ का नहीं केवल लक्ष्य अर्थ का बोध होता है, वहाँ जहत्स्वार्था लक्षणा मानी जाती है। "गङ्गायाम् घोष:" इस वाक्य के गङ्गा पद से यदि शक्य अर्थ गङ्गाका बोध न होकर शुद्ध तीर का बोध होगा तो "गङ्ग" पद की जहत्स्वार्था लक्षणा मानी जाएगी । इसीलिए 'गङ्गायाम् घोष:' में जहत्स्वार्था लक्षणा होने पर 'तीर पर घोष है' यह बोध होता है, "गङ्गा तीर पर घोष है " यह बोध नहीं होता । जहत्स्वार्था का अर्थ है — जहाती स्वार्थं (शक्यार्थं) पदानि यस्याम् सा जहत्स्वार्था लक्षणा । (जिस लक्षणा में लक्षक पद अपने शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर देता है वही लक्षणा जहत्स्वार्था है) अजहत्स्वार्था का दृष्टान्त है — "छत्रिणो यान्ति" (छत्री जाते हैं)। छत्री का अर्थ है — छाता धारण करने वाले । इस वाक्य में 'छत्री' पद को लाक्षणिक माना जाता है । कुछ लोगों को हम मार्ग में जाते हुए देखते हैं । उनमें से दो - चार छाता वाले हैं, और दो चार बिना छाते के हैं । तब भी हम उन सबको देखकर कहते हैं — "छत्रिणो यान्ति" छाता वाले जाते हैं । ऐसा कहने पर "छत्री" पद से मार्ग में जाने वाले उस समूह का बोध होता है जिसमें छाता वालों के साथ बिना छाता वाले भी हैं । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उपयुक्त वाक्य में "छत्री" पद से केवल छाता वालों का ही बोध नहीं हो रहा है अपितु जो लोग छाता से रहित हैं उनका भी बोध हो रहा है । ऐसी स्थिति में यह स्वीकार करना पडेगा कि उपर्युक्त वाक्य का छत्री पद अपने शक्य अर्थ छाता वालों से भिन्न बिना छाता वालों का भी बोधक है । यह तभी सम्भव होगा जबकि उपर्युक्त वाक्य के छत्री पद को लाक्षणिक माना जाय और यहाँ जो लक्षणा है उसे अजहत्स्वार्था कहा जाये । अजहत्स्वार्था का अर्थ है — न

जहति स्वार्थं (शक्यार्थं) पदानि यस्याम् सा अजहत्स्वार्थ । (जिस लक्षणा में शक्य अर्थ का परित्याग न हो वह अजंहत्स्वार्था है ।) 'छत्रिणो यान्ति में छत्री पद अपने शक्य अर्थ 'छाता वालों' का बोधक होते हुए अन्य अर्थ छाता से रहित लोगों का भी बोधक है; अत: यहाँ की लक्षणा को अजहत्स्वार्था कहना उपयुक्त ही है ।

प्रकारान्तर से भी यही लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है — गौणी एवं शुद्धा। सादृश्य रूप सम्बन्ध को लक्षणा मानकर जहाँ पर लक्ष्य अर्थ का बोध होता है वहाँ उस लक्षणा को गौणी कहते हैं । उदाहरण के लिए "चन्द्रे तिलकम् " (चन्द्रमा में तिलक है) प्रयोग को ले सकते हैं । यहाँ चन्द्र पद का शक्य अर्थ चन्द्रमा है । उसमें तिलक की सम्भावना नहीं बन सकती । इसीलिए शक्य चन्द्र के सदृश किसी नायिका के मुख को प्रकृत चन्द्र पद का लक्ष्य अर्थ मानकर उसी में तिलक को बताने के लिए यह प्रयोग किया गया है यह मानना पडता है । फलत: इस प्रयोग में 'चन्द्र' पद चन्द्र - सदृश मुख का बोधक है । इतने से यह स्पष्ट है कि यहाँ 'चन्द्र' पद का लक्ष्य अर्थ मुख है और चन्द्रसादृश्य रूप सम्बन्ध को लक्षणा मानकर उसी लक्षणा के द्वारा यहाँ मुख का बोध लक्ष्य रूप में हो रहा है ।

शुद्धा का उदाहरण 'गङ्गायाम् घोष:' यह वाक्य है । इस वाक्य में गङ्गा पद से शक्य अर्थ प्रवाह का बोध न होकर तीर रूप लक्ष्य अर्थ का बोध होता है । तीर रूप लक्ष्य अर्थ के बोध के लिए यहाँ शक्यार्थ प्रवाह के जिस सम्बन्ध को लक्षणा माना जाता है वह सम्बन्ध सादृश्य रूप न होकर संयोग रूप है; क्योंकि गङ्गा पद के शक्य अर्थ प्रवाह का तीर में सादृश्य नहीं है, अपितु संयोग है । इससे यह स्पष्ट है कि सादृश्य रूप सम्बन्ध से अतिरिक्त संयोग रूप सम्बन्ध को ही यहाँ लक्षणा माना जा रहा है । इसीलिए इस लक्षणा को शुद्धा कहते हैं

लक्षणा स्वतंत्र वृत्ति नहीं है 'इस वैयाकरण मत परशङ्का - समाधान

अब लक्षणा वृत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है । वैयाकरण तो लक्षणा नाम की स्वतंत्र वृत्ति नहीं मानते हैं । "शक्यादन्येन रूपेण ज्ञाते भवति लक्षणा" इस उक्ति की चर्चा अभी की गयी है । तदनुसार शक्यतावच्छेदक का आरोप ही लक्षणा है — यही वैयाकरणों का सिद्धान्त यदि मान लिया जाय तो ' सर्वे सर्वार्थवाचका:' इस वैयाकरण सिद्धान्त का विरोध स्पष्ट है; क्योंकि इसके अनुसार सभी शब्दों में सभी अर्थों की वाचकता ही है लक्षकता नहीं है । फलत: सभी अर्थों के बोध के अनुकूल सभी शब्दों में शक्ति ही सिद्ध होती है, लक्षणा का निराकरण हो जाता है; अत: लक्षणा का व्यवहार शक्ति के लिए ही होता है — यही वैयाकरणों

का अभिमत मानना चाहिए। इसी तथ्य का सङ्केत वैयाकरणों के इस कथन मे मिलता है — प्रसिद्धा शक्ति 'शक्ति' नाम की वृत्ति है तथा अप्रसिद्धा शक्ति 'लक्षणा' नाम की वृत्ति है। मञ्जूषाकार भी लक्षणास्वरूपनिरूपण के प्रसंग में यही कहते हैं —

"शक्त्यैव बोधे लक्षणाव्यवहार:" (शक्ति से जहाँ बोध होता है वही लक्षणा वृत्ति का भी व्यवहार होता है।)

हरि ने भी निम्नलिखित कारिकाओं से इसी तथ्य को स्पष्ट किया है —

एकमाहुरनेकार्थं शब्दमन्ये परीष्टका: ।
निमित्तभेदादेकस्य सार्वार्थ्यं तस्य भिद्यते ॥
सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मण: ।
प्रसिद्धिभेदाद्गौणत्वं मुख्यत्वं चोपचर्यते ॥

प्राचीन वैयाकरण भी लक्षणा नाम की स्वतंत्र वृत्ति का निराकरण करते हैं। वे कहते हैं - व्यवहार से ही शक्ति का ज्ञान होता है। जैसे - शक्य अर्थ के लिए पद का व्यवहार होता है वैसे ही लक्ष्य अर्थ के लिए भी पद का व्यवहार होता है। इसलिए लक्ष्य अर्थ में भी पद की शक्ति ही मानना उपयुक्त है। लक्षणा नाम की एक स्वतंत्र वृत्ति मानने में गौरव स्पष्ट है। यहाँ यह आक्षेप किया जाय कि "शक्य अर्थ में पद का व्यवहार मुख्य है, लक्ष्य अर्थ में तो पद का व्यवहार गौण है। इसलिए दोनों व्यवहारों में समानता न होने से दोनों व्यवहार समान रूप से शक्ति के ही ग्राहक हैं ऐसा नहीं मानना चाहिए" - तो यह उपेक्षणीय है; क्योंकि व्यवहार में परस्पर भेद देखकर यदि दो स्वतंत्र वृत्तियाँ मानी जांय तो गौरवदोष अपरिहार्य है, अत: लाघव के अनुरोध से दोनों व्यवहारों का मूल शक्ति को ही मानना अधिक तर्कसंगत है। यह बात भिन्न है कि गौण-व्यवहार स्थल में गृहीत शक्ति को अप्रसिद्धा शक्ति कह लिया जाय या उसी शक्ति का लक्षणा नाम रख लिया जाय।

यहाँ लक्षणा को स्वतंत्र वृत्ति माननेवाले यह कहते हैं - लक्षणा कोई नई वस्तु नहीं है, जिसे स्वीकार करने में ग़ौरव हो। शक्य सम्बन्ध ही लक्षणा है और यह तीर आदि की स्मृति के जनक रूप में क्लृप्त भी है। गङ्गा में घोष है - कहने पर 'गङ्गा में घोष नहीं रह सकता' - इस वास्तविकता का परिचय जिसे है उसे प्राय: गङ्गा के सम्बन्धी तीर रूप अर्थ की स्मृति होती है और 'तीर में घोष है' - यह बोध भी होता है। अब यहाँ विशेष रूप से ध्यातव्य यह है कि लक्षणा को स्वतंत्र वृत्ति मानने के पक्ष में शक्य सम्बन्ध के द्वारा लक्ष्य अर्थ की उपस्थिति में शाब्दबोध जनकत्व रूप धर्म की कल्पना करनी पडती है और लक्षणा को शक्ति विशेष मानने के पक्ष में लाक्षणिक पद में शक्यार्थ की जनक एवं लक्ष्यार्थ की जनक दो शक्ति मानने के

कारण लक्ष्यार्थजनकत्व रूप धर्म से विशिष्ट शक्ति रूप एक अतिरिक्त स्वतंत्र धर्मी की कल्पना करनी पडती है । इस तरह धर्मी की कल्पना की अपेक्षा धर्म की कल्पना उचित होने से लक्षणा को स्वतंत्र वृत्ति के रूप में मानना ही उचित है ।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है -

'गङ्गायाम् घोष:' इस स्थल में तीर विषयक शाब्दबोध में तीर का स्मरण कारण है और यह स्मरण गङ्गा पद से होता है, यह वस्तुस्थिती शक्तिवादी एवं लक्षणावादी इन दोनों को सम्मत है । अब यदि यह विचार किया जाय कि गङ्गा पद से तीर के स्मरण होने में क्या हेतु है? तो शक्तिवादी के अनुसार गङ्गा पद में रहनेवाली शक्ति के ज्ञान को ही तीर की स्मृति में हेतु मानना होगा तथा लक्षणावादी को शक्य सम्बन्ध के ज्ञान को हेतु मानना होगा । एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी की स्मृति में हेतु होता है - यह सभी का अनुभव है । इसके अनुसार शक्य सम्बन्ध के ज्ञान में स्मृतिहेतुता तो क्लृप्त है, शक्ति के ज्ञान में शक्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के स्मरण की हेतुता अक्लृप्त है । फलत: शक्य सम्बन्ध में स्मृति हेतुता की कल्पना उचित होने से शक्य सम्बन्ध रूप लक्षणा को स्वीकार करना ही तर्कसंगत है । साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि लक्ष्य अर्थ अनेक हो सकते हैं, उन अनेक अर्थों की अनेक शक्ति गङ्गा आदि पदों में मानने की अपेक्षा शक्य सम्बन्ध रूप एक लक्षणा को स्वीकार करना अधिक उचित है; क्योंकि इस शक्य सम्बन्ध रूप एक लक्षणा के द्वारा ही विभिन्न लक्ष्य अर्थों का स्मरण एवं उनका शाब्दबोध हो जाएगा; पर यह सब वैयाकरणों का दृष्टिकोण समझने पर बहुत अधिक महत्व नहीं रखता ।

वैयाकरणों का दृष्टिकोण यह है - जैसे इन्द्रियों में अपने - अपने विषय के बोध की शक्ति अनादि है, स्वाभाविक है, वैसे ही शब्दों में अर्थ के बोध की शक्ति भी अनादि है, स्वाभाविक है; अत: पदों में सभी अर्थों के बोध की स्वाभाविक शक्ति होने से बोधकत्व ही शक्ति है । गङ्गा पद तीर का बोधक है इस व्यवहार की प्रामाणिकता लक्षणावादी को भी सम्मत है । फलत: तीर बोधकत्वरूप शक्ति गङ्गा पद में क्लृप्त ही है । इसलिए गङ्गा पद में तीरविषयक स्मृति की जनकता मानना उचित ही है । अतएव जितने भी लक्ष्य अर्थ हैं उनका बोधकत्व गङ्गा आदि पदों में क्लृप्त होने से अनेक अर्थों में शक्ति की कल्पना रूप गौरव का कोई प्रसंग नहीं है।

"नैयायिकों के दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वरेच्छा ही शक्ति है और इस ईश्वरेच्छा का आकार है - इस पद से इस अर्थ का बोध करना चाहिए । ऐसी स्थिति में यदि गङ्गा पद में प्रवाहन एवं तीर इन दोनों अर्थों के बोध की शक्ति माननी होगी तो

ईश्वरेच्छा रूप अनेक शक्ति की कल्पना गङ्गा पद में करने से गौरव अनिवार्य है- '' यह कथन उपयुक्त नहीं है । क्योंकि गङ्गा पद से तीर का अनुभव होता ही है और यह तभी सम्भव है जब की- ''गङ्गा पद मे तीर का अनुभव हो '' यह ईश्वरेच्छा मानी जाय, क्योंकि ईश्वर की इच्छा के बिना कोई भी कार्य नहीं होता है । फलत: तीर में गङ्गापदजन्य बोधविषयता का अवगाहन करने वाली इच्छा कल्पनीय नहीं है, क्लृप्त है । अत: गङ्गा पद की तीर में शक्ति स्वीकार करने से गौरव की सम्भावना कथमपि नहीं है । यहाँ एक प्रश्न उठता है - गाय आदि अपभ्रंशशब्दों को वाचक नहीं माना जाता है । तब भी उनसे गौ आदि अर्थों का बोध तो होता ही है और यह बोध गाय आदि पदों में गो रूप अर्थ के बोध की शक्ति माने बिना असम्भव है । ऐसी स्थिति में गाय आदि अपभ्रंश शब्दों में भी गो रूप अर्थ के बोध के लिए शक्ति माननी पडेगी और यह कहना पडेगा कि गौ आदि अर्थों की शक्ति का ज्ञान गाय आदि अपभ्रंश शब्दों में भी होता है । इस शक्ति ज्ञान को नैयायिक लोग यथार्थ न मानकर भ्रम मानते हैं; क्योंकि अपभ्रंश शब्दों में अर्थ के बोध की शक्ति रूप ईश्वरेच्छा नहीं हो सकती । (ईश्वर की इच्छा के विषय अपभ्रंश अशुद्ध शब्द नहीं हो सकते ।) पर यह कैसे सम्भव है ? ईश्वरेच्छा जब वस्तुमात्र विषयक है और वह एक ही है तो अपभ्रंश शब्दों से अर्थ का बोध हो- यह भी उस इच्छा का विषय है ही । फलत: गाय आदि अपभ्रंश शब्दों में गौ आदि अर्थ के बोध की शक्ति रूप ईश्वरेच्छा का ज्ञान भ्रम कैसे हो सकता? यदि इस कठिनाई को दूर करने के लिए ईश्वरेच्छा में सम्बन्धत्व रूप धर्म की कल्पना नैयायिक करते हैं और यह कहते हैं कि सम्बन्धत्व से गर्भित ईश्वरेच्छा ही शक्ति है, अपभ्रंश शब्दों के साथ ईश्वरेच्छा का सम्बन्ध नहीं बन सकता; इसीलिए अपभ्रंश शब्दों में ईश्वरेच्छा रूप शक्ति का ज्ञान भ्रम रूप ही होगा तो लक्ष्य अर्थ में भी पदों की शक्ति मानने पर ईश्वरेच्छा में तीर आदि अनन्त लक्ष्य अर्थों के सम्बन्धत्व की कल्पना करनी होगी और सम्बन्धत्व गर्भित इस ईश्वरेच्छा रूप शक्ति के द्वारा होने वाली तीर आदि अर्थों की उपस्थिति में शाब्दबोध जनकता की भी कल्पना करनी होगी । इस तरह गौरव अपरिहार्य है ।

इसका समाधान वैयाकरण इस प्रकार करते हैं- अपभ्रंश पद भी अपने-अपने अर्थों के वाचक ही हैं । उनमें अपने-अपने अर्थों की शक्ति का ज्ञान भ्रम नहीं है; यथार्थ है । अत: सम्बन्धत्व से गर्भित ईश्वरेच्छा को शक्ति मानने का कोई प्रसंग नहीं है और लक्षणा स्थल में भी लक्ष्य अर्थ की शक्ति पद में स्वभावत: सिद्ध होने से गौरव का अवकाश नहीं है ।

इसके अतिरिक्त लक्षणा को एक स्वतंत्र वृत्ति मानने पर शाब्दबोध में शक्तिजन्य

अर्थोपस्थिति तथा लक्षणाजन्य अर्थोपस्थिति को अलग-अलग कारण मानना पडेगा। यदि लक्षणा को स्वतंत्र वृत्ति न मानकर अप्रसिद्धा शक्ति के रूप में शक्तिवृत्ति के अन्तर्गत मान लिया जाय तो शाब्दबोध में केवल शक्तिजन्य अर्थोपस्थिति को कारण मानने से लाघव स्पष्ट है । अत: लक्षणा नाम की स्वतंत्र वृत्ति नहीं है और इसलिए 'सर्वे सर्वार्थवाचका:'यह वैयाकरणों का सिद्धान्त भी संगत हो जाता है ।

लक्षणा को स्वतंत्र वृत्ति मानने के पक्ष में ये तथ्य ध्यान देने योग्य हैं-

१. गङ्गा पद प्रवाह का वाचक है । गङ्गा पद तीर का लक्षक है यह व्यवहार प्रामाणिक है, सबको मान्य है । इसके आधार पर गङ्गा पद में प्रवाह रूप अर्थ की वाचकता तथा तीररूप अर्थ की लक्षकता अपरिहार्य है । फलत: वाचकता के अनुसार शक्ति एवं लक्षकता के अनुसार लक्षणा अवश्य स्वीकार करनी चाहिए । इस लक्षणा नाम की स्वतंत्र वृत्ति मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है ।

२. एक अन्य तथ्य भी दृष्टिगत रखना चाहिए । एक ही संस्कृत शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हैं । घट संस्कृत शब्द है । उसके अपभ्रंश घडा, गगरी, कलशी आदि अनेक शब्द हैं । घट रूप अर्थ की शक्ति इन सभी अपभ्रंशों में स्वीकार करने पर गौरव दुष्परिहर है । उचित यही है कि अनेक अपभ्रंश शब्दों के मूल एक संस्कृत शब्द में ही अर्थबोध की शक्ति स्वीकार की जाय । जैमिनि भी यही स्वीकार करते हैं- **'अन्याय्यश्चानेकशब्दत्वम् ''।(एक ही अर्थ की शक्ति अनेक पदों में मानना अनुचित है ।)** जहाँ एक ही संस्कृत शब्द के अनेक पर्याय संस्कृत शब्द ही होते हैं जैसे- घट, कलश आदि वहाँ तो एक ही घट पद की शक्ति इन अनेक संस्कृत शब्द घट, कलश आदि में स्वीकार करनी ही पडती है; पर एक ही अर्थ के बोधक संस्कृत शब्द एवं अपभ्रंश शब्दों के मध्य संस्कृत शब्द में ही अर्थबोध की शक्ति मानने में यह युक्ति है कि संस्कृत शब्द तो सभी देशों में एक ही रूप में उपलब्ध है; अत: संस्कृत शब्द में ही शक्ति मानी जाय । इसी कारण कोशों में पर्याय के रूप में अपभ्रंश शब्द नहीं पाये जाते, संस्कृत शब्द ही पाये जाते हैं । इतने से यह अवश्य स्वीकार्य है कि यथासम्भव एक अर्थ की शक्ति अनेक शब्दों में न मानी जाय । इसके अनुसार लक्षक पदों में लक्ष्य अर्थ की शक्ति न स्वीकार कर लक्षणा स्वीकार करना ही समीचीन है ।

स्वतंत्र वृत्ति रूप में स्वीकृत लक्षणा के स्वरूप के विषय में कतिपय विचार

इस लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में अनेक मत हैं । कुछ प्राचीन नैयायिकों

का लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में यह मत है- लक्ष्यार्थबोध में लक्षणाज्ञान की कारणता प्राय: सभी लोग स्वीकार करते हैं । 'गङ्गायाम् घोष:' इस वाक्य से तीर-विषयक शाब्दबोध सबको होता है । इस बोध में कारण क्या है? इस पर विचार करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है- जो व्यक्ति 'गङ्गायाम् घोष:' इस वाक्य का प्रयोग करता है वह यह चाहता है कि गङ्गा पद के शक्य अर्थ प्रवाह के सम्बन्धी तीर का बोध गङ्गा पद से होना चाहिए । श्रोता को यदि इस इच्छा का ज्ञान है तो गङ्गा पद से तीर विषयक शाब्दबोध उसे होता है । इतने से हमें यह मान लेना चाहिए कि लक्ष्यार्थ विषयक शाब्दबोध होने में शक्यार्थ सम्बन्धी लक्ष्यार्थ में वक्ता के तात्पर्य का ज्ञान करण रूप में अवश्य स्वीकरणीय है । फलत: लक्षणा का स्वरूप उस तात्पर्य को ही मानना चाहिए जो लक्ष्यार्थ विषयक बोध के कारण ज्ञान का विषय है और इस वस्तुस्थिति के अनुसार लक्षणा का लक्षण (स्वरूप) यह होना चाहिए- शक्यार्थ सम्बन्धी की प्रतीति की इच्छा से उच्चारितत्व रूप 'शक्यार्थसम्बन्धीविषयकतात्पर्य' ही लक्षणा है ।

कुछ लोग तो बडी ही आसानी से लक्षणा के स्वरूप का निरूपण करते हैं । वे कहते हैं- वक्ता का तात्पर्य ही लक्षणा है । किसी भी वाक्य से होने वाला शाब्दबोध या तो शक्य अर्थ को विषय करता है या शक्य मे भिन्न अर्थ को । कौन सा शाब्दबोध शक्यार्थविषयक है, कौन सा शाब्दबोध शक्य स भिन्न अर्थविषयक है- इसका निर्णय वक्ता के तात्पर्य से ही होता है । यदि वक्ता का तात्पर्य शक्यार्थ विषयक है तो शाब्दबोध शक्यार्थविषयक होगा। यदि वक्ता का तात्पर्य शक्य से भिन्न अर्थ विषयक है तो शाब्दबोध शक्य से भिन्न अर्थ विषयक होगा । जहाँ शक्यार्थविषयक तात्पर्य है वहाँ लक्षणा कथमपि नहीं हो सकती। जहाँ शक्य से भिन्न अर्थविषयक तात्पर्य है वहीं लक्षणा हो सकती है । अत: "वक्ता के अशक्य अर्थविषयक तात्पर्य" को ही लक्षणा मानना चाहिए ।

कई विद्वान् तो लक्षणा के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से करते हैं- जहाँ-जहाँ लक्ष्य अर्थ की प्रती अनुभव सिद्ध है वहाँ-वहाँ वाक्यप्रयोक्ता के अभिप्राय विशेष का ज्ञान आवश्यक होता है । "गङ्गायाम् घोष:" इस प्रसिद्ध वाक्य के प्रयोग को ही हम उदाहरण रूप में ले सकते हैं । जब तक श्रोता को यह ज्ञात नहीं होता है कि वक्ता घोष में अतिशय शैत्य एवं अतिशय पवित्रता को बताने ने के लिए गङ्गा पद का प्रयोग कर तीरवृत्ति घोष को गङ्गावृत्ति बताना चाहता है, तब तक गङ्गा पद से तीर रूप अर्थ का बोध नहीं हो सकता । इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि "वाक्यप्रयोक्ता का अभिप्राय विशेष" ही लक्षणा है । यह अभिप्राय विशेष वाक्य के

भेद से भिन्न-भिन्न होगा । "गङ्गायाम् घोषः" इस वाक्य के प्रयोग स्थल में इस अपेक्षित अभिप्राय विशेष का स्वरूप इस प्रकार होगा- "गङ्गा पद अपने अर्थ के रूप में तीर का बोधक हो" ।

कुछ प्राचीन नैयायिक लक्षणा का स्वरूप इस प्रकार का बताते हैं- "**शक्य अर्थ से अशक्य अर्थ की उपस्थिति**" ही लक्षणा है । इसे यों समझना चाहिए - "**गङ्गायाम् घोषः**" यह वाक्य सुनने पर गङ्गा पद से शक्य अर्थ प्रवाह की स्मृति होती है । अनन्तर 'उसमें घोष की आधारता नहीं बन सकती" इस प्रकार का प्रतिसन्धान होता है । इस प्रतिसन्धान के बाद पुनः गङ्गा पद की स्मृति से प्रवाह रूप अर्थ की स्मृति होती है । इस स्मृति के अनन्तर स्मरण विषय प्रवाह के सम्बन्धी तीर की स्मृति होती है । यह तीर की स्मृति ही शक्य अर्थ प्रवाह के द्वारा अशक्य अर्थ तीर की उपस्थिति है । यह उपस्थिति ही लक्षणा है । इस लक्षणा रूप उपस्थिति के अनन्तर उपस्थिति (स्मृति) के विषय तीर में घोष के अन्वय का बोध 'गङ्गायाम् घोषः' इस वाक्य से होता है ।

यहाँ शक्यसम्बन्ध को लक्षणा मानने वाले नैयायिक यह प्रश्न उठाते हैं- शक्य से अशक्य की उपस्थिति को लक्षणा मानने पर शक्य अर्थ प्रवाह की उपस्थिति दो बार मानने से गौरव स्पष्ट है । इसकी अपेक्षा शक्य सम्बन्ध को लक्षणा मानकर गङ्गा पद को ही तीर का स्मारक क्यों न माना जाय? इस प्रश्न का समाधान प्राचीन नैयायिक इस प्रकार करते हैं- एक सम्बन्धी के ज्ञानसे दूसरे सम्बन्धी का स्मरण होना सबको मान्य है । अतः गङ्गा पद से शक्ति सम्बन्ध के कारण प्रवाह रूप अर्थ का स्मरण तथा पुनः प्रवाह रूप अर्थ से सामीप्य सम्बन्ध के कारण उसके सम्बन्धी तीर का स्मरण निर्विवाद है । इस तरह स्मरण के कारण रूप में स्वीकृत गङ्गा पद एवं प्रवाह पद के द्वारा ही तीर की उपस्थिति होकर तीर विषयक शाब्दबोध हो सकता है तो शक्य सम्बन्ध के द्वारा गङ्गा पद से ही तीर की स्मृति की कल्पना करना अस्वाभाविक है । इसीलिए - "लाक्षणिक पद लक्ष्य अर्थ का समारक होता है अनुभावक नहीं"- यह सिद्धान्त ही संगत होता है; क्योंकि कोई भी पद तभी अनुभावक (शाब्दबोध में कारण) होता है जब वृत्ति के द्वारा स्वजन्य अर्थ की उपस्थिति करा देता है । गङ्गायाम् घोषः' इत्यादि स्थल में लाक्षणिक गङ्गा पद तो शाब्दबोध विषय संसर्ग के प्रतियोगी वीर का स्मारक है न कि अनुभावक ।

कुछ मीमांसकविशेष लक्षणा को सम्बन्धरूप मानते हैं । यह सम्बन्ध अशक्य होता है और शक्य में रहता है । इसीलिए उनके अनुसार शक्य में रहने वाला अशक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है और यह लक्षणा पदार्थ में रहती है, पद में नहीं । गङ्गा पद

से शक्ति वृत्ति से प्रवाह रूप अर्थ का स्मरण होता है और यह प्रवाह ही अपने सम्बन्धी तीर का स्मारक होता है । इसीलिए अत्यन्त प्राचीन नैयायिक भी बहुधा यह कहते हुए पाये जाते हैं- शक्य से अशक्य की उपस्थिति ही लक्षणा है इसका आशय यह है- शक्य में रहने वाला सम्बन्ध ही लक्षणा है जो अशक्य अर्थ की उपस्थिति में कारण है । इसके अनुसार- गङ्गा पद के अर्थ प्रवाह में रहने वाला लक्ष्यार्थ तीर का संयोग ही लक्षणा है- ऐसा प्रतीत होता है ।

श्री अप्पय्य दीक्षित लक्षणानिरूपण के प्रसंग में इस प्रकार कहते हैं- शब्द अर्थ का प्रतिपादक होता है । अत: शब्द में प्रतिपादकत्व नाम का धर्म है । इसी प्रतिपादकत्व को शब्द की शक्ति कहा जाता है । जब मुख्यार्थ सम्बन्ध के द्वारा शब्द किसी अर्थ का प्रतिपादन करता है तब शब्द को लाक्षणिक कहा जाता है । "गङ्गायाम् घोष:" इत्यादि लाक्षणिक प्रयोग स्थल में अपने मुख्य अर्थ प्रवाह के संयोग सम्बन्ध के द्वारा तीर का प्रतिपादन करने से गङ्गा पद लाक्षणिक पद कहा जाता है और तीर रूप अर्थ को लक्ष्य अर्थ कहा जाता है इसके अनुसार यह स्पष्ट है कि शब्द में रहने वाला वह "अर्थ प्रतिपादकत्व" ही लक्षणा है जिसमें मुख्यार्थ सम्बन्ध कारण है ।

नैयायिकों के अनुसार लक्षणता पद में ही मानी जाती है । मीमांसक वाक्य में भी लक्षणा मानते हैं । अतएव कतिपय मीमांसक बोध्य सम्बन्ध को लक्षणा कहते हैं। शक्ति नाम की वृत्ति पद में ही रहती है अत: शक्य सम्बन्ध को लक्षणा नहीं मान सकते; क्योंकि 'शक्य सम्बन्ध' पद से बोध्य अर्थ के साथ ही पद का हो सकता है। लक्षणा यदि वाक्य में भी है तो वाक्य का लक्ष्य अर्थ के साथ शक्य सम्बन्ध नहीं हो सकता; क्योंकि वाक्य में शक्ति नहीं होती है । इसलिए शक्यसम्बन्ध को लक्षणा न मानकर बोध्य के सम्बन्ध को ही लक्षणा मानते हैं ।

साहित्यशास्त्र के अनुसार शक्यतावच्छेदक का आरोप जिस विषय में होता है उस विषय में शक्य का जो सम्बन्ध है वही लक्षणा है । "गङ्गायाम् घोष:" इस उदाहरण वाक्य में इसे स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है । यहाँ गङ्गा पद का शक्य है प्रवाह, शक्यतावच्छेदक प्रवाहत्व है । इस प्रवाहत्व का आरोप तीर में करके तीर में रहने की योग्यता जिस घोष की है उस घोष को हम प्रवाह में रहने वाला समझते हैं । इस तरह शक्यतावच्छेदक प्रवाहत्व को तीर में आरोपित कर लक्षणा के द्वारा तीर रूप अर्थ का बोध हम गङ्गा पद से करते हैं । गङ्गा पद से तीर के बोध में शक्य 'प्रवाह' का तीर के साथ सामीप्य अथवा संयोग सम्बन्ध ही कारण है । यहाँ लक्ष्यार्थ बोध की प्रक्रिया निम्नलिखित रूप में द्रष्टव्य है- गङ्गायाम् घोष: यह वाक्य सुनने के

अनन्तर गङ्गा पद से तीरत्व विशिष्ट की स्मृति होती है; क्योंकि तीर रूप अर्थ में ही गङ्गा पद की लक्षणा मानी जाती है और यह लक्षणा गङ्गा पद के शक्य अर्थ प्रवाह के साथ तीर का जो संयोग या सामीप्य सम्बन्ध है उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इसी सम्बन्ध के बल पर प्रकृत में तीर की स्मृति होती है, क्योंकि जिस धर्म से विशिष्ट रूप में ज्ञात विषय के साथ सम्बन्ध ज्ञान हुआ है उसी धर्म से विशिष्ट रूप में अपर सम्बन्धी का एक सम्बन्धी के ज्ञान के अनन्तर ज्ञान होता है ।

यहाँ एक विलक्षणता ध्यान देने योग्य है- गङ्गा पद से स्मरण तो तीरत्व विशिष्ट तीर का होता है, परन्तु शाब्दबोध में गङ्गात्व रूप से तीर विषय होता है । इसलिए 'गङ्गायाम् घोषः' इस वाक्य से गङ्गा में रहनेवाले घोष का ही भान होता है। 'तीरे घोष' (तीर में घोष है) ऐसा न कहकर 'गङ्गायाम् घोषः' इस प्रकार गङ्गात्वेन रूपेण तीर में घोष के प्रतिपादन का कारण घोष में प्रवाहगत शैत्य एवं पावनत्व के अतिशय का ज्ञान कराना ही है । गङ्गा में रहनेवाले अतिशय शैत्य एवं अतिशय पावनत्व की तीर में प्रतीति तभी सम्भव है जबकि गङ्गात्वेन तीर का शाब्दबोध हो।

लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में नव्य नैयायिकों का वक्तव्य यह है- **'सर्वे सर्वार्थवाचकाः'(सभी पद सभी अर्थों के वाचक हैं)** यह सिद्धान्त प्रमाण के अभाव में अमान्य है अतः इसके आधार पर लक्षणा की उपेक्षा कर तीर आदि अर्थों की शक्ति ही गङ्गा पद में मानना उपयुक्त नहीं है । हमें यह ध्यान में लेना चाहिए कि गङ्गा पद से तीर रूप अर्थ का स्मरण एवं उसका शाब्दबोध में भान सभी को मान्य है । ऐसी स्थिति में शाब्दबोध के लिए उपयोगी तीर स्मरण में हेतु किसी सम्बन्ध की कल्पना अनिवार्य है, जिसके सम्बन्धी गङ्गा पद एवं तीर अर्थ हैं, क्योंकि पद ज्ञान एक सम्बन्धी ज्ञान के रूप में ही पदार्थ स्मरण का जनक होता है । जहाँ शक्यसम्बन्ध के ज्ञान से तीर का स्मरण होता है वहाँ भी तीरविषयक शाब्दबोध सर्वमान्य है । इसलिए शाब्दबोध में उपयोगी पदार्थस्मरण में हेतु विषया शक्यसम्बन्ध में सम्बन्धता स्वतःसिद्ध है । ऐसी स्थिति में इसी 'शक्यसम्बन्ध' को लक्षणा मानना उचित है । ''गङ्गायाम् घोषः' इस स्थल में गङ्गा पद में तीर रूप अर्थ की लक्षणा- ''गङ्गापदशक्य प्रवाह का संयोग'' या 'सामीप्य' ही है । नव्य नैयायिकों का यह मत ही उपयुक्त है।

लक्षणास्वरूप के सम्बन्ध में चर्चित अन्य मतों की समीक्षा :

लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में नव्य न्याय के मत के अतिरिक्त अन्य जो कतिपय मत अभी प्रस्तुत किये गये हैं वे उपयुक्त नहीं हैं । किन्हीं प्राचीन नैयायिकों का यह मत स्पष्ट किया गया है — शक्य सम्बन्धी की प्रतीति की इच्छा से

उच्चरितत्व रूप 'शक्यसम्बन्ध विषयकतात्पर्य' ही लक्षणा है ; पर यह संगत नहीं है; क्योंकि तात्पर्यज्ञान के पूर्व ही पदों से वृत्ति के बल पर अर्थ की उपस्थिति होती है। इससे स्पष्ट है कि लक्षणा रूप वृत्ति से पद के द्वारा अर्थ की उपस्थिति होने के अनन्तर ही तात्पर्य या उसके ज्ञान का अवसर आता है । लक्ष्य अर्थ की स्मृति के लिए लक्षणा का ज्ञान आवश्यक है ; क्योंकि शाब्दबोध की जनिका पदार्थ स्मृति के लिए उपयोगी सम्बन्ध ही वृत्ति है तथा वृत्तिविशेष ही लक्षणा कहा जाता है । तात्पर्य को लक्षणा मानने पर तो उसका ज्ञान पदार्थस्मृति के पहले असम्भव होने से लक्षणा को वृत्ति नहीं माना जा सकेगा । यदि शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा मानना सम्भव है तो 'शक्यसम्बन्धी की प्रतीति की इच्छा से उच्चारितत्व' रूप तात्पर्य को लक्षणा क्यों माना जाय । इसके अतिरिक्त यह भी समझने योग्य है कि तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जाता है । यदि तात्पर्य लक्षणा है तो इसका अर्थ यह होगा कि तात्पर्यानुपपत्ति तात्पर्य में बीज होगी । दूसरे शब्दों में स्व की अनुपपत्ति को स्व में ही बीज (कारण) मानना होगा । क्या यह बुद्धिगम्य है? इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है — प्रवाह में गङ्गा पद का तात्पर्य ही शक्ति है । इस आपत्ति को इष्ट मान लिया जाय तो शक्ति से अतिरिक्त लक्षणा की सिद्धि अशक्य होगी । यदि यह कहा जाय की तात्पर्य को उपपन्न करने के लिए तात्पंर्य से भिन्न शक्ति अवश्य माननी होगी, क्योंकि स्वयं का निर्वाहक स्वयं नहीं हो सकता तो लक्ष्यार्थविषयक तात्पर्य के निर्वाह के लिए भी तांत्पर्य से अतिरिक्त लक्षणा नाम की वृत्ति अवश्य स्वीकार करनी चाहिए।

इसी युक्ति के आधार पर पूर्व में उद्धृत वह मत भी निरस्त हो जाता है जिसके अनुसार 'अशक्य में तात्पर्य' को लक्षणा माना गया है । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है — शाब्दबोध में कतिपय संसर्ग अशक्य होते हैं, वे आकांक्षा के द्वारा भास्य होते हैं । अशक्य में तात्पर्य को लक्षणा मानने पर ये संसर्ग भी वक्ता के तात्पर्य के विषय हैं ही, अतएव इनमें भी लक्षणा मान लेनी चाहिए; फलतः ये भी लक्ष्यार्थ होंगे । इसी प्रकार — 'गङ्गापद तीर का बोधक होगा —' आदि रूप में प्रयोक्ता के अभिप्राय को भी लक्षणा नहीं मान सकते, क्योंकि इस प्रकार का तात्पर्य वाक्य प्रयोग में निमित्त होता है । उसे शक्ति या लक्षणा नाम की वृत्ति नहीं मानते हैं । अन्यथा 'गङ्गा पद शक्ति से प्रवाह रूप अर्थ का बोध करायेगा —' इस प्रकार के वक्ता के तात्पर्य को भी शक्ति माना जा सकता है । फलतः शक्ति नाम के वृत्ति विशेष को भी अभिप्राय रूप मान लेने से उसमें और लक्षणा में भेद सिद्ध करना कठिन होगा । साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस पक्ष में गङ्गा पद शक्यसम्बन्ध से तीर रूप अर्थ का स्मारक होगा ही । ऐसी स्थिति में शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा मान लेना उचित है।

'शक्य से अशक्य की उपस्थिति ही लक्षणा है-' यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि उपस्थिति भी वृत्ति मानी जा सकती है तो घट पद से होने वाली घट रूप अर्थ की उपस्थिति को ही घट पद की शक्ति क्यों न मान लिया जाय ? यदि कहा जाय — पद एवं पदार्थ के उस सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं जो शाब्दबोध में हेतु उपस्थिति का जनक हो, अतएव शक्य की उपस्थिति शक्ति नाम की वृत्ति नहीं हो सकती; तो अशक्य अर्थ तीर आदि की उपस्थिति भी लक्षणा नाम की वृत्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि वृत्ति तो वह सम्बन्ध है जो उपस्थिति का कारण है, न कि उपस्थिति ही वृत्ति है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि शाब्दबोध में उन्हीं अर्थों का भान मान्य है जो पद जन्य उपस्थिति के विषय होते हैं। यदि शक्य अर्थ से अशक्य अर्थ की उपस्थिति ही लक्षणा है तो गङ्गा आदि पदों से लक्ष्य अर्थ तीर आदि की उपस्थिति न होने से लक्ष्य तीर आदि का शाब्दबोध में भान नहीं हो सकेगा। इसी युक्ति के बल पर मीमांसकों का भी यह मत निरस्त हो जाता है कि शक्य में रहने वाला अशक्य सम्बन्ध लक्षणा है, क्योंकि इसके अनुसार लक्षणा नाम की वृत्ति शक्य अर्थ में रहेगी न कि पद में। फलत: लक्ष्य अर्थ की उपस्थिति पद से न होने के कारण लक्ष्यार्थ का शाब्दबोध में भान न हो सकेगा।

अप्पय दीक्षित का भी लक्षणासम्बन्धी मत खण्डनीय ही है। वे कहते हैं — 'शब्द में रहने वाला वह 'प्रतिपादकत्व' ही लक्षणा है जिसमें मुख्यार्थ सम्बन्ध कारण है।' श्री दीक्षित के इस कथन के अनुसार शब्द में रहने वाली उसे 'अर्थप्रतीतिजनकता' को ही लक्षणा समझना चाहिए जो मुख्यार्थसम्बन्ध के कारण ही होती है। 'गङ्गायाम् घोष:' इत्यादि स्थल में गङ्गा शब्द तीर रूप अर्थ की प्रतीति का जनक होता है ; अत: गङ्गा शब्द में तीर रूप अर्थ की प्रतीति की जनकता है और यह जनकता गङ्गा पद के मुख्य अर्थ प्रवाह के साथ तीर का जो सामीप्य या संयोग सम्बन्ध है उसी सम्बन्ध के कारण ही है। इसीलिए इस गङ्गा शब्द में रहने वाली तीर रूप अर्थ की प्रतीति जनकता ही लक्षणा है, पर यहाँ यह प्रश्न होता है — गङ्गा शब्द से तीर रूप अर्थ की प्रतीति में मुख्यार्थसम्बन्ध (गङ्गा पद के मुख्य अर्थ प्रवाह का सामीप्य अथवा संयोग सम्बन्ध) कैसे कारण बनता है ? इसके उत्तर में यदि कहा जाय — 'एक सम्बन्धी का ज्ञान अपर सम्बन्धी की प्रतीति (स्मृति) में कारण होता है' इस सामान्य नियम के अनुसार एक सम्बन्धी गङ्गा पद से अपर सम्बन्धी तीर की प्रतीति में गङ्गा पद के मुख्य अर्थ प्रवाह का सम्बन्ध कारण हो सकता है, तो इस मुख्यार्थ सम्बन्ध को ही लक्षणा मान लेना चाहिए न कि मुख्यार्थ सम्बन्ध के कारण होने वाली प्रतीति जनकता को; क्योंकि पिछले विवेचन के अनुसार वह

सम्बन्ध ही वृत्ति है जो शाब्दबोध में कारणपदार्थोपस्थिति के लिए आवश्यक है और इस प्रकार की सम्बन्धता प्रकृत में मुख्यार्थसम्बन्ध (प्रवाहसम्बन्ध सामीप्य या संयोग) में उपपन्न है ।

'लक्षणा वृत्ति वाक्य में भी रहती है' इस मत के पोषक मीमांसक बोध्य सम्बन्ध को ही लक्षणा मानते हैं — यह पीछे लिखा गया है । यह मान्यता वाक्य में लक्षणा मानने की अनिवार्यता पर ही स्थिर है, पर वाक्य में लक्षणा मानी ही क्यों जाय ? पद में लक्षणा मान लेने से ही यदि निर्वाह हो सकता है तो पदसमूहरूप वाक्य में लक्षणा मानना निरर्थक है । 'गभीरायाम् नद्याम् घोष:' (गहरी नदी में घोष है) इस वाक्य में गभीर नदी तीर में घोष का बोध प्रामाणिकों को होता है । इस बोध को उपपन्न करने के लिए 'गभीरायाम् नद्याम् ' इस पदसमूह रूप वाक्य में गभीर नदीतीर की लक्षणा मीमांसक लोग मानते हैं; पर ऐसा न मानकर भी अभीष्ट बोध उपपन्न है; क्योंकि प्रकृत वाक्य में नदी पद की ही गभीर नदी तीर में लक्षणा मान ली जाय और गभीर पद को इस लक्षणा के लिए उपयोगी तात्पर्य का ग्राहक मान लिया जाय, तब भी "गभीर नदी तीर में घोष है" यह बोध उपपन्न है । इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है — वाक्य लक्षणा के पक्ष में "गभीरायाम् नद्याम् घोष:" यहाँ कितने को लाक्षणिक माना जाय? 'गभीरायाम् नदी' इस भाग को गभीर नदी तीर में यदि लक्षणा माना जाय तो 'गभीरायाम् नदीम् व्रजेत्' इस अशुद्ध वाक्य से भी गभीरनदीतीरकर्मकगमन का बोध होना चाहिए क्योंकि "गभीरायाम् नदी" इतने से गभीर नदी तीर का बोध होने से 'गभीरायाम् नदीम् व्रजेत्' यह अशुद्ध वाक्य भी 'गभीर नदी तीर पर जाना चाहिए' इस अर्थ का बोधक हो ही सकता है । 'लक्षक को प्रातिपदिक होना ही चाहिए' इस नियम के अनुसार 'गभीरायाम् नदी' यह भाग यदि लक्षक है तो प्रातिपदिक भी है । ऐसी स्थिति में 'गभीरायाम् नदी' के आगे 'आम्' इस रूप में विद्यमान सप्तमी[१०] विभक्ति का लोप होना चाहिए । लोप विधायक 'सुपोधातु[११] प्रातिपदिकयो:' (पा.सू.२/४/७४) यह अनुशासन पाणिनीय व्याकरण में प्रसिद्ध है । यदि कहा जाय — प्रकृत में 'कृततद्धित्समासाश्च' यह सूत्र ही प्रातिपदिक संज्ञा कर सकता है और यह सूत्र नियामक होने के कारण समाज की ही प्रातिपदिक संज्ञा करता है । फलत: 'गभीरायाम् नदी' इस भाग के समास न होने से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती, तो 'गभीरायाम् नदी' इस भाग के अनन्तर श्रूयमाण सप्तमी विभक्ति अनुपपन्न होगी; क्योंकि "ङ्याम् प्रातिपदिकात् " (पा.सू.४/१/१) इस सूत्र के अनुसार प्रातिपदिक से ही सु, औ, जस् आदि विभक्तियाँ आती हैं। वाक्य लक्षणावादी यदि यह मानें — 'गभीरायाम् नद्याम् ' यह पूरा भाग ही गभीर नदी तीर

का लक्षण है तो यह मान्यता सर्वथा असंगत है; क्योंकि लक्ष्य अर्थ गभीर नदी तीर का घोष पदार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध से अन्वय नहीं हो सकेगा। अभेदान्वय बोध के लिए पदों का समानविभक्तिक होना आवश्यक है और प्रकृत में 'गभीरायाम् नद्याम्' यह सप्तम्यन्त है तथा घोष: यह प्रथमान्त है। इसलिए वाक्य में लक्षणा हो ही नहीं सकती।

वाक्य लक्षणावादी यहाँ यह प्रश्न उठा सकते हैं — पद में ही यदि लक्षणा मान्य है तो 'नदी' पद को ही लक्षक क्यों माना जाय, 'गभीरा' पद को क्यों न लक्षक माना जाय? इसके समाधान में संक्षेप में यह वक्तव्य है :— 'नीलायाम् यमुनायाम् घोष:' (नील यमुना में घोष है), शुक्लायाम् गङ्गायाम् घोष:' (शुक्ल गङ्गा में घोष है), आदि स्थलों नील, शुक्ल आदि विशेषणवाचक पदों को लक्षण मानने पर उनके शक्य अर्थ का लक्ष्य 'तीर' अर्थ के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं बन पाता है। विशेष्यवाचक गङ्गा पद को लक्षक मानने पर उसके शक्य अर्थ प्रवाह के साथ लक्ष्य अर्थ तीर का साक्षात् सम्बन्ध संयोग, सामीप्य आदि बन जाता है। इस विनिगमक के आधार पर 'विशेष्यवाचक पद को ही लक्षक मानना चाहिए' यह नियम लक्षणावादियों को इष्ट है। इसीलिए 'गभीरायाम् नद्याम् घोष:' आदि स्थलों में भी विशेष्यवाचक 'नदी' आदि पदों को ही लक्षक माना जाता है। इतने से यह स्पष्ट हो रहा है कि वाक्य में लक्षणा हो नहीं सकती। इसके अतिरिक्त स्वबोध्य सम्बन्ध को लक्षणा न मानने में यह भी कारण है —

स्वबोध्य का अर्थ है — पद से होने वाले बोध का विषय। जब भी शाब्दबोध होता है तब शाब्दबोध के हेतु वाक्य के घटक पदों से दो बार में दो प्रकार का बोध होता है। सबसे पहले पद से स्मरण रूप बोध होता है उसके अनन्तर शाब्दबोध नाम का अनुभव रूप बोध होता है। प्रकृत में 'स्वबोध्य' घटक बोध से कौन सा बोध लेना है? यदि स्मरणरूप बोध लेना है तो स्वजन्य स्मरण विषयसम्बन्ध ही स्वबोध्यसम्बन्ध होगा। ऐसी स्थिति में सभी पदों का आकाश के साथ समवाय सम्बन्ध होने के कारण किसी भी पद के सुनने के बाद आकाश का स्मरण 'एक सम्बन्धिज्ञानम् अपर सम्बन्धिस्मारकम्' इस न्याय से हो सकता है। फलत: यदि 'घट' पद के ज्ञान से आकाश का स्मरण हुआ तो घट पद से होने वाले आकाश के स्मरण रूप बोध के विषय आकाश का सम्बन्ध पट में रहने से 'घट पद की लक्षणा पट रूप अर्थ में है' यह व्यवहार होना चाहिए; पर होता नहीं है। स्वबोध्यघटक बोध से शाब्दबोध नाम का बोध लेने पर पद से होने वाले शाब्दबोध के विषय सम्बन्ध को स्वबोध्यसम्बन्ध मानने से 'गङ्गायाम् घोष:' आदि स्थल में गङ्गा पद को तीर अर्थ

में लाक्षणिक मानना असम्भव होगा; क्योंकि प्रवाहसम्बन्ध को ही लक्षणा मानकर गङ्गा पद तीर अर्थ में लाक्षणिक होता है और प्रवाहसम्बन्ध गङ्गा पद से होने वाले शाब्दबोध का विषय नहीं हो सकता। यह बहुत ही स्पष्ट है कि 'गङ्गा पद के शक्य अर्थ प्रवाह का घोष के साथ अन्वय नहीं हो सकता' इस अन्वयानुपपत्ति का ज्ञान होने पर ही तीर रूप लक्ष्य अर्थ का बोध होता है। ऐसी स्थिति में गङ्गा पद से प्रवाहान्वित[१२] विषयक शाब्दबोध कैसे हो सकता है। फलत: प्रकृत में जब गङ्गा पद से होने वाले शाब्दबोध का विषय प्रवाह[१३] हो ही नहीं सकता तब उसके सम्बन्ध को लक्षणा कैसे मान सकते हैं ? इसलिए पद से शक्तिवृत्ति से होने वाली उपस्थिति का विषय सम्बन्ध ही 'गङ्गायाम् घोष:' आदि स्थल में स्वबोध्य सम्बन्ध के रूप में स्वीकरणीय होगा। यदि यही स्वीकरणीय है तो मीमांसक के अनुसार स्वबोध्यसम्बन्ध का अर्थ होगा — शक्त्यास्वपदजन्यउपस्थिति विषयसम्बन्ध और यही सम्बन्ध मीमांसक के मत में लक्षणा के रूप में मान्य होगा। इसकी अपेक्षा शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा मानने में लाघव स्पष्ट है। अत: न्यायमत के अनुसार शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा का स्वरूप मानना चाहिए।

लक्षणास्वरूप सम्बन्धी न्यायमत का स्पंष्टीकरण :

"गङ्गायाम् घोष:" इस स्थल में गङ्गा पद के शक्य प्रवाह के साथ तीर का सामीप्य या संयोग रूप सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध ही शक्यसम्बन्ध रूप लक्षणा है। इस सम्बन्धरूपलक्षणा के दो सम्बन्धी हैं — गङ्गा पद एवं तीररूप अर्थ। इसीलिए गङ्गा पद का ज्ञान होने पर दूसरे सम्बन्धी तीर की स्मृति होती है और 'गङ्गायाम् घोष:' इस वाक्य से 'तीरे घोष:' (तीर में घोष है) यह लक्ष्य अर्थ तीरविषयक शाब्दबोध होता है। यहाँ यह संशय नहीं करना चाहिए कि गङ्गा पद के जितने भी सम्बन्धी हैं उन सभी का स्मरण क्यों नहीं होता, क्योंकि 'गङ्गा पद का शक्य अर्थ तो प्रवाह ही है; उस प्रवाह के साथ घोष पद के अर्थ आमीरपल्ली का अन्वय अनुपन्न है'। इस ज्ञान के रहने से प्रकरण आदि के बल पर वक्ता के इस तात्पर्य का ज्ञान हो जाता है कि गङ्गा पद के द्वारा लक्षणा वृत्ति से उपस्थिति तीर रूप अर्थ में घोष का अन्वय इष्ट है। इसीलिए तीरान्वितघोषविषयक ही शाब्दबोध होता है। अन्य विषयक शाब्दबोध की सम्भावना स्वत: निरस्त हो जाती है।

यहाँ एक प्रश्न किया जाता है- 'गङ्गायाम् घोषा:' इस वाक्य से 'प्रवाह में घोष है' यह बोध यदि हो तब प्रवाह में घोष के अन्वय की अनुपपत्ति का प्रतिसन्धान सम्भव है, पर यहाँ तो प्रवाह में घोष के अन्वय का बोध होता ही नहीं है। इसके

उत्तर में नैयायिकों का वक्तव्य यह है जैसे- वाक्यार्थ बोध के अपूर्व होने पर भी शाब्दबोध के पहले तात्पर्यज्ञान की कल्पना अनिवार्य है वैसे ही वाक्यघटक पदों के अर्थों का स्मरण होने पर उनके परस्पर अन्वय की अनुपपत्ति का भी प्रतिसन्धान अवश्य स्वीकरणीय है ।

यहाँ यह भी विशेष रूप से ज्ञातव्य है- न्याय-दर्शन के अनुसार गङ्गा पद से तीरत्वेन रूपेण तीर का बोध लक्षणा वृत्ति से होता है, गङ्गातीरत्वेन नहीं । अब इस सन्दर्भ में यह जिज्ञासा होती है- यदि गङ्गा पद का लक्ष्य अर्थ गङ्गातीर नहीं अपितु तीर है तो गङ्गागत शैत्य पावनत्व आदि की प्रतीति तीर वृत्ति घोष में कैसे होगी? यदि कहा जाय, तीरवृत्ति घोष में गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति न मानने पर क्या क्षति है? तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति ही लक्षणा का प्रयोजन है ।

इस जिज्ञासा का निवारण न्याय-दर्शन के अनुसार इस प्रकार किया जाता है- लक्षणास्थल में लक्ष्य अर्थ किस पद से प्रतिपाद्य है यह ज्ञान होता ही है । 'गङ्गायाम् घोषः' इस वाक्य से लक्ष्य अर्थ तीर का बोध होने से पूर्व तीर में गङ्गापदप्रतिपाद्यत्व का ज्ञान अवश्य होगा और यह ज्ञान मानस ही है । ऐसी स्थिति में गङ्गा पद से लक्ष्य अर्थ तीर का बोध भलेही तीरत्वेन हो पर उसमें यदि गङ्गा पद प्रतिपाद्यत्व का ज्ञान है तो गङ्गागत शैत्य, पावनत्व आदि की प्रतीति तीर में सुशक है । इतने से यह स्पष्ट है कि शक्य सम्बन्ध को ही लक्षणा मानना उचित है । यह लक्षणा निरूढा लक्षणा एवं आधुनिकी लक्षणा भेद से दो प्रकार की है । गङ्गा पद की तीर रूप अर्थ में लक्षणा निरूढा लक्षणा है; क्योंकि तीररूप अर्थ में गङ्गा पद का प्रयोग अनादि काल से तीरान्वित घोष के तात्पर्य से होता चला आ रहा है । इसलिए अनादि तात्पर्यवती लक्षणा ही निरूढा लक्षणा मानी जाती है । सादि तात्पर्यवती लक्षणा को आधुनिकी लक्षणा कहते हैं । यह लक्षणा किसी भी पद से किसी भी अर्थ के बोध की इच्छा से की जाती है । घट पद की पट रूप अर्थ में लक्षणा, पुस्तक पद की कॉपी रूप में लक्षणा आदि । इसीलिए यह आधुनिकी लक्षणा साम्प्रतिक लक्षणा, स्वारसिक लक्षणा आदि शब्दों से कही जाती है ।

उपसंहार

इस तरह लक्षणा के सम्बन्ध में व्याकरण साहित्य, मीमांसा एवम् न्याय की दृष्टि से संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विचार प्रस्तुत कर न्यायमत को स्थिर करने का

प्रयास किया गया है । विश्वास है इस प्रयास से विशुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से लक्षणावृत्ति का साङ्गोपाङ्ग परिचय प्राप्त हो सकेगा ।

बी२९/३ए-डी **डा. प्रियम्वदा पाण्डेय**
अग्रवाल कटरा, अस्सी लंकारोड
वाराणसी - २२१००५

टिप्पणियाँ

१. "भक्ति" शब्द भज् सेवायाम् धातु से बनता है । प्रकृत में इसका अर्थ है - जिसके द्वारा अपने स्वार्थ का भजन (सेवा) किया जाय । यहाँ भजन का अर्थ है बोध । इस तरह लक्षणा में भक्ति शब्द का व्यवहार उपपन्न हो जाता है; क्योंकि इसके द्वारा पद के लक्ष्य अर्थ का बोध होता ही है ।

२. किसी प्रयोजन वश दही बाहर रखी है । उसके सुरक्षा के लिए कोई कहता है- कौवों से दही की रक्षा करो ! इस वाक्य में कौवा कहने से केवल कौवा का बोध नहीं होता है, अपितु दही के विनाशक जितने भी हैं बिल्ली आदि सभी का बोध होता है, अन्यथा बिल्ली आदि दही खाए तो उन्हें न रोका जाय । इससे यह स्पष्ट हो रहा है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में कौवा पद लाक्षणिक (लक्षणा से अर्थ बोध कराने वाला) है । अब यहाँ यह विचारणीय है- लक्षणा क्या है? वैयाकरणों के अनुसार यह अप्रसिद्ध शक्ति है । 'कौवा उड रहा है' आदि स्थलों में कौवा पद प्रसिद्ध शक्ति से अपने में रहने वाले काकत्व धर्म के द्वारा केवल काक (कौवा) का ही बोधक होता है । 'कौवों से दही की रक्षा करो' आदि स्थलों में तो 'कौवा' पद दधि विनाशक कौवा एवं बिल्ली आदि का बोधक होता है । काकत्व शक्यतावच्छेदक है, दधि विनाशकत्व आरोपित शक्यतावच्छेदक है । इसीलिए कौवा पद से कौवा का बोध शक्ति से तथा दधि विनाशक का बोध लक्षणा से माना जाता है आरोपित शक्यतावच्छेदक के द्वारा होने वाला बोध ही आरोपित शक्ति से होने वाला बोध है । यही बोध लाक्षणिक बोध रूप में प्रसिद्ध है ।

३. ये कमल-कमल हैं इस प्रकार का वाक्य प्रयोग सामने दिखने वाले कमलों को कमल विशेष बताने के लिए होता है । ऐसी स्थिति में इस वाक्य का पहला 'कमल' पद कमलत्व रूप से कमल का बोधक है तथा दूसरा 'कमल' पद कमलपदवाच्यत्व रूप से कमल विशेष का बोधक है । 'कमलत्व' शक्यतावच्छेदक है । 'कमलपदवाच्यत्व' आरोपित शक्यतावच्छेदक है । इसीलिए कमल पद से कमल का बोध प्रसिद्ध शक्ति

से तथा कमल विशेष का बोध अप्रसिद्ध शक्तिसे मान्य है और अप्रसिद्ध शक्ति से होने वाला यह दूसरा बोध ही लक्षणा से होने वाला बोध है ।

४. "सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमान धारणासामीप्य योगसाधनाधिपत्येभ्यः ब्राह्मणबालकटराजसक्तुचन्दनगङ्गा शकटान्नपुरुषेष्वतभ्दावेऽपि तदुपचारः ॥"

(न्याय सूत्र २/२/६१)

५. 'पुंयोगादाख्यायाम् ' (पाणिनि सूत्र, ४/१/४८)

'चतुर्भिः प्रकारैः अतस्मिन् सः इत्येतद्भवति, तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात् तत्साहचर्यात् मञ्चा हसन्ति, सिंहो भाणवकः, गङ्गायाम् घोषः, षष्टीः प्रवेशय ।'

६. आरोप्यते ताद्रूप्यं न तु मुख्यम् ।
बालेषु मञ्चत्वारोपात् मञ्चपदप्रवृत्तिः
हसन्तीति पदान्तर प्रयोगात् विज्ञायते ।

७. 'इन्द्रियाणाम् स्वविषयेष्वनादिर्थोग्यता यथा ।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ॥'

(हरिकारिका)

८. सम्बन्धत्व की कल्पना आप्तों की विशिष्ट प्रतीति रूप फल के अनुरोध से होती है । अपभ्रंश शब्दों का उनके बोध्य अर्थो के साथ ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध मानकर 'यह इससे विशिष्ट है, यह विशिष्ट प्रतीति आप्तों को नहीं होता, इसीलिए अपभ्रंश स्थल में ईश्वरेच्छा सम्बन्ध नहीं है ।

९. 'मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वं लक्षणा ।'

१०. 'नदी आम् ' इस स्थिति में यण् सन्धि होकर 'नद्याम् ' बनता है । यहाँ आम् सप्तमी एकवचन 'डी' विभक्ति के स्थान में होता है ।

११. यह पाणिनि सूत्र २/४/७४ है । इसके अनुसार धातु अथवा प्रतिपदिक के अवयव सुप् का लोप होता है । नदी पद लक्षण होने से प्रातिपदिक है तो इसके आगे विद्यमान सुप् 'आम् ' का लोप होना चाहिए ।

१२. "गङ्गायाम् घोषः " इस वाक्य से गङ्गा तीर से अन्वित घोष का बोध होने से गङ्गातीरान्वित घोष शाब्दबोध का विषय है, प्रवाहान्वित घोष नहीं ।

१३. "गङ्गायाम् घोषः " इस वाक्य से होने वाले शाब्दबोध का विषय प्रवाह तो नहीं है, क्योंकि प्रवाह में घोष का अन्वय बाधित है ।

कला और नैतिकता का संबंध - एक मूल्यांकन

कला और नैतिकता के संबंधों को लेकर समय-समय पर विवाद उठते रहे हैं। कुछ समीक्षकों के अनुसार नैतिकता के साथ कला का कोई सरोकार नहीं है, तथा कला नैतिकता के प्रति निरपेक्ष ही रहती है । लेकिन यदि ऐसा है तो यह एक मानवीय मूल्य नहीं रह जाता और मूल्यों का क्षरण तो मानवता का पतन है इससे कौन इन्कार कर सकता है । अपने युग में मानवीय मूल्यों का विघटन होते देखकर अथवा धन और भोग के लिए अनेक जनों में किन्हीं प्रिय मूल्यों का ह्रास देखकर ही तो शेक्सपियर ने अपने महान दु:खान्त नाटक रचे थे । ये नाटक हमारी करुणा का परिष्कार और प्रसार करते हैं । दया और भय के भावों के अतिरिक्त वे अन्याय और बर्बरता के प्रति क्रोध और धीरता-वीरता आदि गुणों के लिए सम्मान-भावना जाग्रत करते हैं । शेक्सपियर समाज के नैतिक संघर्ष में तटस्थ न होकर विश्वजनीय मूल्यों का पक्ष लेते हैं । उनके नाटकों में बाह्य संघर्ष पर भी पूरा बल है, हीरो का अन्तर्द्वन्द्व ही सबकुछ नहीं है । इस प्रकार ये नाटक मनुष्य के नैतिक विकास का एक साधन है ।[1] अत: यदि हम मनुष्यों और उनके जीवन मूल्यों के प्रति एक व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ तो ऐसा प्रतीत होता है कि कला, नैतिकता से पूरी तरह निरपेक्ष या स्वायत्त नहीं हो सकती ।

कला और नैतिकता दोनों की उत्पत्ति सामाजिक स्थितियों - परिस्थितियों अथवा वस्तुओं की वर्तमान अवस्था के प्रति अपूर्णता के बोध से होती है । नैतिकता उन वस्तुओं-स्थितियों की अवस्था में परिवर्तन करके उन अपूर्णताओं को दूर करने का प्रयत्न करती है । दूसरी ओर कला यह मानकर चलती है कि अपूर्णता अथवा असद् भी जीवन का एक तथ्य है, इसलिए वह उन्हें भी सजाती और सँवारती है - आभूषणों से, वस्त्रों से, कविताओं से, लयों से, छंदों से । जहाँ-जहाँ कुरूप है, असुन्दर है, वहाँ-वहाँ कला सुन्दर का निर्माण करती है । इसलिए कला जीवन की ऐसी अभद्रताओं को ढँक देती है जो अप्रीतिकर हो सकती थी । इस प्रकार कला और नैतिकता दोनों को ही जीवन और समाज की अपूर्णताओं - अभद्रताओं से जूझना होता है ।

उपरोक्त स्थिति के कारण ही आइ. ए. रिचर्डस, जॉन ड्युई आदि कई ऐसे विचारक हैं जो कला-मूल्य और नीति-मूल्य में भेद नहीं करते । उनके मत में, कलाकृति के सुन्दर होने में और उसके अच्छी या शिव होने में तत्त्वत: कुछ भी अन्तर नहीं है । इससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि कला नीति-पोषक होती है । किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कला उपदेश-परक होती है या होनी चाहिये। नीति तत्त्वों के पालन से, जो मूल्यवान अनुभव-सम्पन्न जीवन प्राप्त होता है, वह कलास्वाद से भी प्राप्त होता है । रिचर्डस से ही मिलता-जुलता स्वर जॉन ड्युई का भी है । उनके शब्दों में "पर्वत शिखर और तलहटी की जमीन में जो रिश्ता होता है वही जीवनानुभव और कलानुभव में होता है ।"[2]

कला का नैतिकता से प्रत्यक्ष नहीं परोक्ष संबंध :

यह भी एक तथ्य है कि कला का नैतिकता के साथ कोई सीधा अथवा प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता । यह मानवीय व्यक्तित्व को परोक्ष रूप से प्रभावित करती है, सीधे-सीधे उपदेश या शिक्षा नहीं देती । ऐसा होने पर कला का बुनियादी उद्देश्य - मनुष्य को समस्त द्वन्द्वों से ऊपर उठाकर उसके लिए अद्वितीय आनन्दानुभूति प्रदान करना - भंग होता है ।[3] कहा भी है कि जो साहित्य अथवा कला हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव कराये, वही उपादेय है । उसके भाव पक्ष के लिए किसी देश-विशेष अथवा काल-विशेष की नैतिक आचार परम्परा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है ।[4]

शेली के "डिफेन्स ऑफ पोएट्री" में काव्य (कला) और नीति के संबंध में कुछ महत्त्वपूर्ण विचार उपलब्ध हैं । उनके मत में, समाज में नैतिकता नहीं दिखती, इसका कारण नीति-तत्त्वों का अभाव नहीं है । वास्तविकता यह है कि नीति तत्त्व तो है लेकिन नैतिकता नहीं है । नैतिकता के अभाव का कारण समाज में विकसित कल्पना-शक्ति का अभाव है । मनुष्य के अन्दर अगर विकसित कल्पना-शक्ति हो तो दुनिया में जो-जो सुन्दर है इसके साथ उसका तादात्म्य हो सकता है । समस्त मानव जाति के सुख-दुख से वह एक रूप हो सकता है । अन्यों पर प्रेम करने की उसकी शक्ति बढ जाती है । फिर वह आत्म-केन्द्रित नहीं रहता । सबकी दृष्टि से वह किसी भी प्रश्न की ओर देख सकता है । मनुष्य की आत्यन्तिक आत्म-केन्द्रितता नष्ट होना, औरों की दृष्टि से विश्व की ओर देखने की क्षमता उत्पन्न होना, अन्यों पर प्रेम करना इत्यादि चीजें नैतिकता का विकास ही है । काव्य (कला) नैतिकता के लिए उपयुक्त है । लेकिन वह इसलिए नहीं कि विशिष्ट नीति तत्त्वों का प्रसार करता है । यह उपयुक्तता अप्रत्यक्ष सहायता के रूप में होती है । काव्य (कला) के कारण कल्पना-

शक्ति का पोषण होता है और विकसित कल्पना-शक्ति के कारण नैतिकता का पोषण होता है। काव्य और नैतिकता के बीच का संबंध इस प्रकार अप्रत्यक्ष होता है, लेकिन इसलिए वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता।

नैतिकता कला का लक्ष्य नहीं बल्कि दृष्टि :

जब कला का सबसे पहला उद्देश्य ही इस तरह से परोक्ष रूप से अर्जित किया जाता है, तब सहज ही यह प्रश्न उठता है कि कला और नैतिकता का यह परोक्ष संबंध वस्तुत: है क्या ? यह कला की पद्धति के कारण तो हो नहीं सकता, क्योंकि नीति कथाएँ या रूपक कथाएँ परोक्ष रूप से नीति की शिक्षा देती है, लेकिन वे कला नही हैं। जिन चरित्रों या पात्रों को कला में प्रस्तुत किया जाता है, या तो उसके माध्यम से अथवा कथानक की सामान्य अर्थवत्ता के द्वारा कला दर्शकों पर नैतिक प्रभाव डालती है। अत: समीक्षकों के मत में, कला में कोई नैतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि अनिवार्य रूप से उसमें नैतिक दृष्टि होनी चाहिये। तभी वह अपने वास्तविक उद्देश्य को पूरा कर सकती है। लेकिन फिर इसका अर्थ, कला को उपदेशात्मक बनाना नहीं है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार नैतिकता न तो कला की अन्तर्वस्तु का निर्माण करती है और न ही यह उसका उद्देश्य है। फिर नैतिक दृष्टि जैसी अनिवार्य आवश्यकता के कारण कलाकार पर यह अंकुश लग जाता है कि वह जीवन के उच्च पक्षों को अपनी कला के लिए चुने, अन्यथा कला न सिर्फ अपनी नैतिक प्रभाव की क्षमता खो देगी, बल्कि अन्त में वह चरित्र को भ्रष्ट करने और आदर्शों को पतित करने का साधन बन कर रह जायेगी।[5] अत: हमें दृढता से केवल इस बात पर अटल रहना चाहिये, और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक, उपन्यास अथवा कोई भी कला कहकर हमें दिया जा रहा है, वह हमें हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाकर समस्त जगत के सुख-दुख को समझने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं, हमें उस 'एक' की अनुभूति में सहायता पहुँचा रहा है या नहीं, जिसे व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद उपलब्धि योग्य बनाया है।[6]

कला और नैतिकता दोनों ही नि:स्वार्थ वृत्ति :

एक ही साध्य को दो तरीकों से उपलब्ध किया जा सकता है। एक ढंग तो यह होगा कि स्वार्थपरक प्रवृत्तियों को खुली छूट दे दी जाय और दूसरा रास्ता होगा कि उन प्रवृत्तियों के नियंत्रण, नियमन अथवा समाहार द्वारा लक्ष्य को प्राप्त किया जाय। कला और नैतिकता दोनों इस दूसरे तरीके को ही वरीयता देते हैं, जिस कारण यह सामान्य गतिविधियों से भिन्न ठहरती है। अगर हम किसी साध्य के लिए कार्य कर रहे हैं तो हमारा कर्म नैतिक तब होता है जब वह साध्य पूरी तरह से स्वार्थपरक

उपलब्धि को त्यागकर अर्जित किया जा रहा हो । ठीक उसी तरह अगर हम किसी स्थिति का अनुचिन्तन कर रहे हैं तो यह अनुचिन्तन कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक होने का दर्जा तब पाता है जब हम उसके द्वारा इतने वशीभूत हो जाते हैं कि स्वयं अपने-आप को भूल जाते हैं, अर्थात् उससे एकात्म हो जाते हैं ।

इस प्रकार कला और नैतिकता दोनों ही हैं तो नि:स्वार्थ वृत्ति, लेकिन अक्सर ऐसा देखा जाता है कि दोनों ही अपने उद्देश्य के विपरीत चली जाती हैं । जैसे नैतिकता नि:स्वार्थ होने की उत्सुकता में तपश्चर्या के आदर्श को अपना लेती है, जो और कुछ नहीं बल्कि स्वार्थपरकता का ही एक रूप है । संसार को ज्यों का त्यों छोडकर केवल अपने-आप में डूब जाना नैतिक जीवन नहीं बल्कि नैतिकता का निषेध है । पुन: आत्म-दमन और आत्म-आसक्ति दोनों एक ही प्रवृत्ति के दो पहलू हैं - यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है । यद्यपि इस तथ्य से भी कोई इन्कार नहीं करेगा कि सभी तरह की नैतिकता के लिए तपस्या आवश्यक है तथा आत्म-स्वीकार की चेतना नैतिकता का ही एक विशिष्ट गुण है । किन्तु इस प्रकार की तपस्या सकारात्मक है, नकारात्मक नहीं, । सकारात्मक तपश्चर्या का अनिवार्य अंग है-- परमार्थ । यहाँ तो पारमार्थिक क्रिया को सम्पन्न करने की प्रक्रिया में ही तपस्या का आदर्श अर्जित हो जाता है ।

जिस प्रकार नैतिकता के साथ नकारात्मक हो जाने का खतरा बना रहता है उसी प्रकार कला के भी आत्म-केन्द्रित हो जाने का भय रहता है । ऐसी दशा में कला लगभग असामाजिक होकर भोगवादी बन जाती है । अर्थात् कला भी कभी-कभी किसी भोगी की तरह केवल आनन्द लूटने और सुख पाने की लालसा में ही विघटित हो जाने की प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होती है । यह कला का अध:पतन है । इसी पतन से बचाने हेतु अधिकतर कला को धर्म पर निर्भर रहने के लिए विवश किया जाता है । लेकिन यह कतई आवश्यक नहीं है कि कला को उपरोक्त प्रकार के विघटन से बचाने का एकमात्र आश्रय धर्म ही है । कला इस तरह का कार्य स्वयं भी कर सकती है । ऐसा वह प्रकृति और जीवन के सीधे सम्पर्क द्वारा, उनका आदर्शीकरण करते हुए, बिना किसी धार्मिक विश्वास का सहारा लिए हुए कर सकती है । जैसे तपश्चर्या की ओर मुड जाने के बाद नैतिकता स्वयं को नकारती है, वैसे ही कला भी आत्म-केन्द्रित होकर स्वयं को खण्डित करती है । तपस्वी और भोगी दोनों ही अपने-अपने हितों के लिए संसार को जहाँ का तहाँ छोड देते हैं, जो समाज और मानवता के लिए कहीं से भी न्यायोचित नहीं ठहरता है । अत: नैतिक वृत्ति की तरह कलात्मक वृत्ति को भी विशुद्ध रूप से नि:स्वार्थ होना चाहिए ।[7]

नैतिक मूल्य एक निकष के रूप में :

कुछ समीक्षकों के मत में कलामूल्य और नीति मूल्य अलग-अलग हैं । और कभी-कभी तो दोनों में संघर्ष की स्थिति भी देखी जाती है । इसी संदर्भ में, 'कला, कला के लिए है' -- जैसे सिद्धान्त भी विचार जगत् के समक्ष उपस्थित होते हैं । टॉल्सटॉय की राय में कला का कला के रूप में विचार करने पर भी नैतिक गुणों का परिपोष ही उसके मूल्यांकन की अन्तिम कसौटी है । प्लेटो भी समग्र जीवन पर विचार करते समय कला मूल्यों और नीति मूल्यों के बीच संघर्ष पैदा होने पर कला मूल्यों की तुलना में नीति मूल्यों को अधिक महत्त्व देते हैं । 'सर फिलिप सिडनी' के मत में कला मूल्य और नीति मूल्य में संघर्ष उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि कला से हमारी जो नैतिक अपेक्षाएँ होती हैं उन्हें कला पूर्ण करती हैं ।[8] प्लेटो, टॉल्सटॉय और सिडनी तीनों खुले रूप से नीतिवादी हैं और उनका नीतिवाद सामान्यजन को सहज बोधगम्य है । कला और नीति के संबंधों को लेकर सामान्य जन की जो अवधारणाएँ होती हैं उन्हीं के आसपास ये बातें करते हैं । नीति पर कला का जो प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है वही उनको अभिप्रेत है । उनकी राय में कला को चाहिये कि वह नीति-मूल्यों का प्रत्यक्ष समर्थन करें, मानवीय सद्भावनाओं की वृद्धि करें, कम से कम ऐसा कुछ न करें जिससे नीति का क्षय हो । नीतिवाद का इतने स्पष्ट एवं समर्थ रूप में समर्थन करने वाले समीक्षक आज बहुत कम हैं, लेकिन कला सिद्धान्त के साथ नीतिवाद का जुडाव हो, यह गत दो सहस्र वर्षों की पाश्चात्य समीक्षा में एक अनिवार्य मत है- ऐसा पाटणकर मानते हैं ।[9]

प्लेटो ने कलाओं पर नैतिकता का निकष लगाया और उस निकष पर न उतरने वाली कलाकृतियों पर जोरदार आक्रमण किया है तो उनके शिष्य अरस्तू ने कलाओं को जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया । यह करते समय उसे कला के परिणामों की पूरी कल्पना निश्चित रूप से थी । कला के परिणामों के सम्बन्ध में उसमें और प्लेटो में एकमत होता तो उसने भी कलाओं पर आक्रमण किया होता । प्लेटो के विरोध में कला का समर्थन करते समय प्लेटो के आक्षेपों का खण्डन करना उसे आवश्यक लगा । 'अनुकृति' शब्द को नया अर्थ देकर प्लेटो के ज्ञानशास्त्रीय आक्षेपों का उसने उत्तर दिया । नीतिशास्त्रीय आक्षेपों का उत्तर देने के लिए ही उसने केथार्सिस का सिद्धान्त प्रस्तुत किया होगा । केथार्सिस के सिद्धान्त को नीतिशास्त्र की पृष्ठभूमि निश्चय ही मिली है ।

मार्क्सवादी समीक्षकों और सात्र जैसे अस्तित्ववादी चिन्तकों का मानना है कि मनुष्य का प्रत्येक कृतित्व नैतिक होता है । उसके संबंधों में नैतिक सवाल उठाना

आवश्यक होता है । और खासकर साहित्यकार और कलाकार अपने सृजन द्वारा जिन आत्मिक मूल्यों की स्थापना करते हैं उनकी उपेक्षा नैतिक दरिद्रता की ओर ही ले जा सकती है ।[10] इस प्रकार मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रत्येक कलाकृति का अनिवार्यत: नैतिक आयाम भी होता है । अन्त में कला और नीति विषयक इस सम्पूर्ण विवेचन के सार स्वरूप हम पाटणकर के निम्नलिखित निष्कर्ष को उपस्थापित करते हैं कि कोई भी कलाकृति जितनी गम्भीर रूप से जीवन का सामना करने लगती है, उतना ही उसका नैतिक आयाम महत्त्वपूर्ण होता जाता है ।[11]

कला और नैतिकता के सन्दर्भ में एक स्पष्ट विभाजन रेखा इनके अनुकरण, नकल अथवा चोरी को लेकर खींचा जा सकता है । नैतिक दृष्टि से अच्छे दो कार्यों में समानता, अनुकरण या नकल नैतिक मूल्य की दृष्टि से निन्दनीय अथवा गर्हणीय नहीं मानी जाती । गाँधीजी ने जो भारत में किया वही 'मार्टिन लूथर किंग' ने अमेरिका में किया अथवा विनोबा ने भारत में ही किया तो उसका नैतिक मूल्य या महत्त्व कम नहीं हो जाता । किंग अथवा विनोबा ने गाँधीजी का अनुकरण किया इसलिए उन्हें नैतिक दृष्टि से दोयम स्थान प्राप्त नहीं होगा । लेकिन ऐसा अनुकरण कला के क्षेत्र में निश्चय ही दोयम दर्जे का माना जायेगा । इसलिए वाङ्मय की चोरी निन्दनीय, गर्हणीय अथवा अपराध तक मानी जाती है, लेकिन नैतिक चोरी जैसी कोई अवधारणा अस्तित्व में अबतक नहीं है ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि कला मूल्य और नैतिक मूल्य चूँकि दोनों ही मानवीय चेतना की उपज है, इसलिए इन दोनों का संबंध अविच्छेद्य एवं अभिन्न है । विवाद तब खडा होता है जब नैतिकता को किसी समाज में प्रचलित सामान्य विधि-निषेधों तक सीमित कर दिया जाता है, तथा कलाकृति को उस सीमित कसौटी पर जाँचा परखा जाता है । अन्यथा कला तो विभिन्न समाज एवं संस्कृतियों के परस्पर विरुद्ध नैतिक मान्यताओं एवं रूढियों-परम्पराओं की जकड-पकड से मानवता को खींचकर ऊपर उठाती है । इसीलिए तो शेक्सपियर के नाटकों ने एकदम विरुद्ध समझी जाने वाली संस्कृतियों के समर्थकों का मनहरण किया है, उमर खय्याम की रूबाइयों ने विधि-निषेधों की अत्यन्त संकीर्ण सीमाओं को तोडकर भी मनुष्य का हृदय जीता है; पंचतन्त्र की कहानियों ने देश की धर्म की, संस्कृति की, भाषा की, सबकुछ की दीवाल को धूलिसात कर दिया है । ग्रीस देश की मूर्तियाँ संसार के सभी पारखियों का आदर पा सकी है, नटराज की मूर्ति ने मूर्तिपूजा के विरोधियों का भी हृदय गलाया है । ताजमहल और कोणार्क मन्दिर यद्यपि दो बिल्कुल विरुद्ध मनोभाव से उद्भूत हुए हैं, पर संसार के पारखी मात्र उन्हें देखकर मुग्ध हुए हैं । अजन्ता के

चित्रों ने धर्म के मिथ्याभिमान का आवरण आसानी से दूर करके सहृदयों का सम्मान प्राप्त किया है ।

दर्शनशास्त्र विभाग **डा. रुद्र कान्त अमर**
आर. के. कॉलेज, मधुबनी,
बिहार

टिप्पणियाँ

1. डॉ. रामविलास शर्मा : आस्था और सौन्दर्य, पृ. -84.
2. जॉन ड्युई : आर्ट एज एक्सपीरियन्स पृ. -3.
3. एम. हिरियण्णा : कला अनुभव पृ. -52.
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार प्रवाह पृ. -139.
5. एम. हिरियण्णा : कला अनुभव पृ. -53.
6. हजारी प्रसाद द्विवेदी : विचार प्रवाह पृ. -139.
7. कला अनुभव : : एम. हिरियन्ता पृ. -60.
8. सौंदर्य-मीमांसा नामक ग्रंथ में रा. भा. पाटणकर द्वारा उद्धृत, पृ. -286.
9. सौंदर्य-मीमांसा : रा. भा. पाटणकर पृ. -286.
10. आवनेर जीस : कला के वैचारिक एवं सौन्दर्यात्मक पहलू पृ. -42.
11. सौंदर्य-मीमांसा : रा. भा. पाटणकर पृ. - 311.

बाउल सम्प्रदाय

बंगाल में बाउल एकतारा बजाते हुए गीत गाते हैं। इनके गीत जनसाधारण से लेकर पन्डित-समाज में भी समान रूप से समाहृत हुआ है। रवीन्द्रनाथ ठाकूर ने सर्वप्रथम बाउल गीतों का संग्रह कर प्रवासी नामक बंगला पत्रिका में प्रकाशित किया था।[१] ध्यान-गंभीर, आत्मस्थ साधक बाउल जब उन्मीलित नेत्रों से अपने प्राणों के ईश्वर को गीत सुनाते हैं अथवा नाचते हुए गाते हैं तो लोग सहज ही आकर्षित हो जाते हैं। यह आकर्षण कितना तीव्र होता है, यह अनुभव का विषय है। बाउल के गीतों का सूर, मौलिकता और भावों की निपुणता से पूर्ण होती है। गीतों की भाषा सरल, छन्द बद्ध रचना, और भावों से गीत परिपूर्ण होते हैं। इसके साथ सूर का संयोग, संगीत का सम्मोहन सृष्टि करता है। लोक-जीवन के उपादानों से ही ये साधना की गूढ बातें करते हैं।

बाउल, बातुल शब्द का अपभ्रंश है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक का नाम अनिश्चित है। किन्तु अधिकांश बाउल इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभू को बताते हैं। बाउल अपनी साधना-प्रणाली गोपनीय रखते हैं। उनका कहना है कि अपनी साधना की बातें जहाँ-तहाँ नहीं कहूँगा। अपने आपको सदा सावधान रखना है।[२] इस सम्प्रदाय के मत के अनुसार इनके आराध्य 'राधाकृष्ण' का युगल रूप मनुष्य की देह में ही अवस्थित है, उसे अन्यत्र कहीं खोजने की आवश्यकता नहीं है। वे कहते हैं कि किससे कहूँ और कौन इसे विश्वास करेगा। यह मनुष्य में ही नित्य और चिदानन्दमय है।[३]

इस सम्प्रदाय की मुख्य साधना मानव-शरीर में अवस्थित राधाकृष्ण की युगल मूर्ति अर्थात् प्रकृति और पुरुष के प्रति प्रेमानुष्ठान है। प्रकृति और पुरुष के प्रेम से ही अलौकिक प्रेम की अनुभूति होती है। प्रकृति की (स्त्री) साधना ही इनकी मुख्य साधना है। और यह साधना-पद्धति अत्यन्त गोपनीय है। जन-साधारण इस पद्धति को नहीं समझ सकते हैं। इस साधना का परम उद्देश्य है काम भावना पर विजय प्राप्त करना। काम की शांति होने पर ही पवित्र प्रेम को अवलम्बन किया जा सकता है। इनका मानना है कि काम रहित अवस्था में साधक बाह्य ज्ञान शून्य होकर राधा-कृष्ण की लीला में लीन रहते हैं। एक बाउल-गीत इस प्रकार है-

"सेइ, मालोवासार एमनि धारा,
हते हबे ज्यान्ते - मरा ।
सेइ भाव, जाने केवल बाउल यारा,
उल थाकिते ताय मेले ना ।।
ये जन मरे मरे बॉचते पारे,
मालोवासा मिलने तारे ।
से तखन, अधर मानुष घरते पारे
रंग बदले मिलबे सोना ।।"[४]

(अर्थ - उस प्रेम की ऐसी धारा है, जिसमें जीवित ही मर जाना पडता है । इस भाव को केवल वही जानते हैं, जो बाउल हैं । उल मात्र रहने से वह नहीं मिलता है। जो जन मर-मर कर जी सकता है, प्रेम उसी को मिलेगा । वह तब, अधर मनुष्य (ब्रह्म) को धर (पकड) सकता है । रंग बदल कर उसे सोना (शुद्ध रूप में) मिलेगा ।)

बाउल मत के अनुसार मानव शरीर में मुख्य है परमात्मा या ब्रह्म । इसी ब्रह्म के साथ मनुष्य को प्रेम करना चाहिए । इससे संसार के प्रति वैराग्य और इन्द्रिय-रिपुओं पर विजय की उपलब्धि होती है । यदि ऐसा नहीं है तो जन्म वृथा है । गुरु के निर्देशानुसार कर्तव्य करके ही जीवन को सफल बनाया जा सकता है । गुरु की कृपा के बिना साधना की परम अवस्था को प्राप्त करना असंभव है । गरु ही आदर्श, उपदेशक और पथ-प्रदर्शक हैं । बाउल अपने गुरु को बडी श्रद्धा से स्मरण करते हैं-

"गुरुजी, बले दाउ गो आमारे
मधु भाखा हरि नाम, जपि की करे ।
मन आमार घरे थाके ना
से घूरे बेडाय बाहिरे ।। " -

(अर्थ - गुरुजी, मुझे आप कह दीजिए कि मैं मधु-सिकत हरि-नाम का जाप कैसे करूँ । मेरा मन घर (देह) में नहीं रहता है, वह तो सदा बाहर ही घूमता रहता है ।) मन स्वभाव से ही चंचल होता है और जगत् के रूप, रस और गंध से मतवाला होकर घूमता है । साधना के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित है । गुरु की कृपा से ही यह संभव हो सकता है । मन को भ्रमित करने के लिए माया बडी प्रबल है-

खेपा, मन टा यदि साधु हत, तबे घूचे येत ए यन्त्रणा ।
खेपा, साधु-गुरुर संग करे, पेताम कत करुणा ।

खेपा, कामिनी-कांचने मूले, गोना दिन ये गेल चले ।
एकदिन येते हबे ए सब फेले, संगे किछु जाबे ना ।।"[६]

(अर्थ - मन यदि साधु होता, तो सभी कष्ट स्वत: मिट जाते । यदि (मैं) साधु गुरु का संग करता तो कितनी करुणा प्राप्त करता । कामिनी-कांचन में भ्रमित रह गया और गिनती के दिन (आयु) बीत गये । एक दिन सबको त्यागकर जाना होगा और साथ में कुछ नहीं जायेगा ।)

खेपा एक उपाधि है जो किसी-किसी बाउल को मिलती है । इसका साधारण अर्थ पागल होता है । मनुष्य सृष्टि का श्रेष्ठतम प्राणि है, किन्तु अन्य प्राणियों से वह किस अर्थ में भिन्न हैं? बाउल इसे जानने के लिए सबसे पहले अपने आप को जानना चाहता है । मनुष्य के इस छोटे से शरीर में जीवात्मा, षड्रिपु, दस इंद्रियाँ अवस्थित हैं । नश्वर शरीर में ही अविनिश्वर ब्रह्म का निवास है, कैसे? बाउल-सम्प्रदाय इसी सत्य का अन्वेषण करता है-

खेपा रे आपन दोषे मरल जगत् ,
दोष देबे आर कारे ।
थाकते घरे मनेर मानुष,
तारे खूँजे बेडाय बाहिरे ।।
खेपा रे थाकते धरे महा औषधि
अविश्वास ताय निरवधि
ताइ दिने दिने बाडद्दे व्याधि
ओ मन, कुपथ्येर जोरे ।।"[७]

(अर्थ - अपने ही दोष से जगत् मर गया । अब किसे दोष दिया जाय । घर ही में मन का मनुष्य (ब्रह्म) रहता था, उसे बाहर ही ढूँढते रह गए । घर ही में एक महाऔषधि थी । लेकिन उसके लिए निरवधि अविश्वास ही रहा । इसीलिए दिन प्रति दिन रोग बढता जाता है और मन को सदा कुपथ्य ही मिलता रहा है ।)

बाउल-मतानुसार ब्रह्मचर्य धारण करना ही जीवन है और इसकी अवमानना ही मृत्यु है । इसीलिए मन को सदा कामना और वासना से दूर ही रखना चाहिए । ब्रह्म का निवास शरीर में ही है । इसलिए योग की प्रक्रिया से उसका साक्षात्कार करना ही जीवन का एक मात्र उद्देश्य है । जो ऐसा नहीं करता है वह वृथा ही जन्म लेता है और मर जाता है । अपनी मृत्यु के लिए वह किसी को दोष भी नहीं दे सकता है । इस सम्प्रदाय का मत है- 'जाहा आछे भाण्डे, ताहा आछे ब्रह्माण्डे' । अर्थात् शरीर में जो कुछ है, वही ब्रह्मण्ड में भी है । गुरु की कृपा से साधना के द्वारा इस

का अनुभव किया जा सकता है-

"खेपा रे के ये तिनि जानते पारले, तॉर ठिकाना मेले ।
सतगुरु काछे जाने सुने, देख ना कपाट खुले ।।
देह भाण्डेते आछे ब्रह्माण्ड, आगे जानते हबे तार आद्यप्रान्त ।
खेपा, काम नदीटा हले शान्त, प्रेमेर संधान मेले ।।
आछे कुंडलिनी मूलाधारे, ताँके जागाओ आगे सा धन जोरे ।
एबार जेते होबे सहस्त्रारे, तोमार गुरुर कृपा बले ।।"[८]

(अर्थ - वह (ईश्वर, कौन है? इतना जानते ही उसका पूरा पता मिल जाता है। सत्गुरु से सुनकर, जानकर, देखो ना कपाट (हृदय के) खोलकर । देह रूपी भाण्ड में ही ब्रह्माण्ड है । इसे जानने के लिए साधना का आद्य और प्रान्त पहले जानना होगा। काम नदी के शांत होतें ही, प्रेम (भक्ति) का संधान मिलता है । मूलाधार में कुण्डलिनी है, उसे साधना के बल से जगाना होगा । उसके बाद (योग प्रक्रिया द्वारा) सहस्त्रार में प्रवेश करना होगा, अपने गुरु की कृपा के बल से । बाउल-सम्प्रदाय के अंतर्गत 'चार चन्द्रभेद' नामक एक क्रिया है जो जनसाधारण की दृष्टि में अत्यन्त बीभत्स है, किन्तु बाउल इसे अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं । इनके अनुसार चार चन्द्र अर्थात् शोणित, शुक्र, मल, मूत्र इन चार उत्सर्जित पदार्थों को वे परित्याग नहीं करके पुनः शरीर में धारण कर लेना अपना कर्तव्य समझते हैं । यह भी सुना जाता है कि ये शव के वस्त्रों को संग्रह करके अपना परिधान निर्मित करते हैं ।[९] लोक-समाज में बाउल लोकाचार करते हैं और गुरु के पास एकाचार- लोक मध्ये लोकाचार / सदगुरु मध्ये एकाचार । साधारणतः बाउल मूर्तिपूजा अथवा उपवास आदि नहीं करते हैं, किन्तु कुछ अखाडेवाले बाउल विग्रह की स्थापना करते हैं, जो बाउल-मत से निन्दनीय है । बाउल रोगी को औषधि भी देते हैं । इनका कहना है कि ये हरिताल और पारद आदि को भस्म करके एक अद्‌भुत औषधि का निर्माण करना जानते हैं । इस सम्प्रदाय की पुस्तकों ब्रज उपासना-तत्त्व, नायिका सिद्धि, रागमयी कला और तोषिनी इत्यादि ग्रंथों से बाउल-मत पर यथेष्ट प्रकाश पडता है।[१०]

बाउल एक गाऊन जैसा ढीला वस्त्र पहनता है जिसे 'आलखेल्ला' कहते हैं। यह साधारणतः गेरुआ रंग का होता है अथवा अनेक छोटे-छोटे, अनेक रंगों के कपडों को जोडकर (सिलाई कर) बनाया जाता है । ये अपने सिर पर उँचा करके अपने केशों से एक घमिल्ल बना लेते हैं । ललाट पर तिलक धारण करते हैं और स्फटिक, मूंगा, कमल का बीज अथवा रुद्राक्ष से निर्मित माला धारण करते हैं । कुछ बाउल लम्बी दाढी भी रखंते हैं । ये परस्पर दण्डवत करके अभिवादन करते हैं ।

लोक-गीत के सूर का एक अलग ही सम्मोहन है । इसीलिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर इनके गीतों से बहुत प्रभावित हुए थे । उन्होंने कहा है- "आमार अनेक गाने अमि बाउलेर सुर ग्रहण करछि एवं अनेक गाने अन्य रागिनीर संगे आमार ज्ञात वा अज्ञात सारे बाउल सुरेर मिल घटे छे ।"[११] (मेरे अनेक गीतों में मैंने बाउल का सूर ग्रहण किया है एवं अनेक गीतों में अन्य रागिनी के साथ मेरे ज्ञात वा अज्ञात रूप से बाउल के सूर का सादृश हो गया है ।) रवीन्द्रनाथ बाउल-दर्शन से भी प्रभावित हुए थे । रवीन्द्रनाथ ने लिखा है- "उपनिषदे आबार सेइ कथाय आपन भाषाय बलछे निरक्षर अशास्त्रज्ञ बाउल । से आपन देवता के जाने आपनार मध्ये ताके बले मनेर मानुष। बले, "मनेर मानुष मनेर मॉझे कर अन्वेषण ।"[१२] (उपनिषद की उसी बात को अपनी भाषा में निरक्षर अशास्त्रज्ञ बाउल कहते हैं । वह अपने देवता को जानता है अपने में ही, उसे कहता है मन का मनुष्य । कहता है- मन के मनुष्य को मन में ही अन्वेषण करो ।) रवीन्द्रनाथ ने अपने काव्य के 'जीवन देवता' की प्रेरणा इसी 'मनेर मानुष' से ग्रहण की थी । अपने प्रसिद्ध हिवार्ट भाषण में लेगुन में उन्होंने कहा था-

"I felt that I had found my relegion at last, the relegion of man, in which the infinite became defined in humanity and came close to me so as to need my love and co-operation. This idea of mine found at a later date its expression in scene of my poems addressed to what I called Jivandevata, the lord of my life."[१३]

बाउल गीतों में मुख्य विषय आत्म-ज्ञान, संसार की वास्तविक स्थिति, माया, एवं जीव के वास्तविक कर्म इत्यादि हैं । गुरु की महिमा और साधना की रहस्यमयी स्थिति का वर्णन भी है । लोक-भाषा, लोक-वाद्य और लोक गीत के सूर के कारण बाउल सहज ही आकर्षण का केन्द्र बन जाते हैं ये किसी शास्त्र को आधार नहीं मानते क्योंकि ये अशास्त्रज्ञ और निरक्षर होते हैं । ये सद्‌गुरु की कृपा से इतना ही जानते हैं कि मनुष्य ही सबसे बडा सत्य है, उससे बढकर और कोई सत्य नहीं है। यह मनुष्य मानव के शरीर में ही अवस्थित है । इसे पाने का साधन प्रेम है ।

रूपकमल चौधरी
१९, एण्ड्रूज पल्ली
विश्वभारती, शांतिनिकेतन,
प. बंगाल-७३१२३५

टिप्पणियाँ

१. लालन साहित्य ओ दर्शन, पृ. ७४
२. भारतीय उपासक सम्प्रदाय, पृ. २३१
३. वही, पृ. २३२

४. बाउल प्रेमिक, पृ. ४१
५. वही, पृ. ६०
६. वही, पृ. ३२
७. वही, पृ. ४०
८. वही, पृ. ५८
९. भारतीय उपासक सम्प्रदाय पृ. २३२
१०. वही, पृ. २३३
११. लालन साहित्य ओ दर्शन, पृ. ७५
१२. वही, पृ. ७८
१३. वही, पृ. २३०

संदर्भ-ग्रंथ :- (बंगला)

१. लालन साहित्य ओ दर्शन - संपादक खोन्दकार रियाजुत्य हक, मुक्तिधारा, स्वाधीन बांग्ला साहित्य परिषद, ढाका, बांग्लादेश ।
२. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय- अक्षय कुमार दत्त करुणा प्रकाशनी, कलकत्ता-१
३. बाउल प्रेमिक- सनातन बाउल प्यापिराय, २ गणेन्द्र मित्र लेन, कलकत्ता -४

ग्रन्थ-समीक्षा

- १-

साहित्य और साहित्येतर : संवाद सूत्र, सिंह, वीरेन्द्र, रचना प्रकाशन, जयपूर, १९९९, पृ. २८५, मूल्य रु. ३००/-

अपनी नवीनतम (१९ वीं) पुस्तक "साहित्य और साहित्येतर : संवाद सूत्र" के विषय में डॉ. वीरेन्द्र सिंह लिखते हैं "इन निबंधों का परिदृश्य आदि-मध्यकाल साहित्य से लेकर समकालीन समय तक का है जिसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार के साहित्य को शामिल किया गया है और इसमें आलोचना, कथा साहित्य तथा कविता को इस प्रकार विवेचित और मूल्यांकित करने का प्रयत्न किया गया है कि जिससे अंत: अनुशासनीय अभिगम की सार्थकता को सृजन कार्य में आवश्यकतानुसार निर्धारित या 'लोकेट' किया जा सके ।" जैसाकि उन्होंने आरम्भ में ही स्पष्ट किया है, वे अंत: अनुशासनीय अभिगम को आलोचना के क्षेत्र में सार्थक रूप प्रस्तुत करने में पिछले पच्चीस वर्षों से लगे हैं । यह सन्तोष की बात है कि उन्हें यह लगता है कि अब उस अभिगम की सार्थकता को स्थान मिलने लगा है ।

अन्त: अनुशासनीय आलोचना के रूप को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, 'अन्त: अनुशासनीय आलोचना आस्वादन पर आधारित संवेदना और ज्ञानात्मक प्रक्रिया का एक ऐसा जैविक रूप है जो पूर्वाग्रहों से बचता हुआ चीजों और वस्तुओं की सही स्थिति पर बल देता है और किसी भी विचार, सिद्धान्त को पूर्वाग्रह के आधार पर नकारता नहीं है ।'(पृ.१) उनका मानना है कि विचार साहित्य रचना के बहु अर्थ सन्दर्भों को प्रकट करता है और फलस्वरूप कृति के सौन्दर्य की एक व्यापक झलक प्रदान करता है । विचार-साहित्य में अनेक दृष्टियाँ मिलती हैं जिनमें बहस भी होती है और संवाद की संभावना रहती है । वीरेन्द्र सिंह मानते हैं कि सत्य तथा यथार्थ को देखने की अनेक दृष्टियाँ होती हैं । उन्हें पहचानना, सार्थकता देना, तथा उनके आलोक में रचना को देखना, रचना के समृद्ध पक्षों को उजागर करना है और इसलिए अन्त: अनुशासनीय दृष्टि आलोचक के कार्य की एक आवश्यकता बनी रहती है ।

वीरेन्द्र सिंह का अन्त: अनुशासनीय आलोचना पर बल देना विभिन्न विरोधी आलोचना सम्बन्धी विचार दृष्टियों की द्वन्द्वात्मक स्थिति से निकलकर एक संवाद की स्थिति को तलाश करना है। विभिन्न दृष्टियों से निर्दिष्ट आलोचनाएँ विभिन्न अनुशासनों से प्रभावित या प्रेरित होती हैं। "जैसे मार्क्सवाद आलोचना मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित है, शैली तात्त्विक और संरचनावादी समीक्षाएँ भाषाशास्त्र और भाषा दर्शन से संबंधित हैं तथा समाजशास्त्रीय आलोचना समाजशास्त्र और नेतृत्वशास्त्र से प्रभावित है ...... (पृ. ४) इसी तरह मिथकीय आलोचना ऐतिहासिक और मनस्तात्त्विक सन्दर्भों की ओर संकेत करती है। हमारा युग विज्ञान और प्रौद्योगिकी से व्यापक रूप में प्रभावित है। विज्ञान के कुछ मूल प्रत्यय- दिक्काल, ऊर्जा, अणु, गति, कार्य कारण, कही न कहीं सोच को प्रभावित करते हैं। रचनाकार भी उन से अछूता नहीं रहता। दूसरी ओर मार्क्स के अतिरिक्त फ्रॉयड तथा डार्विन ने भी युग चेतना को महत्त्वपूर्ण रूप में प्रभावित किया है। ज्ञान के इस व्यापक क्षितिज के अतिरिक्त वे सरोकार भी हैं जो हमारी सामाजिक, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक स्थिति से सम्बद्ध हैं और जो रचनाकार को अनिवार्य रूप में प्रेरित करते हैं। स्पष्ट है कि वीरेन्द्र सिंह जब अन्त: अनुशासनीय सन्दर्भ को आलोचक के लिए एक आवश्यक पृष्ठ भूमि के रूप में देख रहे हैं, तब उनके ध्यान में चेतना का उपर्युक्त व्यापक क्षितिज हैं। यहाँ कुछ भ्रान्तियों से बचना आवश्यक है। अन्त: अनुशासनीय अभिगम वह माँग नहीं करता कि रचनाकार रचना करने के पूर्व, अथवा आलोचक आलोचना के पूर्व विभिन्न अनुशासनों में निष्णात हो। स्पष्ट है कि यह असंभव नहीं लेकिनं अव्यावहारिक और दुष्कर है।

वीरेन्द्र सिंह विज्ञान बोध से कुछ अधिक प्रभावित हैं। यदि यह कहा जाये कि अन्त: अनुशासनीय अभिगम में उनकी रुचि उनके विज्ञान बोध का परिणाम है, तो शायद बहुत गलत नहीं होगा। एक ओर वे इस बात पर बल देते हैं कि आलोचक की दृष्टि पूर्वाग्रहों से मुक्त होनी चाहिए तथा विभिन्न विचारधाराओं से उसे निस्संग रूप में गुजरना चाहिए, तो दूसरी ओर आलोचक धर्म को वे सत्यान्वेषण अथवा यथार्थ के अनुसन्धान के रूप में ही देखते हैं।

वैज्ञानिक प्रभाव में विभिन्न रचनाओं को उद्धृत करते हुए उन्होंने वैज्ञानिक प्रभाव के विविध प्रकारों की ओर संकेत किया है। डॉ. उपाध्याय की कविता ' मैं और मैं, में तथा बलदेव वंशी की कविता 'कहीं कोई अवाज नहीं, में आणविक सन्दर्भ से लिए गए रूपाकर, नरेन्द्र पुण्डरीक की कविता ' सकट' में औद्योगिकी को लेकर आशंका, वि. ना. उपाध्याय की कविता 'शीतलहर' में शल्य-क्रिया के उस

सीमान्त का उल्लेख जहाँ अवयवी का अस्तित्व ही संकट में पड जाता है । वैज्ञानिक कथा साधारणतया वैज्ञानिक जानकारी पर आश्रित होती है, और काल्पनिक उडान के पुट से भविष्य की संभावनाओं को उकेरने का काम करती हैं । कुछ रचनाकार वैज्ञानिक रूपक में किसी परिदृश्य तथा घटना क्रम को समेटने का प्रयास भी करते हैं । वीरेन्द्र सिंह इन प्रवृत्तियों के संकेत के रूप में धनराज चौधरी के "तथापि", भगवतशरण चतुर्वेदी के "हिमर्शल," शंकर के उपन्यास "आदमी और कीडे" तथा कार्लिकर के कथा साहित्य का उल्लेख करते हैं । कुल मिलाकर उनके साथ यह कहा जा सकता है कि 'रचनाकार जिस रूप में इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र तथा राजनीति की ओर आकृष्ट होता है, उतनी विज्ञान की ओर नहीं । (पृ.१६५) शायद यही कारण है कि हिन्दी में वैज्ञानिक कथा या साइन्स फिक्शन का वह प्रबल प्रवाह नहीं हैं जो अन्यत्र पाया जाता है ।

एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु जो वीरेन्द्र सिंह के विचारों को एक व्यापक धरातल देता है, तथा जिसके प्रति वह सचेत हैं और जिसकी अभिव्यक्ति वे यत्र तत्र करते हैं, उनका यह मानना है कि चाहे बिम्ब या रूपाकार की बात हो या रूपवाद या रोमानियत की, विचारधारा की बात हो या मिथक की, लोक की बात हो या जन की, इन अवधारणाओं में तथा तद्रूप स्थितियों में बदलाव आते रहे हैं जिनमें वे द्वन्द्वात्मकता (जिसमें वे प्रतिवाद और संवाद, दोनों को शामिल करते हैं ।) को देखते हैं । इस बदलाव को ध्यान में नहीं रखना, अवधारणाओं के रूप को स्थिर और अन्तिम मान बैठना भ्रान्तिजनक विवादों में पडना है ।

एक बात तो आधारभूत महत्त्व की है । सामाजिक सरोकार भी यदि व्यक्ति की निजी अनुभूति से अछूते रहते हैं, तो उनसे प्रेरित रचना में सच्चाई कम और नारेबाजी अधिक होने की संभावना रहती है । यह भी ध्यान देने की बात है कि कुशल ओर समर्थ रचनाकार एक अवसरवादी रचनाकार भी हो सकता है । उस अवस्था में मात्र रचना से न तो अनुभूति की प्रामाणिकता का पता चल सकेगा और न ही माननीय सरोकार की सच्ची अभिव्यक्ति का । यह तथ्य केवल रचना पर आधारित आलोचना को भ्रान्त दिशा भीं दे सकती है । इतना सब होने पर भी रचना की यह प्रकृति है कि वह रचनाकार से स्वतन्त्र रूप ग्रहण कर लेती है, और अपनी समीक्षा के लिए स्वतन्त्र मानदण्ड की माँग करती है ।

वीरेन्द्र सिंह अपनी इस पुस्तक में अनेक कवियों तथा कथाकारों की रचनाओं के सन्दर्भ को लेकर अन्त: अनुशासनीय अभिगम को अपनाते हुए उन प्रवृत्तियों पर ध्यान दिलाते हैं जो रचना को साहित्येतर अन्य अनुशासनों से जोडती है । इन में

इतिहास, पुरातत्त्व, चित्रकला, संगीत, रसायन, विज्ञान, भौतिकी, राजनीति, समाजशास्त्र, नृतत्त्व-शास्त्र, मनोविज्ञान, मध्यकालीन तान्त्रिक और सन्त परम्परा को लिया गया हैं। इन विभिन्न सन्दर्भो में रचना की अर्थवत्ता को एकाधिक आयाम खुलते हैं ।

पुस्तक में संकलित लेखों में अनेक पहले ही साहित्य जगत् की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं । यदि ऐसे पूर्व प्रकाशित लेखों की तिथियाँ दी जातीं तो वैचारिक क्रम को सामायिक क्रम से जोडने में सुविधा होती । मुद्रण यदि अशुद्धियों से मुक्त होता तथा टाईप और गैटअप पर अधिक ध्यान दिया गया होता तो पुस्तक उतनी ही आकर्षक दिखती जितनी उसमें अभिव्यक्त विचार ।

१०/५५८ कावेरी पथ,
मानसरोवर, जयपुर-३०२०२०

डा. राजेन्द्र स्वरूप भटनागर

- २ -

गोस्वामी श्याम मनोहर (सं), श्री बालकृष्ण - ग्रंथावली, श्री वल्लभ विद्यापीठ - श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण आ. हो. ट्रस्ट, कोल्हापूर, (महाराष्ट्र), १९९७, पृ. ३०७, मूल्य - निःशुल्क वितरणार्थ ।

संस्कृत भाषा में लिखे इस ग्रंथ के तीन प्रमुख प्रकरण हैं - प्रमेयरत्नार्णव, निर्णयार्णव तथा सेवाकौमुदी । परिशिष्ट में कुछ अंश हैं । दर्शनशास्त्र के मूलभूत प्रश्नों की चर्चा इस के पहले प्रकरण में विशेषरूप से मिलती है जहाँ प्रपंच का स्वरूप, जगत् का स्वरूप, जगत् और मनुष्य का संबंध, ब्रह्म या जगन्नियंता का स्वरूप आदि का विवेचन है ।

यह ग्रंथ वाल्लभ संप्रदाय का है । वल्लभ संप्रदाय शुद्धाद्वैत नाम से जाना जाता है जिस का मतलब है कि उन का सिद्धांत शंकराचार्य जैसा माया-शबलित नहीं है। प्रस्तुत ग्रंथ की रचना बालकृष्णभट्ट लालूभट्टजी ने की है । अपने प्रथम प्रकरण में प्रपंचस्वरूप का विवेचन करते हुए वे अपने सिद्धांतों की पुष्टि के लिए विना संकोच विद्यारण्य की 'पञ्चदशी' से उद्धरण देते हैं । (पृ. ९-११) इतना ही नहीं, बल्कि आगे चलकर वे बताते हैं कि असुर मायावादी होते हैं इस भगवद् वचन के पुष्ट्यर्थ एवं शंकराचार्य ने श्लिष्ट पदों का प्रयोग किया है, वरना उन की इच्छा वैसी नहीं थी। (पृ. ११) इस प्रकार वे शंकराचार्य की सराहना भी करते हैं । शंकराचार्य देहाध्यास,

इंद्रियाध्यास, प्राणाध्यास और अंत:करणाध्यास इन चार अध्यासों को मानते हैं । लालूभट्टजी इस में स्वरूपविस्मृति नामक पाँचवें अध्यास को मिलाकर उसे अविद्या पंचपर्व कहते हैं । (पृ.१५) आपातत: यह बात गहन प्रतीत होती है । लेकिन अगर बारीकी से देखा जाए तो स्पष्ट है कि स्वरूपविस्मृति तो अध्यास का मूलाधार ही है । उसी कारण देह, इंद्रिय, प्राण, अंत:करण ये चारों आत्मा पर अध्यस्त होते हैं ।

आगे चलकर शंकराचार्य के प्रति धारणा में परिवर्तन दिखाई देता है । अनिर्वचनीयख्याति वादविमर्श के विवेचन में बालकृष्णभट्टजी कहते हैं कि यदि मायाविरचित पदार्थ माया से नष्ट होता है इस सिद्धांत को स्वीकारने से प्रपंच भी मायाघटित होने के कारण मायाद्वारा ही नष्ट होना चाहिए । फिर ज्ञानप्रयास एवं वेदांतशास्त्र व्यर्थ हो जाएँगे । (पृ. ८५) यह विधान काफी विपर्यस्त मालूम होता है। क्योंकि न तो शंकराचार्य माया से माया का नाश मानते हैं न उन की परंपरा ।

आगे चलकर मायावाद का खंडन किया है । (पृ. १७४-७५) उसे पढकर ऐसा लगता है कि इस सिद्धांत को येन केन प्रकारेण गलत साबित करने की ठान ली हो । जिन मद्दों को शंकराचार्य ने उठाया नहीं है उन्हीं को लेकर मायावाद का खंडन किया है । इस तरह आरंभ में बालकृष्णभट्ट शंकराचार्य की प्रशंसा जरूर करते हैं और बाद में स्वसंप्रदाय के अनुसार शंकराचार्य के मतों का यथा संभव खंडन भी कर लेते हैं ।

बालकृष्णभट्ट की व्याकरणशास्त्र की विद्वत्ता कई जगहों पर स्पष्ट होती है । (पृ. १२०,१३६,१६५ इ.) वाल्लभ संप्रदाय की दृष्टि से देखा जाए तो यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुआ है । सभी दर्शनों के अध्येताओं के लिए यह ग्रंथ उपयोगी साबित होगा ।

– ३ –

गोस्वामी श्याम मनोहर एवं असित शाह (सं), श्रीमद् वल्लभाचार्य विरचिता सुबोधिनी, श्री वल्लभ विद्यापीठ – श्री विठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट, कोल्हापूर (महाराष्ट्र), १९९६, पृ. १६६+१०+५८३, मूल्य – दिया नहीं ।

भारतीय दर्शन के दायरे में अनेकों आचार्यों के योगदान महत्त्वपूर्ण रह चुके हैं। ज्ञान और भक्ति इन दोनों विधाओं में समृद्ध योगदान हुए हैं । ज्ञान के संदर्भ में शंकराचार्य तो अलंघनीय हैं । उसी तरह भक्ति के विषय में वल्लभाचार्य का स्थान

काफी ऊँचा और अचल है । प्रस्तुत ग्रंथ उन की महत्ता का ठोस सबूत है। श्रीमद् भागवत के दशमस्कंध का तामस फल नामक प्रकरण इस ग्रंथ में प्रकाशित किया है। इस से विशेष कर के रासलीला के संदर्भ में वाल्लभ दृष्टिकोन समझा जाता है । रासलीला का दार्शनिक विवेचन वल्लभाचार्य ने दिया है । वल्लभाचार्य भक्तिसंप्रदाय के अहम् अधिकारी होने के नाते उन का दृष्टिकोन विशेष महत्त्व रखता है ।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना अच्छे ढंग से की है । इस का पहला भाग प्रस्तावना है जो विस्तृत एवं गंभीर है । ग्रंथ में वर्णित लीलाओं का औपनिषदिक संदर्भ देकर उस का विवेचन किया है । श्रीमद् भागवत एक पुराण होते हुए भी उस का मूलाधार उपनिषद् है इस बात को अच्छी तरह से समझाया है । फलाध्याय नाम से जानेवाले ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय के सूत्रों का तौलनिक अध्ययन भी प्रस्तावना का विषय है। उस में शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, भास्कराचार्य, मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य तथा वल्लभाचार्य के मतों का ऊहापोह है । साथ में श्रीपतिभगवत्पादाचार्य और विज्ञानभिक्षु जैसे महत्त्वपूर्ण लेकिन प्रायः दुर्लक्षित आचार्यों के मतों का भी समालोचन प्रस्तुत है ।

मुख्य ग्रंथ में श्रीमद्भागवत् के दशमस्कंधांतर्गत पञ्चम तामसफल प्रकरण में आये श्लोक, उन पर वल्लभाचार्य का भाष्य इस को मूल में रख कर साथ टिप्पणी, प्रकाश, लेख, योजना ये चारों टीकाएँ समाविष्ट हैं । शब्दरचना और उस से निर्मित वातावरण के लिए रासलीला महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत ग्रंथ में वल्लभाचार्य ने उस का पुष्टिमार्ग के दृष्टिकोण से विशेष गहन रूप में प्रतिपादन किया है । निज आप्त, पति, पुत्र आदि सब को छोडकर श्रीकृष्ण के पास आनेवाली गोपियों में वैषयिक भाव के बजाय आत्मानंद की इच्छा ही प्रबल थी । इसका विवेचन करते हुए वल्लभाचार्य एक मार्के की बात बता देते हैं कि गोपियाँ शास्त्र से भगवदीय नहीं थीं बल्कि स्वभाव से ही वे भगवान की हो गयी थीं । (पृ.८४)

तामसफल प्रकरण में रासक्रीडा पर कुल मिलाकर सात अध्याय हैं । उस के उपरान्त कुछ चुनी हुई कारिकाओं पर स्वतंत्र लेख हैं, आद्य संपादकों की प्रस्तावना भी है और अंत में गुजराती में भी प्रस्तावना है । प्रस्तुत ग्रंथ वल्लभाचार्य के दर्शन को प्रस्तुत नहीं करता । फिर भी उस में एक महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत विषय को प्रकाशित किया है जो इस ग्रंथ का मूल्य है । भक्ति विचार के अध्येताओं के लिए यह ग्रंथ एक महत्त्वपूर्ण मदद होगी ।

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय
पुणे ४११०३०

डॉ. कांचन मांडे

★